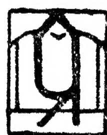
आधुनिक हिन्दी कविता

की

स्वच्छन्द धारा

डॉ० त्रिभुवन सिंह

•



हिन्दी प्रचारक संस्थान

वाराणसी–२२१००१

प्रकाशक
विजय प्रकाश बेरी
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो० बॉ० नं० १०६, पिशाचमोचन
वाराणसी–२२१००१

•

प्रथम संस्करण : ११००
१९५६
द्वितीय संस्करण : २१००
१९६१
तृतीय संस्करण : ११००
१९७७

मूल्य : १५·००

•

मुद्रक
हिमालय प्रेस
के० ५८/१०३, बडा गणेश,
लोहटिया, वाराणसी-२२१००१

गुरुवर

स्वर्गीय डॉ० श्रीकृष्णलाल

को

पुण्य स्मृति में

त्रिभुवन सिंह

काव्य-कला नियति के नियम से परे है, जिसकी लपेट में नियति भी पड़ी रहती है। कविता समाधान की वह वाणी है, जो कवि की गहन मौन अनुभूति को मुखर करती है। जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूत अभिव्यक्ति ही कविता है।

अपनी ओर से

कहने को तो यह पुस्तक का तीसरा सशोधित सस्करण है पर इसमें इतना सशोधन और परिवर्धन हो गया है कि इसे पिछले सस्करणों के क्रम मे पहचान पाना कठिन है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो की विवेचना प्रस्तुत पुस्तक मे की गयी है। इसके अतिरिक्त इसमे यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि अन्य समकालीन साहित्यिक भाव-धाराओं का मेल इससे किस सीमा तक खाता है। यही कारण है कि अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की भी सैद्धान्तिक विवेचना प्रस्तुत पुस्तक मे करनी पडी है। इस पुस्तक के लिखने की मूल प्रेरणा मुझे छायावाद के सम्बन्ध मे फैले भ्रम से ही मिली है। भ्रम निवारण मे यदि प्रस्तुत पुस्तक कुछ सहायक हो सकी तो मै अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

स्वच्छन्द काव्य-धारा पर पडे प्रभावो को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच मे यथासभव प्रतिनिधि रचनाओ को तो मैने उद्धृत किया ही है, साथ ही साथ प्रत्येक उत्थान के प्रतिनिधि कवियो की स्वतंत्र व्याख्या भी कर दी है जिससे कि सभी पाठक पुस्तक के अभिप्रेत तक बेरोक-टोक पहुँच सकें। पुस्तक के आकार को देखते हुए मैने प्रतिनिधि कवियों को ही चुना है जिससे यदि अन्य महत्वपूर्ण कवि छूट गये हों तो उसके लिए मै उन कवियो और समीक्षकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

प्रस्तुत पुस्तक मेरी बात अपने आप कहेगी जिससे मै इसके सम्बन्ध मे कोई लम्बा चौडा वक्तव्य नही देना चाहता पर इतना अवश्य कहूँगा कि हिन्दी जगत् के सहृदय पाठको का मै हृदय से आभारी हूँ जिन्होने कि इस पुस्तक के पिछले सस्करणो का अत्यधिक स्वागत कर मेरे उत्साह का वर्धन किया है। इस संस्करण के आलोक में विद्वान् पाठक यदि कोई सुझाव भेज सके तो मै उनका हृदय के आभार मानूँगा।

दुर्गाकुंड
मकर संक्रान्ति
१४ जनवरी १९७७ ई०

त्रिभुवन सिंह

अनुक्रम

आधुनिक हिन्दी कविता

की

स्वच्छन्द धारा

स्थापना

आरंभ मे ही मैं इसे स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा' मे प्रयुक्त 'आधुनिक हिन्दी कविता' का 'आधुनिक' विशेषण अत्यन्त व्यापक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन क्रम मे 'आधुनिक' शब्द अब विवाद का विषय बन चुका है और अधिकाश हिन्दी साहित्य के इतिहासो मे आधुनिक शब्द का गृहीत अर्थ अब अपनी अर्थवत्ता समाप्त कर चुका है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन-क्रम मे जो आधुनिक शब्द सन् १८५० ई० के बाद लिखे गये अब तक के साहित्य के लिए प्रयुक्त होता रहा, अब उसे मानने के लिए किसी भी जागरूक पाठक को विवश नही किया जा सकता। आधुनिक काल के पुनर्विभाजन की बात अब प्राय सभी विद्वान करने लगे है और 'आधुनिक' शब्द को इतिहास के क्रम मे नया अर्थ देने के लिए लोग प्रयत्नशील है;[१] सन् १९४७ ई० अथवा सन् १९५० ई० से आधुनिक काल के आरभ के औचित्य को अधिकाश लोग स्वीकार कर चुके है। ये तिथियाँ ऐसी है जो भारतीय सामाजिक, सास्कृतिक, राष्ट्रीय एव राजनैतिक जीवन मे आए महान् परिवर्तनों की सूचना देती है। पराधीन भारत को स्वतत्रता मिली और उसे गणराज्य के रूप मे विश्व-पटल पर प्रकट होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सारे जीवन मूल्य बदले और हिन्दी साहित्य मे उन परिवर्तनो को व्यापक रूप मे स्वीकृति मिली, कविता जिसका महत्व पूर्ण अग है। अत हिन्दी कविता के सदर्भ मे भी आधुनिक शब्द का प्रयोग आधुनिक भारत (स्वतत्र भारत) मे लिखी गयी कविताओ के लिए ही समीचीन है, पर 'स्वच्छन्द धारा' को स्पष्ट करने के क्रम मे मैं अपने को इस सीमा मे नही बाँध पाया हूँ। आधुनिक शब्द का प्रयोग इस पुस्तक मे मैंने उस काव्य धारा के लिये किया है जिसने परम्परा से

१. हिन्दी साहित्य . एक परिचय, द्वि० स०—डा० त्रिभुवन सिंह (विस्तृत विवरण के लिए देखिए।)

चली आ रही काव्य-भाषा, काव्य-शिल्प और विषय-बोध को नकार दिया है। काल के जिस बिंदु पर आकर ब्रज भाषा की लोकप्रियता घटी और उसका स्थान खडी बोली ने लिया वहीं से आधुनिक हिंदी कविता का आरम्भ मानना चाहिए। ध्यान रहे कि आधुनिक कविता का आरम्भ और आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भ को एक साथ रखने की आवश्यकता नही है। ये दोनों दो चीजे है, इन्हे मिलाने का प्रयत्न समझदारी को ढंकने का प्रयत्न होगा। कालविभाजन के क्रम मे उपर्युक्त तर्क का समर्थन मै कदापि नहीं कर सकता। रीतिकालीन मरणोन्मुखी परिवेश से मुक्त जिस काव्य धारा को मै आधुनिक काव्य धारा के रूप मे प्रस्तुत पुस्तक मे रखना चाहता हूँ उसका एक विशेष सन्दर्भ है जिसके माध्यम से ही हिन्दी कविता की स्वच्छन्दधारा को समझा जा सकता है। इस सदर्भ मे प्रयुक्त आधुनिक हिन्दी कविता से तात्पर्य उस कविता से है, खडी बोली जिसके माध्यम की भाषा है। नवीन छन्दों एव प्रवृत्तियो की लोक प्रियता, विदेशी साहित्य का किंचित प्रभाव, गीत-प्रगीत की बहुलता, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और अस्तित्ववाद जैसी प्रवृत्तियो की स्वीकृति जिसकी सामान्य विशेषता है। मुक्तक छन्दों का प्रयोग आधुनिक कविता की सबसे बडी पहिचान है। वैयक्तिकता की भावना और बैद्धिकता के प्रति निरन्तर बढती प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी कविता को मध्य कालीन अथवा उसके प्रभाव मे लिखी जानेवाली हिन्दी कविता से पृथक करती है। आधुनिक हिन्दी कविता की उपर्युक्त विविधताओ मे एकता के सूत्र की तलाश ही 'आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा' का प्रतिपाद्य है।

इस ग्रन्थ द्वारा मैंने मुख्यत: यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन ने हिन्दी कविता की सृष्टि मे किस सीमा तक योगदान दिया है। आधुनिक युग की एक विशाल साहित्य-परम्परा से हिन्दी जगत 'छायावाद' नाम से परिचित है। विगत वर्षों मे इस भावधारा को लेकर लिखे जाने वाले आलोचनात्मक ग्रन्थो की संख्या इतनी अधिक रही है कि उस अनुपात मे श्रेष्ठ रचनात्मक साहित्य-ग्रन्थो की सृष्टि नहीं हो सकी है। अधिकाश प्रकाशित आलोचनात्मक ग्रन्थ इस भावधारा की वैज्ञानिक सत्यता प्रमाणित करने मे असफल रहे है और इन ग्रन्थों के आधार पर जो सामान्य धारणायें बन गई है, यदि उन्हे कसौटी के रूप मे मान लिया जाय तो बहुत सी श्रेष्ठ रचनाओं को इससे अलग कर देना पड़ेगा जिन्हे हम छायावाद के नाम से जानते चले आ रहे हैं।

किसी भी साहित्यिक भाव-धारा को सज्ञा प्रदान करने के पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है कि नामकरण द्वारा अभिप्रेत साहित्य की मूल प्रेरणा का प्रतिनिधित्व हो पा रहा है कि नहीं। इसके अतिरिक्त यदि अतीत साहित्य की भूमिका मे उसका कहीं स्रोत मिल जाता है तो नामकरण उससे कुछ मिलता जुलता हो तो और भी अच्छा है। विचार करने पर जान पडता है कि 'छायावाद' की कोई उसकी अपनी पारम्परिक ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि नहीं है और उसके अन्दर वे सभी कविताएँ भी भरी पडी है जो 'छाया-वाद' के तथाकथित सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। सच तो यह है कि स्वच्छन्दता-वादी प्रवृत्ति के अन्दर आने वाली सभी कविताओ को हम 'छायावाद' के नाम से जानने लगे है। 'स्वच्छन्दता' एक ऐसा शब्द ही है कि जिससे नवीनता का आभास होता है, जिसमे प्राचीनता के निर्मोक का त्याग और नूतनतम आकाक्षाओ के प्रति जागरूकता का उद्बोधन निहित है। 'स्वच्छन्द-तावाद' शब्द रोमाटिसिज्म की तौल पर गढा हुआ शब्द है। रोमाटिसिज्म पाश्चात्य साहित्य मे एक विशाल विचार धारा के रूप मे व्याप्त है जो वहाँ की सामाजिक परिस्थितियो की पुकार पर उठ खडा हुआ था। यह एक सामा-जिक आन्दोलन के साथ हिन्दी साहित्य मे आया जिससे इसने व्यक्ति के सभी सामाजिक अगो को प्रभावित किया है। प्रस्तुत पुस्तक मे मैंने इसकी क्रमिक विकास-भूमि तथा इसके द्वारा लाये गये सामाजिक मूल्यो मे परिवर्तन की समुचित व्याख्या की है।

दीर्घकाल तक अंग्रेजी राज्य के शासन मे रहने के कारण उनकी सास्कृ-तिक एवं साहित्यिक रुचियो का प्रभाव भारतीय साहित्य पर भी पडा है। सर्वाधिक प्रभाव तो साहित्यिक अभिरुचियों पर इसलिए पडा कि अंग्रेजी-साहित्य का अध्ययन प्रायः अनिवार्य हो गया था। प्रभाव ग्रहण करने मे बग-देश सर्वप्रथम रहा है और प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ देर या सबेर वहाँ अग्रेजी साहित्य से छन कर गई है। ऐसा ही प्रभाव हिन्दी कविताओ ने भी ग्रहण किया है। 'छायावाद' नामक शब्द का जो प्रचलन हिन्दी साहित्य मे हुआ उसकी यथार्थता पर तो मैंने अत्यधिक बल नही दिया है किन्तु दार्शनिक-पृष्ठ-भूमि पर छायावाद की व्याख्या करनेवाले आलोचको को मैंने चुनौती अवश्य दी है। अब तक भी मुझे सदेह है कि 'छायावाद' नाम की किसी साहित्यिक भावधारा को हिन्दी साहित्य मे स्वीकार कर लेना समीचीन होगा। मैंने स्वच्छन्दतावाद को छायावाद का एक अंग नहीं बल्कि छायावाद को

स्वच्छन्दतावाद का शैलीगत एक अंग माना है। 'रोमाटिसिज्म' शब्द के लिये मैने स्वच्छन्दवाद तथा स्वच्छन्दतावाद शब्दो का प्रयोग किया है। 'रोमाटिक' शब्द का 'रोमास' तथा 'रोमाटिसिज्म' आदि शब्दो के साथ पाश्चात्य साहित्य के आधार पर ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत करने का मैने प्रयत्न किया है। जहाँ कही भी मैने हिन्दी कविताओ का प्रसग उठाया है वहाँ कभी भी मेरी प्रवृत्ति कवि-सूची उपस्थित करने की नही रही है, केवल उस युग की प्रतिनिधि रचनाओ से यदि काम चल सका है तो मैंने चलाने का प्रयत्न किया है।

मै यह दावा तो नही कर सकता कि समस्त आधुनिक काव्य की मूल-प्रेरणा शक्ति के रूप मे स्वछन्दधारा का प्रतिष्ठित कर मैने अन्य स्वीकृत काव्य-प्रवृत्तियो के साथ पूर्णत न्याय किया है, पर इतना अवश्य कह सकता हूँ कि ऐतिहासिक क्रम मे आधुनिक हिन्दी कविता को देखने का जो मैने प्रयत्न प्रस्तुत पुस्तक मे किया है, उससे समय-समय पर काव्य जगत मे परिवर्तन लाने वाली शक्तियो को स्पष्ट देख पाने मे सहायता अवश्य मिलेगी। किसी भी साहित्य की मूलवृत्ति को समझने एव उसकी आत्मा से साक्षात्कार करने के लिये जिस समझदारी की आवश्यकता होती है, उसे ऐतिहासिक दृष्टि कहते है। आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा को प्रस्तुत करने मे मैंने उसी ऐतिहासिक दृष्टि का सहारा लिया है कि जिससे आधुनिक हिन्दी कविता को समझने के लिये उस पर से विवादो के मलवे को हटाया जा सके। हिन्दी-कवियों को ठीक से समझने और समीक्षात्मक धरातल पर उन्हे प्रस्तुत करने के मार्ग मे जो सबसे बडी कठिनाई है, वह यह कि उनकी रचनाओ मे विषय, भाव एव शैलीगत वैविध्य की बहुलता है। इतना ही नहीं बल्कि एक ही कवि की एकाधिक मान्यतायें एव प्रतिपादित दर्शन के भी दर्शन उसकी रचनाओ मे मिल जाते है। यह स्थिति केवल आधुनिक कवियों की ही नहीं है, आदिकाल से लेकर आजतक की रचनाओ मे उसे सहज ही ढूँढा जा सकता है। वीर रस के कवियो ने घोर श्रृङ्गार, भक्त कवियों ने अत्यन्त लौकिक तथा श्रृङ्गारिक कवियो ने भी भक्तिपरक श्रेष्ठ रचनाये की है। छायावादी कवियो की रहस्य भावना और रहस्यवादी कवियों की छायावादी वृत्ति को अलग करके देख पाना सहज कार्य नही और कोई भी समीक्षक विश्वास के साथ नही कह सकता कि छायावादी अथवा रहस्यवादी कवियों मे प्रगतिवाद एव प्रयोगवाद के तत्व नहीं मिलते।

सामाजिक विकास के क्रम मे जिस प्रकार परिवार का कनिष्ठतम सदस्य आगे चलकर परिवार का मुखिया और समाज का नेता बनता है, उसी प्रकार काव्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम मे किसी भी युग की महत्वहीन प्रवृत्ति आगे चलकर मुख्य धारा के रूप मे प्रतिष्ठित हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उसे अलग से काटकर नही समझा जा सकता, जैसाकि प्राय: लोग करते हैं, उसे समझने के लिये तो उसके विकास-क्रम को समझना पडेगा। इसी मूल धारा को स्पष्ट करने का मैने प्रस्तुत पुस्तक मे प्रयास किया है। कुछ प्रमुख कवियो की अलग से व्याख्यात्मक चर्चा पुस्तक के अत मे इसीलिये कर दी गई है कि उनमे पाये जाने वाले वैविध्य के बीच मे निरन्तर वर्तमान उस सूत्र को देखा जा सके जो देश की मनीषा एव उसकी प्रवहमान सास्कृतिक चेतना को अतीत से लेकर वर्तमान तक जोडती रहती है। स्वच्छन्दतावादी भाव धारा द्वारा लाये गये काव्यगत मोडो की गतिविधि का इससे सहज मूल्याकन भी हो गया है। प्रमुख कवियो के अतिरिक्त अन्य कवियो की भी जो संक्षिप्त विवेचना अन्त मे की गई है, उसके मूल मे वर्तमान मेरी यही धारणा है कि इससे नवीनतम कृतियो तक स्वच्छन्द धारा के विकास-क्रम को समझा जा सकेगा। यह सभव नही था कि प्रस्तुत पुस्तक मे प्रत्येक कवि की विस्तृत समीक्षा की जाती क्योकि मै इसे इतिहास-ग्रन्थ नही बनाना चाहता था। जिन कवियो की समीक्षा इसमे नही की जा सकी है उनके प्रति भी मेरे मन मे आदर भाव है, पर मेरी अपनी और इस पुस्तक की कुछ सीमायें है, जिसके कारण ऐसा हुआ है।

स्वच्छन्द धारा

कविता किसी भी साहित्य का प्रमुख अङ्ग है। आधुनिक युग मे मानव-जीवन की समस्याएँ इतनी विषम हो गयी हैं, उनमे इतनी विविधता आ गयी है कि उनकी अभिव्यक्ति के कारण ही साहित्य के आज विविध रूप दिखाई पडते है। किसी भी देश के साहित्य के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डाले तो उसका आरम्भ कविता से ही हमे मिलेगा और आज भी अनेक साहित्य-रूपो के होते हुए भी साहित्य नाम से सहसा हम कविता का ही अर्थ लगा लेते है। किसी भी देश का साहित्य वहाँ के जीवन और जगत का जीवित इतिहास होता है। यदि हम किसी देश के सामाजिक जीवन-जगत के विषय मे ज्ञान प्राप्त करना चाहते है, तो वह हमे उस देश के साहित्य मे मिलेगा; क्योकि साहित्य मानव-विचारो एव अनुभूतियों की सचित निधि है। यदि साहित्य की व्याख्या करते समय उदारवादी दृष्टिकोण रखा जाय तो मानवजन्य ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र और काव्य सभी इसकी लपेट मे आ जाते है। इतना तो अतिम रूप से स्वीकार किया ही जा सकता है कि अधिक काल तक साहित्य और समाज एक दूसरे से अलग नही रह सकते। एक-दूसरे का अभिन्न सम्बन्ध है। इससे यह निर्विवाद है कि कविता के ऊपर भी मानव की तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो का प्रभाव पडता है। इसके साथ ही साथ कविता की कुछ स्वाभाविक दुर्बलतायें भी है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मानव-समस्याओं को जब काव्य अभिव्यक्त करने मे असमर्थ सिद्ध होने लगा तब युग की माँगो के अनुसार अनेक अन्य साहित्य-रूपों की उत्पत्ति हुई और आज हम देखते है कि गद्य साहित्य के माध्यम से ही अनेक विषम-समस्याओं के समाधान पर विचार करना सम्भव हो पा रहा है। आज के इस अत्यन्त समर्थ अंग गद्य-साहित्य के होते हुए भी जो कविता का अपना महत्व है, उसका मूल कारण है उसका आकर्षक स्वरूप तथा उसके रमाने और समस्त जीवन को अभिभूत कर देने की शक्ति।

समाज की रुचियो मे जैसे-जैसे परिवर्तन होते गये, वैसे ही कविता के स्वरूप और उसके देखने की दृष्टि मे भी परिवर्तन उपस्थित होता गया। यही कारण है कि आदिकाल मे कविता के प्रति जो दृष्टिकोण था, वह भक्ति-काल मे नही रहा तथा भक्तिकाल मे जो रहा, वह रीतिकाल मे नही रह पाया और जो रीतिकाल मे था वह आज नही रह सका। समसामयिक मान्य-ताओ के अनुसार ही तत्कालीन विद्वान् कविता की परिभाषा करते रहे हैं, किन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पडेगा कि किसी भी युग मे कविता की रचना निरुद्देश्य नही हुई है। किसी-न-किसी रूप मे हमे कविता मे उस समय का समाज झाँकता हुआ अवश्य मिलेगा। इसके विरोध मे यदि चाहे तो लोग कविवर तुलसीदास का मत उद्धत कर सकते है कि—

'कीन्हें प्राकृत जन गुन-गाना।
सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥'

इस प्रकार मानव सम्बन्धी कविता, कविता की कोटि मे ही नही आती, किन्तु बात ऐसी नही है। इस उक्ति को समझने के लिये हमे कवि और कविता की आत्मा को समझना होगा। महात्मा तुलसीदास जी ने जिस काल मे अपनी रचनाएँ की वह हिन्दी साहित्य का आदि काल नही था जिसमें कि देश की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण थी, भले ही आन्तरिक पारस्परिक कलह से उद्भूत रणचण्डी का नग्न ताण्डव वर्तमान था। न तो वह कवि ही था जो अपने आश्रयदाता की रुचि को उकसा कर सम्मान तथा अर्थ लाभ करता, और न तो वह समाज ही था कि ऐसी प्रवृत्तियो को प्रश्रय प्रदान करता, बल्कि तुलसीदासजी की रचनाएँ ऐसे युग की देन है, जिनमे देश की राजनीतिक बागडोर तुलसी की दृष्टि मे विदेशी यवनो के हाथ मे थी और भारतीय समाज सब प्रकार से परतन्त्र था। यह एक प्रकार की समस्या थी कि किस प्रकार सामाजिक मर्यादा और सस्कृति की रक्षा की जाय। किसी यवन आश्रयदाता की रुचि को अपनी रचना द्वारा उकसाने का अर्थ था, अपने ही हाथो अपनी सस्कृति और सभ्यता की जड खोदना। तुलसीदास जी ने प्राकृतजन का प्रयोग ऐसे ही व्यक्तियो के लिये किया है जिनके हाथों हम परतन्त्र थे। जब समाज मे कोई ऐसा व्यक्ति सामने रह ही नही गया था कि जिसके पीछे हम विश्वास के साथ चल सकते तो सिवाय इसके कि एक आदर्श पुरुष की कल्पना की जाती और किया ही क्या जा सकता था। तुलसीदास जी की इस उक्ति से स्पष्ट झलकता है कि उस समय देश का नेतृत्व करने-वाला समाज मे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था कि जिसकी स्तुति की जाती।

भक्तिकाल के समाप्त होते ही साहित्य मे जब दूसरा नवीन मोड आया तो उस समय तक तत्कालीन परिस्थितियो से समाज समझौता कर चुका था और यवनो की छत्र-छाया मे जो हास-विलास और धन-वैभव उसके हिस्से पड गया था, उसी मे वह परम सन्तुष्ट था। यही कारण है कि कवियो की आदिकालीन प्रवृत्ति दूसरे रूप मे पुन उठ खडी हुई जिसमे से उस समय का अकर्मण्य कामुक विलासी समाज झॉक रहा है। जिस प्रकार समाज मौलिक-आन्तरिक एव वास्तविक समस्याओ को छोडकर बाहरी तडक-भडक के पीछे पागल हो रहा था उसी प्रकार बाह्याडम्बरो से ऑखो को चौधिया देने वाली कविता को भी साहित्य की पुण्य पीठ पर प्रतिष्ठित किया गया। एकाएक कविता स्वर्ग से धरातल पर उतर आई और यह स्वीकार किया जाने लगा कि—

'यदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिन न बिराजई, कबिता बनिता मित्त॥'

(केशवदास)

परम पुरुप के स्थान से उतर कर कविता वनिता की कोटि मे आ गई जिसके लिये उस काल का सामाजिक वातावरण उत्तरदायी है। किन्तु उस समय के लोगो ने भी इसका अनुभव किया था कि कविता वही है, जिसमे रमा देने की शक्ति के साथ-साथ सर्वग्राह्यता भी हो।

'तंत्री नाद कवित्त-रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥"

(बिहारी)

इसी काल मे हमे कविता की उस धारा का सूत्र भी प्राप्त हो जाता है जिसका विकास आधुनिक काल की विभिन्न साहित्यिक धाराओ मे हुआ है। 'धनानन्द जी ने' स्पष्ट शब्दो मे स्वीकार किया है कि—

'लोग है लागि कबित्त बनावत
मोहि तौ मेरे कबित्त बनावत॥'

जिसमे स्पष्ट रूप से काव्य की शास्त्रीय रूढियो का तिरस्कार तथा गढ़कर कविता निर्माण की प्रवृत्ति की उपेक्षा का भाव निहित है। कविता अधिक दिनो तक परम्पराओ की शृङ्खला मे बन्दिनी बनकर नही रह पायी और आधुनिक युग मे वह समस्त अनुचित बन्धनो को तोड कर, युग की आवश्यकताओ तथा मॉगो से बल प्राप्त कर स्वच्छन्द रूप मे कवि के अन्त करण से फूट पडी, जिसमे श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना, महत्वाकाक्षा, वैयक्तिक सम्मान तथा युग-जागरण का सम्मोहन गान निहित है।

आज जिसमे जीवन की सम्पूर्णता की अनुभूत अभिव्यक्ति का संकेत हो, वही कविता है। भावो का वह उन्मेष जो सौन्दर्य के माध्यम से तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, साहित्य का सम्मानित पद प्राप्त करने का अधिकारी है। भावो के इस उन्मेष मे वैयक्तिक अनुभूति की वह अपार शक्ति भर गयी है जिसके प्रवाह के वेग से शास्त्रीय परम्परित पक्के घाट टूट-फूटकर बह गये है और कवि भावो की पावन काव्य-सुरसरि मानव-प्रकृति के स्वच्छन्द प्रागण मे सगर-सुत सदृश वर्तमान सामाजिक तथा राष्ट्रीय विषमताओ को पूत करने के लिये प्रवाहित हो रही है। काव्य-कला नियम से परे है जिसकी लपेट मे नियति भी पडी रहती है। कविता समाधान की वह वाणी है जो कवि की गहन मौन अनुभूति को मुखर करती है, जिसके लिये मौन अनुभूति का, जिसे चिन्तन कह सकते है, होना अनिवार्य है, क्योकि यदि मौन का स्रोत सूख जाय तो वाणी निकल ही नही सकती। तर्क काव्य कभी नही हो सकता, चाहे वह महाकाव्य ही क्यो न हो, क्योकि मर्म की वाणी ही काव्य है। कविता का जितना सम्बन्ध अनुभूति से है उतना तर्क से नही। वर्णन मे आवरण उत्सुकता बढाने का कार्य अवश्य करता है किन्तु यह ऐसा न हो कि भावो को दुर्बोध बना दे। यह आवरण ऐसा होना चाहिये जो ढका भी हो और खुला भी, क्योकि आवरण को हटाकर भावों को सुबोध बनाने के लिये कवि को सामने आना ही पड़ता है जैसा कि एक कवि ने कहा है—

> **'पद लाख पड़ा रहे तो भी अभेद**
> **के भेद को खोलना ही पड़ता है ॥**
> **छिप के उर आवरणों में मुझे भी,**
> **कभी-कभी बोलना ही पड़ता है ॥"**

इस प्रकार आधुनिक युग मे जिस कविता द्वारा मानव-समाज की विविध समस्याओ, मनुष्यो की दैनिक अनुभूतियों तथा भावी स्वर्णिम कल्पनाओ की अत्यन्त सहज एव स्वच्छन्द अभिव्यक्ति हो रही है, उसे हम स्वच्छन्द या स्वच्छन्दतावादी कविता के नाम से अभिहित कर सकते है, जो कि विभिन्न दिशाओ मे विभिन्न उद्देश्यो को लेकर आगे बढती दिखाई पडती है। इसके साथ-साथ यह स्वीकार करना ही पडेगा कि सहसा जो यह साहस हिन्दी-साहित्य को मिला है उसमे अग्रेज जाति और अग्रेजी भाषा-साहित्य का महत्त्वपूर्ण योग है।



स्वच्छन्दतावाद

रोमांस और रोमांटिक

(Romance and Romantic)

रोमाटिक सामान्य अथवा साधारण का विलोम है। स्टोडर (Stodder) का कथन है कि इस दृष्टि से इसका तात्पर्य ऐसी इच्छा के रूपान्तर से है जो सामान्य से, साधारण तुष्टि से और स्थिरता से भिन्न हो, इसके अतिरिक्त इसकी स्थिति ऐसे क्षेत्र मे हो जिसमे निराधार इच्छाओ के लिये शक्तिशाली प्रयत्न होता हो।[१]

हम कह सकते है कि जिस साहित्य-रूप की रचना उक्त विचारधारा को सामने रखकर हुई और उससे जिस साहित्यिक परम्परा का निर्माण हुआ उसे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) के नाम से अभिहित करते है। स्वच्छन्द अथवा स्वच्छन्दतावाद स्टोडर (Stodder) के अनुसार इच्छाओ का कल्पना के क्षेत्र मे अनुवाद है।[२]

रोमाटिक, शब्द के अनुरूप अर्थ नहीं रखता। यह प्रतीको का सन्देश है और औपचारिकता से नितान्त भिन्न है।

लेटरहेज (Laterhedge) महत्वाकाक्षा को ही स्वच्छन्दतावाद का मूल तत्व मानता है। उसके अनुसार रोमाटिक, वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। रोमाटिक और क्लैसिक (स्वच्छन्द और रीति) का वही सम्बन्ध है जो संगीत और प्लैस्टिक कला का होता है।[३]

---

1. "In the sense it means transference of desire away from common place, stay at home ordinary contentedness into region of rash attempt and vague longing".—Stodder
2. "Romanticism is translation from the probable into the fancy haunted regions of the longed for".
3. "Romantic is self reflecting, romantic relates to classic somewhat as music relates to plastic art".

प्लैस्टिक कला का सम्बन्ध बुद्धि से है, वह बुद्धिजन्य है और सगीत मानव भावों की स्वाभाविक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। इस प्रकार वह स्वच्छन्दतावाद को सगीत की भाँति कवि की स्वाभाविक स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मानता है।

'हरफोर्ड' ने इसे काल्पनिक अनुभूति का एक असाधारण विकास माना है।[1]

'कालरिज' (Coleridge) के अनुसार तो "रोमास के लेखकों ने कल्पना के प्रभुत्व का निर्णय पर मुलम्मा किया है।"[2]

अर्थात् रोमाटिक लेखको के साहित्यिक व्यक्तित्वो का निर्माण काल्पनिक वर्णनों के आधार पर होता है, जिन वर्णनो मे न तो तर्क एव बुद्धि का लगाव रहता है, न विचारो की एक स्थिर नियमित परम्परा मिलती है और न उनमे कोई सभावित घटना ही पाई जाती है। उसने अन्त मे यह परिणाम निकला है कि स्वच्छन्द प्रवृत्तियो के अन्दर एक प्रकार का मानसिक सन्तुलन होता है जिनके द्वारा वे साधारण अनुभव के धरातल से हवा मे चढ़ना चाहते है।[3]

इस प्रकार हम देखते है कि 'कालरिज' के विचार रोमाटिक काव्य के सम्बन्ध मे सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे। वह काव्य को कोरा आत्म-निवेदन नहीं मानता, क्योकि उसका विश्वास है कि कविता आत्मनिवेदन मात्र होकर इतनी वैयक्तिक हो जायगी कि वह सार्वजनिकता के पद से च्युत हो जायगी। वह उच्चकोटि की कविता के लिए उसकी अभिव्यक्ति का एकदम परात्मक होना अनिवार्य मानता है। जब कविता बाह्य ससार से हटकर आत्मपरक होने लगती है तो वहीं से उसके अनुसार उसका पतन आरम्भ हो जाता है। किन्तु बात ऐसी नहीं है कि स्वच्छन्दतावादी कविता का बाह्य ससार से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। स्वच्छन्दतावादी कवि अपनी वैयक्तिक काल्पनिक

---

1. "An extraordinary development of imaginative sensibility".—Herford
2- The authors of the romance have yielded to the ascendancy of imagintion over judgement.—Coleridge and his group.
3. Romances have a kind of mental balance for mounting into the air from the ground of ordinary experience."—Coleridge.

अनुभूति के माध्यम से ससार के उन अप्राप्य तथा गोप्य साधनो एव तत्वो की अभिव्यक्ति करता है जिनके सुलभ होने से मानव-जीवन के श्रेष्ठतर होने की सम्भावना रहती है। यह सत्य है कि इस ससार मे मानव की सभी इच्छाएँ पूरी नहीं होतीं, किन्तु इच्छा मात्र को समाप्त कर देने से भी कभी कोई इच्छा अपने आप पूर्ण नही हो सकती। जिज्ञासा एव कामना ही मानव-जीवन के ऐसे तत्व है जो उसके जीवन को अधिक गतिशील रखते है। मानव-जीवन को गतिशील बनाना तथा प्रेरणा प्रदान करना ही स्वच्छन्दतावादी साहित्य का मूल मन्त्र है। जहाँ तक इस पर वैयक्तिकता का आरोप है, कहीं भी कोई ऐसी कविता नही है जो सर्वमान्य हो तथा सभी के लिये रुचिकर हो, क्योकि ससार के सभी प्राणी एक ही रुचि के नही होते है। इसके अतिरिक्त वैयक्तिक तथा आत्मपरक होना ही स्वच्छन्दवादी कविता का एकमात्र गुण नही है। कवि अपनी साधना और अनुभव से निखार कर जो सबल अभिव्यक्ति करता है, वह केवल उसकी ही न रहकर सब की हो जाती है।

'फास्टर' (Foster) महोदय ने तो इसके सम्बन्ध मे यहाँ तक कह डाला है कि यह एक साहित्यिक विचारधारा कभी बन ही नहीं सकती। 'फास्टर' का निबन्ध स्वय अपने मे ही मूल्यवान है। उसकी यह विशेषता है कि न तो उसने और न तो उसके सहयोगी समकालीन लेखको ने इस विचारधारा के वास्तविक महत्व का अनुभव किया अथवा यह स्वीकार किया कि इसको भी अभिव्यक्ति कविता तथा आलोचना मे हो सकती है। 'फास्टर' के आगे आनेवाले लेखको की पीढी ने इस विचार-धारा को विचारार्थ रखा है।

'विलियम वर्ड्स्वर्थ' के साहित्यिक जीवन के दो रूप है जो एक-दूसरे से केवल भिन्न ही नहीं बल्कि परस्पर विरोधी भी है। अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ का वर्ड्स्वर्थ अन्त के वर्ड्स्वर्थ' से बिलकुल भिन्न है। उसकी समसामयिक, पारिवारिक तथा वैयक्तिक परिस्थितियाँ ही ऐसी थी जिन्होंने उसके जीवन मे इतना बडा परिवर्तन ला खडा किया। आरम्भ मे जो वर्ड्स्वर्थ 'एक महान्' क्रान्तिकारी तथा स्वच्छन्द विचारक था, वही जीवन के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते परिवर्तन का विरोधी तथा शास्त्रीय कठघरों का बन्दी हो गया। आरम्भ मे कविता के प्रति उसका जो दृष्टिकोण था उससे रोमाटिक काव्य के सम्बन्ध मे उसके मत का ज्ञान किया जा सकता है।

उसके अनुसार 'सबल भावो के वेग की स्वाभाविक उमडन ही कविता का रूप धारण कर लेती है।'[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसका यही निश्चित मत था कि कि काव्यानुभूति प्रत्यक्षानुभूति कभी नही है और न कवि का कर्त्तव्य ही प्रत्यक्षानुभूति करना है। अत॰ 'वर्ड्स्वर्थ' का कहना है कि प्रत्यक्षानुभूति की दशा मे काव्य का सृजन नही हो सकता। कविता तो सृजन है। सृजन के पीछे जो वह भावो की सबल शक्ति स्वीकार करता है वही रोमांटिक काव्य की वास्तविक प्रेरणा है। 'वर्ड्स्वर्थ' के कथन मे उतना मूल्य इसलिये नहीं रह जाता कि वह अपनी इस विचारधारा को आगे नही बढा पाता, बल्कि इसके विपरीत उसका कट्टर विरोधी हो जाता है।

जर्मन विद्वान फ्रिजस्ट्रिच (Fritgstrich) का मत है कि 'स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिये वह महत्वाकाक्षा है, जो कभी प्राप्त न हो।'[2]

इस परिभाषा से रोमांटिक काव्य की अनुपादेयता ही अधिक व्यञ्जित होती है, किन्तु अनजाने मे ही उस विद्वान ने इतना तो स्वीकार कर ही लिया है कि यह एक साहित्यिक विचारधारा है जिसमे महत्त्वाकाक्षा की अभिव्यक्ति होती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रोमांटिक साहित्य उस मानव-समाज के लिये उस मानव-समाज द्वारा निर्मित साहित्य है जो अपनी वर्तमान परिस्थितियो से सन्तुष्ट नही है, उसकी बहुत कुछ ऐसी इच्छाएँ है जो अपूर्ण है और जिनको पूर्ण करने की वह इच्छा रखता है अर्थात् यह एक जीवन्त तथा गतिमान और क्रियाशील एव कर्मठ समाज का साहित्य है।

आचार्य पं॰ रामचन्द्रजी शुक्ल ही एक ऐसे समीक्षक है जिन्होने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास द्वारा सर्वप्रथम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियो के क्रमिक विकास का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया, इसीलिये हमारे लिए आवश्यक हो जाता है कि हम स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध मे दिये गये उनके मत को जानें। साहित्यिक प्रवृत्तियो के परिवर्तन के सम्बन्ध मे उनका दृढ़

---

1 Poetry is the spontanious overflow ot powerful feelings "

2. "Romanticism is man's longing for a perfection, never to be attained."

विश्वास है कि जब काव्य-धारा पण्डितो की बँधी-बँधाई प्रणालियाँ पर ही अधिक चलने लग जाती है और प्राकृत के पुराने रूपो से लदी होने के कारण प्रचलित देशी भाषाओ से शक्ति नहीं प्राप्त कर पाती तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच बहती हुई स्वच्छन्द प्राकृतिक भावधारा के पास लेकर आना पड़ता है। "यह भावधारा अपने साथ हमारे चिर-परिचित पशुपक्षियो, पेड़-पौधों, जङ्गल-मैदानो आदि को भी समेटे चलती है। देश के स्वरूप के साथ यह सम्बद्ध चलती है। एक गीत मे कोई ग्रामबधू अपने वियोग काल की दीर्घता की व्यञ्जना अपने चिर-परिचित प्रकृति-व्यापार द्वारा इस भोले ढग से करती है—

'जो नीम का प्यारा पौधा प्रिय ने अपने हाथ से द्वार पर लगाया, वह बड़ा होकर फूला और उसके फूल झड़ भी गये, पर प्रिय न आया।'

इस भावधारा की अभिव्यञ्जना प्रणालियाँ वे ही होती है जिन पर जनता का हृदय इस जीवन मे अपने भाव स्वभावत: ढलता आता है। हमारी भावप्रवर्तिनी शक्ति का असली भण्डार इसी स्वाभाविक धारा के भीतर निहित समझना चाहिए। जब पण्डितो की काव्यधारा इस स्वाभाविक भावधारा से विच्छिन्न पडकर रूढ़ हो जाती है, तब वह कृत्रिम होने लगती है और उसकी शक्ति भी क्षीण होने लगती है। ऐसी परिस्थिति मे इसी भावधारा की ओर दृष्टि ले जाने की आवश्यकता होती है। दृष्टि ले जाने का अभिप्राय है उस स्वाभाविक भावधारा के ढलाव की नाना अन्तर्भूतियो को परख कर शिष्ट काव्य के स्वरूप का पुनर्विधान करना। यह पुनर्विधान सामजस्य के रूप मे हो, अन्ध प्रतिक्रिया के रूप मे नहीं, जो विपरीतता की हद तक जा पहुँचती है। इस प्रकार के परिवर्तन को ही अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता (True Romanticism) कहना चाहिए, क्योंकि यह मूल प्राकृतिक आधार पर होता है।[१]

इस प्रकार हम देखते है कि स्वच्छन्दता के सम्बन्ध मे जो मत आचार्य प्रवर ने व्यक्त किये है उनमे ऐसी बहुत-सी बातें सिमट कर आ गई है जो रोमांटिक काव्य अथवा स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ है। यद्यपि 'शुक्लजी' ने परिवर्तन को, जो इस काव्य की मूल प्रेरणा है, अवश्य पकड़ा है तथापि उनके द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा को हम सर्वांगपूर्ण

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'. पृ० ६०१, स० २००३।

नहीं कह सकते, क्योंकि शुक्लजी ने उस ओर सकेत नही किया कि इस काव्य की अभिव्यञ्जना पद्धति क्या है। उन्होने इस ओर सकेत तो किया कि काव्य के अन्दर स्वाभाविक भावधारा की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु अभिव्यक्ति के माध्यम की ओर उन्होंने सकेत नहीं किया। यदि सीधे-सीधे तत्कालीन समसामयिक प्रवृत्तियो एव विचारो को सीधे सादे ढग से कह दें तो उसमे इत्तिवृत्तिात्मकता आ जायेगी जिसे हम स्वच्छन्दतावादी रचना कहने के लिए कभी भी तैयार नही हैं। इसके साथ ही उन्होने इस साहित्य के लक्ष्य की ओर भी ध्यान नहीं दिया, परन्तु इतना तो हम कह ही सकते है कि उन्होने एक ऐसा ठोस धरातल तो दे ही दिया है कि जिस पर खडे होकर हम उस साहित्य की व्याख्या कर सकते है।

आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे इस दृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति आवेगधारा और कल्पना से ओतप्रोत जो एक अद्भुत उन्मुक्त प्रबल भावधारा अंग्रेजी साहित्य में प्रवाहित हो रही थी, उसे ही विशिष्ट दृष्टिभगी की प्रधानता के कारण हिन्दी के विद्वानों ने जो स्वच्छन्दतावाद का नाम दे दिया है, वह उस भावधारा को पूर्णरूपेण व्यक्त नहीं कर पाता। उनके अनुसार 'रोमाटिक साहित्य वस्तुत: जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण अपना यह रूप धारण कर सका है जो अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित और प्रेरित करता रहता है।'[1] इस प्रकार हम देखते है कि द्विवेदी जी ने रोमाटिक काव्य की मूल प्रेरणा और अभिव्यञ्जना के माध्यम को पकडा है जिसकी शुक्लजी उपेक्षा कर गये थे। कवि की अन्तर्दृष्टि ही कल्पना के सहारे जब व्यक्त होती है तो रोमाटिक अथवा स्वच्छन्द काव्य की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त इसकी प्रेरणा के मूल मे जो अत्यन्त महत्व की वस्तु है, वह श्रेष्ठतर जीवन की कामना एवं कवि की महत्वाकाक्षा है जिसका सकेत द्विवेदी जी की परिभाषा मे नहीं मिलता, किन्तु जहाँ तक उनका यह कहना है कि 'रोमाटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है, जिसमे कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-सश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस पर कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी है, परन्तु यह नही समझना चाहिए कि ये दोनो एक दूसरे से

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, "रोमाटिक साहित्य-शास्त्र", की भूमिका, पृ० १।

अलग रहकर काम करती है।'[1] इसमे दो मत हो ही नही सकते। बिना कल्पना का सहारा लिये मानसिक चिन्तन एव आन्तरिक अनुभूतियो को प्रकट ही नही किया जा सकता। द्विवेदी जी रोमाटिक काव्य के मूल मे विद्रोह की भावना नही मानते बल्कि उसके विरोधो को परिस्थिति-जन्य बतलाते है और उसे स्वाभाविक स्वच्छन्द भावधारा के रूप मे स्वीकार करते है। इस सम्बन्ध मे उनका कथन है कि 'व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटीविहित मानो से सब समय उसका सामञ्जस्य हो नहीं पाता। कई बार उसे ऊपरी सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पडता है। परन्तु, यह विद्रोह उसका मूल स्वर नही है। हिन्दी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय भी इस प्रकार की उन्मुक्त आवेग प्रधान और कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियो मे उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा। परन्तु, यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टि भगी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामजस्य न हो सकने का बाह्य रूप मात्र है।'[2] इस प्रकार वे इसके विरोधी रूप को बाह्य परिस्थितिजन्य बतलाते है, आन्तरिक नहीं। जो हो, अपनी सीमाओ के होते हुए भी यह परिभाषा अधिक निकट तक हमे पहुँचाती है जहाँ से रोमाटिक काव्य अधिक स्पष्ट रूप मे दिखाई पडने लग जाता है।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के अनुसार 'स्वतन्त्रता की लालसा और बन्धनो का त्याग रोमाटिक धारा के मूल मे व्याप्त है।'[3] वे स्वीकार करते है कि जो धारा अत्यन्त अनियमित पद्धति, सयमरहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमाटिक गति की सूचक है। काव्य मे भावना के अतिरेक से जो असयम आता है, नियमों की जो अवहेलना होती है, वह रोमाटिसिज्म के अति का परिचायक है। यदि परम्परावादी शैली मे काव्य के शरीर का आग्रह अतिरेक है, तो रोमाटिसिज्म उसकी अपेक्षा अशरीरी कल्पना और अरूप एव अनन्त की भावना मे रमना है। इसके अतिरिक्त स्वच्छन्दतावादी काव्य मे अभिव्यञ्जना की प्रधानता रहती है। इस प्रकार अनन्त की भावना मे रमने

1. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी . "रोमाटिक साहित्य-शास्त्र" की भूमिका, पृ० २।
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—"रोमाटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका", पृ० २।
३ पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, "आधुनिक साहित्य।"

की बात कहकर वाजपेयी ने स्वच्छन्दतावाद और रहस्यवाद पर सोचने के लिये आधार-भूमि दे दी, किन्तु स्वच्छन्दतावाद और जो कुछ हो, रहस्य नही। उनका कथन है कि 'रोमांटिसिज्म मे वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नही। साधारण-से-साधारण वस्तु मे भी काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता है। यह स्वच्छन्दतावादी मत है।'[1] इस प्रकार वाजपेयी जी ने स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्रीय नुस्खो के आधार पर ही स्वच्छन्दतावादी कवि अपने काव्य की विषय-वस्तु नही चुनता। वह शूर-सामन्तो तथा राजा-महाराजाओ का ही यशोगान नही करता, वल्कि वह सर्वसाधारण लोगो से लेकर छोटी-से-छोटी वस्तुओ तक को भी अपने काव्य का विषय बनाता है। इस साहित्य के अन्दर चित्रण के योग्य वस्तुओ की कोई सीमा नही निर्धारित की गई है। इसमे अधिक व्यापक और भावात्मक प्रवृत्ति पाई जाती है। काव्य मे प्रयुक्त होने वालो का भी कोई बन्धन नही है और इसके अन्दर वस्तु तथा शैली मे कोई तात्विक भेद नहीं माना जाता।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र के मत से स्वच्छन्दतावाद का अर्थ होता है, 'सामाजिक बन्धनों को तोडकर जीवक की स्वच्छन्द भूमि मे विचरण करने की लालसा।'[2] वे यह मानते है कि आधुनिक काव्यधारा के आगमन के पूर्व रहस्यवाद, स्वच्छन्दतावाद और छायावाद, ये तीनो प्रवृत्तियाँ साहित्य मे प्रवेश पाने के लिये उतावली हो रही थी और अवसर पाकर एक साथ ही आयी। तत्कालीन घुटनशील परिस्थितियों के कारण मन सासारिक जीवन से ऊब रहा था, उसने रहस्यवाद को जन्म दिया, सामाजिक रूढियो के कठोर बन्धन को अस्वीकार करने के लिये स्वच्छन्दतावाद का प्रादुर्भाव हुआ और छायावाद काव्य शैली के विद्रोह मे ही उठ खडा हुआ है। अभिव्यञ्जना का नूतन विधान छायावाद का मुख्य लक्ष्य रहा है। शुद्ध प्रतीकात्मक और शुद्ध अभिव्यञ्जनात्मक रचनाएँ छायावाद ही कहला सकती थी। इसलिये जहाँ तक काव्य-विषय का सम्बन्ध है, प्रमुख रूप मे दो ही प्रवृत्तियाँ चल रही थी जिनमे से एक थी रहस्यात्मक ओर दूसरी थी स्वच्छन्दात्मक। मिश्रजी के कथन से स्पष्ट लगता है कि रहस्यवाद, छायावाद और स्वच्छन्दतावाद का मूल उत्स एक है और साथ-ही-साथ वे उनका स्वतत्र अस्तित्व भी स्वीकार करते जान पडते है। यदि इन तीनो मूल प्रवृत्तियो का मूल उत्स एक है, तो उनके अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पडती। या

१. प० नन्ददुलारे वाजपेयी, "आधुनिक साहित्य", पृ० ३९१।

२ प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, "हिन्दी का सामयिक साहित्य", पृ० ५४।

तो तीनों प्रवृत्तियों को यह मान लेना चाहिये कि वे सभी एक ही वस्तु के विभिन्न रूप है अथवा यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि आगे चलकर आवश्यकतानुसार एक ही प्रवृत्ति का तीन दिशाओ मे स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ। आगे चलकर जो उन्होंने इसके सम्बन्ध मे अभिव्यञ्जना की बात कही है, वह इसे छायावाद से अभिन्न कर देती है; क्योकि उन्होने माना है कि "स्वच्छन्दतावादी अभिव्यञ्जना के वैभव का चाहे त्याग न करे, किन्तु उसमे गहरी अनुभूति के बिना जगे काव्य की प्रेरणा नहीं जगती थी। लोक-भूमि पर विश्वास के साथ फिर से उतरने वाले शुद्ध स्वच्छन्दतावादी ही दिखलाई पडे।"[1]

डाक्टर नगेन्द्र छायावाद को रोमानी कविता से अभिन्न मानते है। उनके अनुसार "इसमे सन्देह नहीं कि छायावाद मूलत. रोमानी कविता है और दोनो की परिस्थितियो मे भी जागरण और कुण्ठा का मिश्रण है परन्तु फिर भी यह कैसे भुलाया जा सकता है कि छायावाद एक सर्वथा भिन्न देश और काल की सृष्टि है। जहाँ छायावाद के पीछे असफल सत्याग्रह था, वहाँ रोमाटिक काव्य के पीछे फ्रास का सफल विद्रोह था, जिसमे जनता की विजयिनी सत्ता ने समस्त जाग्रत देशो मे एक नवीन आत्मविश्वास की लहर दौडा दी थी। फलस्वरूप वहाँ के रोमानी काव्य का आधार अपेक्षाकृत अधिक निश्चित और ठोस था, उसकी दुनिया अधिक मूर्त्त थी, उसकी आशा और स्वप्न अधिक निश्चित और स्पष्ट थे, उनकी अनुभूति अधिक तीक्ष्ण थी। छायावाद की अपेक्षा वह निश्चय ही कम अन्तर्मुखी एव वायवी थी।"[2]

इस प्रकार हम देखते है कि नगेन्द्रजी ने छायावाद को रोमाटिक काव्य का ठीक-ठीक अनुवाद भले ही न माना हो, किन्तु उसे रोमाटिक काव्य के अन्दर ही स्वीकार किया है। यह सत्य भी है कि किसी भी देश की कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति ठीक-ठीक उसी रूप मे अन्य देश मे नही विकसित हो सकती, क्योंकि इसमे सन्देह नहीं कि भारत की भौगोलिक स्थिति, सामाजिक रहन-सहन, सास्कृतिक मर्यादा तथा आचार-विचार आदि सभी पाश्चात्य देशों से भिन्न है। इसलिए पाश्चात्य साहित्य की प्रवृत्ति को विकसित होने की जो भूमि वहाँ मिल सकती है, वह भारत मे मिलना कठिन ही नही, असम्भव भी है। अत. स्वाभाविक है कि जब कभी भी वहाँ की कोई विचार-धारा हमारे बीच आयेगी तो कुछ परिवर्तन के साथ ही।



१. प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, "हिन्दी का समसामयिक साहित्य।"
२. डा० नगेन्द्र, "आधुनिक हिन्दी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ", पृ० १४।

रोमांस शब्द का इतिहास

'लैटिन' के बिगडने अथवा उसके विभिन्न रूपो मे परिवर्तित हो जाने के कारण जो बोलियाँ निकलीं उन्हे विद्वानो ने रोमास के नाम से पुकारना आरम्भ किया। शब्द रोमास (Romance) तथा मध्य युग के काव्यात्मक 'रोमासेज' मे से एक तत्कालीन सभ्यता और जीवन का तथा दूसरा भाषा और रस्मोरिवाज का अनुवाद था। स्टोडर (Stodder) ने स्वीकार किया है कि 'रोमास दूर से लाये हुए एक शब्द का परिवर्तित स्वरूप है जो विदेशी होता है। यह उस जीवन की ओर सकेत करता है जो वर्तमान से अच्छा हो, अधिक पूर्ण हो तथा उसकी आशा वर्तमान जीवन के लिए न की जाती हो और जिसके सम्बन्ध मे ज्ञान धुँधला हो, किन्तु वैसे जीवन का होना वर्तमान जीवन मे कभी भी सम्भावित नही है।'

ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो रोमाटिक (Romantic), रोमास (Romance) तथा रोमाटिसिज्म (Romanticism) यानी स्वच्छन्दतावाद अथवा स्वच्छन्दवाद का आन्दोलन तीनों तीन विभिन्न वस्तुएँ है। कला और साहित्य मे रोमाटिक आन्दोलन निश्चित ही एक समर्थनीय घटना है। रीति तथा स्वच्छन्दता आरम्भ से ही मानव-जीवन के साथ चिपकी चली आई है, इतिहास इसका साक्षी है। जब हम इस शब्द की प्राचीनता की ओर ध्यान देते हैं यानी ऐतिहासिक रोमास की ओर दृष्टि-पात करते है तो हमे यह देखने को मिलता है कि आज जो रोमास से हम तात्पर्य लेते हैं वह प्राचीन रोमास से सर्वथा भिन्न है। इससे यही परिणाम निकलता है कि चाहे प्राचीनतर (Older) रोमास हो अथवा कल्पना,

---

1. "A Romance is something transfered brought from afar, A Roomance is something hinting of a life better, completer, nobler than the present life, dimly known, detached from hoped for yet never expected in the present".—K K. Sharma "An Introduction to the Poetry of Romantic Revival",

मध्ययुगीन रोमास हो अथवा ईसाइयत या दृश्य और निर्माण का रोमास हो, सभी केवल एक आन्दोलनमात्र हैं।

साहित्य, विचार और कला के इतिहास मे र.माटिक आन्दोलन एक निश्चित समर्थनीय विचारधारा है। 'क्लैसिक' और 'रोमाटिक' दोनो शब्द इतिहास मे मानव हृदय के सिकुडन और फैलाव है। एक ओर एक हमारी व्यवस्था की आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करता है, सयोग और विस्तार मे समन्वय स्थापित करता है तथा भाव अथवा विचार-क्रम की एक निश्चित रूपरेखा तैयार करता है और दूसरी ओर दूसरा प्रत्येक व्यक्ति के अदृश्य विकास का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्वेषण करता है। रोमास की वास्तविक अभिव्यक्ति तब होती है जब सहित्यकार तर्क को सामने रखकर चेतन अवस्था मे अपनी कल्पना, स्वप्न तथा आन्तरिक प्रेरणाओ की अभिव्यक्ति करता है। मध्ययुगीन रोमास इसलिये रोचक नहीं है कि वह उस समय के व्यक्तियो के विचार तथा जीवन की अभिव्यक्ति करता है अथवा उन्हे सामने लाता है, बल्कि इसलिये रोचक है कि वह तत्कालीन पुरुषो के स्वप्नो का प्रतिनिधित्व करता है। साधारणत: उस शब्द अथवा साहित्य से हम रोमाटिक (Romantic) शब्द का बोध कर सकते हैं जिसके द्वारा रोमास की अभिव्यक्ति होती हो।



ऐतिहासिक विकास

साहित्य मे रोमाटिसिज्म अथवा स्वच्छन्दतावाद जिस समय एक भाव-धारा के रूप मे स्वीकृत हुआ उसके पूर्व सत्रहवीं शताब्दी के आसपास रोमाटिक शब्द का प्रादुर्भाव हो चुका था। सत्रहवी शताब्दी मे जो दृष्टिकोण अपनाया गया था उसके मुख्यत दो रूप थे, (१) रोमास और (२) कल्पना। रोमाटिक शब्द विशेषण होते हुए भी सज्ञा रोमाटिसिज्म (Romanticism) से अधिक प्राचीन है। इस शब्द का प्रयोग पाश्चात्य साहित्य मे इसके साहित्य मे प्रवेश करने से अधिक पूर्व ही होने लग गया था और सम्भवत इसी से आगे चलकर इसका निर्माण हुआ। सत्रहवी शताब्दी के मध्य में रोमाटिक (Romantic) शब्द पहली बार अग्रेजी साहित्य मे प्रयुक्त हुआ। यह शब्द रोमाटिक काल्पनिक कथाओ की विशेषता प्रकट करता था और उन्ही मिथ्या कथाओ के आधार पर रोमाटिक (Romantic) शब्द को बहुत खींच-तान कर जिस अर्थ मे प्रयुक्त किया जाने लगा, उसका अर्थ यही था कि वास्तविक वस्तुस्थिति के विपरीत अर्थात् काल्पनिक। इस प्रकार साधारणतः इस शब्द का प्रयोग साहित्य मे बुरे एव भद्दे अर्थो मे किया जाने लगा। यह शब्द काल्पनिक यानी अमूलक, हँसी उत्पन्न करने वाले, अप्राकृतिक तथा निरर्थक बडे-बडे प्रयोग किये जाने वाले शब्दो के साथ जोड दिया गया।

इवलिन (Evelyn) ने सन् १६५४ ई० मे अपनी एक डायरी मे लिखा है कि . "There is also in the side of this hand a very romantic seat"

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् १६५४ ई० मे रोमाटिक शब्द प्रयुक्त हुआ है। उसी समय से इस दृष्टि को सामने रखकर अनेक अद्भुत एवं असम्भावित कथाओ को महत्ता मिलने लग गई थी। यह प्रवृत्ति मुख्यतः सत्रहवीं शताब्दी के अन्त मे विकसित हुई थी। इसके सम्बन्ध मे पोप के विचार बडे ही उत्तम ढग से दो पक्ति की कविता मे प्रस्तुत किये गये है।[1]

1, "That is not·fancyism as, he wondered long, but stopped to truth and moralized his song."

ठीक सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक साहित्यिक रुचियो मे एक नयी लहर उत्पन्न हुई, जिसके कारण कल्पना को प्रमुखता प्रदान करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे सशक्त रूप मे उभडने लगी। यद्यपि रोमाटिक (Romantic) का तात्पर्य भद्दापन एव कुरूपताओ के लिये स्वीकार किया जाता रहा, किन्तु उसके केन्द्र बिन्दु को आकर्षण मानने के कारण यह प्रवृत्ति कल्पना के लिये अत्यन्त ही उपयोगी निकली।

अठारहवीं शताब्दी मे यह दृष्टिकोण थोडे अन्तर के साथ इगलैण्ड, फ्रास और जर्मनी मे स्पष्ट रूप मे दिखाई पडने लगा। अठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे इस विचारधारा का सूत्रपात इगलैड मे हुआ किन्तु इसका स्वरूप आगे चलकर शताब्दी के मध्य मे जाकर ही निर्धारित हो सका। इस समय रीतिवाद अथवा शास्त्रवाद और स्वच्छन्दतावाद को दो पर्यायवाची शब्दो के रूप मे भी ग्रहण किया गया है। उसी समय जर्मनी मे 'लोहाट' (Lohat) नामक एक स्वच्छन्दतावादी सम्प्रदाय था, जो कविता के नवजागरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, बल्कि हम उसे कविता के नवीन जागरण की प्रवृत्ति कह सकते हैं। 'एडिसन' के अनुसार तो 'यह ऐसा विचित्र दृश्य है कि इसने ही सम्भवत: काल्पनिक वस्तुओं को अवसर प्रदान किया है।'[1]

'ग्रे' ने बढ़ाकर इसका अर्थ यह किया है कि यह उनमे से एक है जो अत्यन्त ऐश्वर्ययुक्त, अत्यन्त विचित्र तथा अति चमत्कारिक दृश्य है जिन्हे मैंने अबतक नही देखा है। इसके अतिरिक एक अन्य आलोचक का कथन है कि जब रात्रि का गम्भीर प्रभाव अद्भुत दृश्यो को आच्छादित कर लेता है तो सर्वत्र स्थिरता, शान्ति तथा सन्नाटा छा जाता है।

रूसो (Rousseau) ने रोमासक्यू (Romancsque) और पिल्टर्सक्यू (Pilterosque) शब्दो का प्रयोग रोमाटिक के अभिप्राय से किया। रोमाटिक से उसका तात्पर्य काल्पनिक, अमूलक तथा मनगढ़न्त कपोल-कल्पना से है अथवा रोमासक्यू से अधिक। और 'पिल्टर्सक्यू' का प्रयोग ऐसे दृश्य के लिये किया जाता था जो ऑखो को चमत्कृत कर दे तथा जिसे देखकर बरबस प्रशसा के भाव उमड पडे। रोमाटिक का अर्थ एक मात्र अद्भुत दृश्यो से ही नहीं है बल्कि इसका तात्पर्य उस विशिष्ट भाव (Emotion) से भी है जो उस व्यक्ति के मन मे उठते है, जिस पर वह

1. It is so romantic that it has probably given occasions to such chimerical relation "

मनन-चिन्तन करता है। इस प्रकार रोमाटिक शब्द एक भावात्मक विशेषता रखने वाला शब्द है, जो अत्यन्त ही रोचक, चित्तरजक, मन-भावन, मोहक तथा उत्तेजक है।

आलोचना के शब्द-भण्डार मे रोमाटिक शब्द के स्थान पर 'गोथिक' (Gothic) नामक शब्द का प्रयोग किया जाता रहा। इस प्रकार इसका प्रवेश 'गोथिक' शब्द के द्वारा रोक दिया गया था। इसके अतिरिक्त गोथिक शब्द रीतिवाद अथवा शास्त्रियतावाद (Classicalism) के विरोधी अर्थों मे भी प्रयुक्त होता रहा है। 'गेटे' के अनुसार "रोमाटिक" तथा "क्लैसिकल" काव्य के अन्तर और साम्य को लेकर चलने वाली विचार-धारा सम्पूर्ण ससार में व्याप्त हो चुकी है। कभी-कभी ऐसे अवसर भी आ जाते है जब कि दो पक्षो मे चलने वाला विवाद सघर्ष और झगडे की सीमा तक उतर आता है। पारस्परिक मतभेद का हो जाना तो स्वाभाविक है, जो साधारण बात हो चली है। मूलतः "स्किलर" (Schiller) और 'गेटे' के विचारों मे यह स्थिति विशेष रूप से पाई जाती है। 'गेटे' के अनुसार कविता की अभिव्यक्ति अधिक से अधिक वस्तुपरक होनी चाहिये, उसे मूर्त पदार्थों को छोड़कर अमूर्त का कभी भी अनुकरण नही करना चाहिए, परन्तु "स्किलर" के विचार इसके बिल्कुल विपरीत है। उसने अपनी दृष्टि से जिस प्रकार सोचा उसका पूर्ण प्रचार एव विस्तार भी किया जिससे स्वच्छन्दतावाद और रीतिवाद को लेकर चलने वाली विचार-धाराएँ सम्पूर्ण विश्व मे प्रसारित हो गई। प्रत्येक व्यक्ति इन विवादों मे आज रुचि दिखाता है, जब कि आज से पचास वर्ष पूर्व किसी ने इसके सम्बन्ध मे सोचा तक भी नही था।

जर्मनी से यह विचारधारा लौटकर फ्रास आयी, जिसका श्रेय मेडम 'डीशेल' को है। विक्टरह्यूगो (Victor Hugo) का कथन है कि वह पहली लेखिका है जिसने फ्रास के साहित्य मे रोमाटिक साहित्य की अभिव्यक्ति को स्थान दिया। अग्रेजो की भाँति जर्मन और फ्रेञ्च लेखको तथा कवियो मे इसके सम्बन्ध मे उतनी अराजकता नहीं थी बल्कि उनके विचार नियमबद्ध थे और उनमे यथार्थता थी। इगलैड मे आकर इसके साथ नियम के कोई बन्धन नही रहने पाये, सब टूट गये और वह यथार्थता से दूर की वस्तु समझी जाने लगी, यानी वह काल्पनिक हो गयी। इसकी कोई निश्चित विचारधारा नहीं रहने पाई और न तो यहाँ के लोगों ने इस शब्द को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा ही की, जिससे कि इससे सम्बन्धित सम्भावित सभी साहित्यिक

प्रसग इसके अन्दर ही आत्मसात् हो जायें। इस प्रकार हम देखते है कि इंगलैण्ड मे रोमाटिक शब्द की एक निश्चित तर्कपूर्ण परिभाषा नही बन पाई, जैसा कि फ्रास के ब्रुनेटियर (Brunetiere) ने लक्षित किया था और न तो अग्रेजी आलोचना ने इसकी विस्तृत व्याख्या ही की कि जिससे इसके आस-पास एक सिद्धान्त निर्मित हो जाता। जर्मन विद्वानों ने ऐसा करने का प्रयत्न किया है, जैसा कि हम 'फिजस्ट्रिच' (Fritgstrich) की कृतियो मे देख सकते है। उसके अनुसार 'रीतिवाद मनुष्य की पूर्णता की इच्छा है और स्वच्छन्दतावाद मनुष्य की पूर्णता के लिए वह महत्वाकाक्षा है जो कभी प्राप्त न हो।'[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे अग्रेजी कवियो मे एक अद्भुत उन्मुक्त भावधारा प्रबल होकर प्रकट हुई जिसे रोमाटिसिज्म के नाम से अभिहित किया गया। इसी भावधारा को हिन्दी मे स्वच्छन्दवाद अथवा स्वच्छन्दतावाद कहा गया है। अठारहवी शताब्दी के आरम्भ मे रोमाटिक शब्द के प्रति वर्ड्सवर्थ के विचार थे कि यह शब्द अनावश्यक, आधिक्य और अवाछित भावो का सूचक है। उसने अपनी कविता को स्वच्छन्दतावाद के भीतर नही माना है। सम्भवत: उन्हे यह स्वीकार करने मे इस प्रकार की कोई आपत्ति न होती कि उन्होने जो कविताएँ लिखी है, उनमे स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध उनके मन मे हुई प्रतिक्रिया के भाव ही निहित है। 'शेली' ने अपनी समस्त रचनाओ के अन्दर केवल एक बार रोमास शब्द का प्रयोग किया है।'[2]

स्वच्छन्दतावाद का पुनरुद्धार

इस प्रकार हम देखते है कि किस प्रकार वर्ड्सवर्थ के मन मे हुई प्रतिक्रिया के कारण स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन मे एक गतिरोध सा आ गया। इसके अतिरिक्त इसके उद्धारकाल मे साहित्य मे एक ऐसी विचारधारा चल पड़ी थी जिसका नाम था स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन (Romantic movement)। इस शब्द का मूल्य इसके पुनरुद्धार काल मे (Romantic-revival) सबसे अधिक युक्तिसगत रूप मे 'जोहुफास्टर' (Johufostar) द्वारा उसके एक प्रबन्ध (On the application of the epethet romantic) रोमाटिक प्रयोग की विशेषता मे ऑका गया था। इसका

1. "Classicism is man's desire for completion and romanticism is man's longing for perfection never to be attained.
2. "Oh! antique verse and high romance" – Shelley

प्रकाशन सर्वप्रथम १८०८ ई० और सशोधन १८२३ ई० मे हुआ था। परन्तु इसकी व्याख्या जिस दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी है उसके भीतर तत्कालीन समसामयिक साहित्यिक प्रयोग, जो कि स्वच्छन्दतावाद को लक्ष्य करके लिखे जा रहे थे, नही लाये जा सकते, यद्यपि वह प्रसिद्ध कवि 'कालरिज' और उसके समर्थको का मित्र था। 'कालरिज' के अनुसार तो 'रोमास के लेखको ने कल्पना के प्रभुत्व का निर्णय पर मुलम्मा किया है।'

अग्रेजी काव्य-साहित्य मे मुख्यत सात ऐसे युग है जिनमे अग्रेज जाति की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो ने उन्हे भिन्न-भिन्न ढंग से सोचने के लिए बाध्य किया है तथा उनकी मन स्थिति को परिवर्तित किया है। इन्हीं सातो युगो मे दूसरे युग को रोमास युग कहते है जिसके विकास और विस्तार की विस्तृत ऐतिहासिक व्याख्या ऊपर कर दी गई है।

'ग्रियर्सन' का कथन है कि 'मेरे विचार से रोमाटिक शब्द, जिसे हम इन महान् साहित्यिक युगो तथा महान् कवियो के लिये प्रयुक्त करते रहे है, की मुख्य विशेषता यही है कि वह हृदय, कल्पना तथा प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली वस्तुओ के भेद को स्पष्ट करते हुए अनुसरण के लिए तर्कसगत मार्ग का निर्देश करे, किन्तु ऐसा तर्क नही जिसने तत्वो की खोज की है, बल्कि ऐसे सामाजिक तर्क जिसमे मनुष्य रहता है तथा ऐसे तर्क जो अनुमान पर आधारित है, ऐसे नहीं जो विश्वास को एक निश्चित स्वरूप दे सके है। एक महान रोमाटिक यही समझता है कि वह विश्वास पर ही जी रहा है, तर्क पर नहीं।'[1]

उसके अनुसार रोमाटिक एक आन्दोलन है जो एक दृष्टि से दार्शनिक और आध्यात्मिक आन्दोलन भी है, जिसने प्राचीन रूपों को अस्वीकार कर दिया और जो नवीन प्रयोगो मे अपनी विशेष रुचि रखता है। जहाँ तक भाषा और मात्रा का प्रश्न है, यह उन सभी शास्त्रीय पद्धतियों का, जिसमे

1. "I think the real essence of the word romantic as we apply in to the literature of these great periods and great poets this conscious contrast of what heart and the imagination envisage and beckon us to follow and reason which has thought out the matter and attained conviction but reason in the sense of the society in which a man lives- a man lives reasonable."—Grierson.

एक निश्चित विश्वस्त रूप, स्पष्टता, संतुलित भावना, पूर्व निर्मित नियम जो अपनी ही ओर देखते है, होते है, का तिरस्कार करता है। यह नवीनतम, अद्भुत, विचित्र सौन्दर्ययुक्त विचारो, दृष्टिकोणो तथा लय की अभिव्यक्ति करता है। नपी-तुली पिटी-पिटाई लकीरो पर चलना इसे स्वीकार नहीं और न शास्त्रीय सिकिंजो मे विश्राम करना ही इसे पसन्द है। इसके अन्दर हमे भाषा के प्रयोग मे वृद्धि, किन्तु प्रयोग मे प्रतीकात्मकता, न कि एक निश्चितता, रगीनियो से भरी हुई जिन्दादिली, उद्देश्यो से पूर्ण किन्तु स्पष्ट जिससे अर्थो की पूर्ण रूपेण व्याख्या की जा सके, पर कविता की लयता मे भावो के सशक्त प्रवाह को व्यक्त करने के लिये उपयुक्त विस्तार की क्षमता मिलेगी, जिससे आन्तरिक विचारो एव अनुभूतियों की वास्तविक अनुभूति हो सके।



ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सही अर्थों मे स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति किसी भी जाति और जातीय साहित्य की जीवन्तता का लक्षण है। प्रतिभा अनावश्यक बन्धनों का सदैव से तिरस्कार करती चली आई हैं। इतिहास के विकास क्रम मे कोई भी व्यवस्था स्थायी नहीं होती और जब वह अप्रासगिक होकर अपनी उपयोगिता समाप्त कर लेती है तो एक जड़ता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जडता को जो देश, जाति और साहित्य नही तोड पाता, वह सामयिक सन्दर्भों से कट जाने के कारण जीवित रहने का अधिकार खो बैठता है। तोडने का कार्य प्रतिभाएं ही करती हैं, न कि यथास्थिति से सन्तुष्ट रहने वाले वे लोग जो किसी न किसी प्रकार जीवन के शेष दिन काट ले चलने मे विश्वास रखते है। इतना ही नहीं बल्कि हर अच्छे परिवर्तन को शका की दृष्टि से देखने और उसकी निस्सारता की घोषणा करने वालो की सख्या हर युग मे अच्छी खासी रही है। इतिहास इन्हे भूल जाता है और उन्हीं को याद रखता है जो सबकी उपेक्षा सहकर भी नयी जमीन तोड़ते है। कल्पना शक्ति के द्वारा ही जड़ता का बोध और परिवर्तन की प्रक्रिया की सार्थकता का आभास मिलता है। अतः स्वच्छन्दता की भावना के मूल मे कल्पना विद्यमान रहती है और कल्पना शक्ति के द्वारा ही स्वच्छन्दता एक प्रक्रिया का रूप ले पाती है। यह प्रक्रिया शाश्वत है जिसे पकड़ने वाला व्यक्ति चाहे वह राजनैता हो, समाजनेता हो अथवा साहित्यकार हो, युग पुरुष होता है। किसी भी देश का साहित्य क्यो न हो यदि आज वह जीवित है तो इसी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण। संस्कृत साहित्य जैसा गौरवपूर्ण साहित्य इसी स्वच्छन्दता की भावना के अभाव मे जडता का शिकार हुआ। आधुनिक हिन्दी साहित्य के पीछे विकास की जो एक लम्बी प्रक्रिया है और आज भी जो वह उत्तरोत्तर विकासोन्मुख है उसके मूल मे उसकी स्वच्छन्दता-वादी प्रकृति ही कार्य करती रही है। यह दूसरी बात है कि स्वच्छन्दतावाद का जो प्रयोग आज रूढ़ अर्थों में होने लगा है, वह स्वच्छन्दतावाद आप को वहाँ न मिले, पर समयानुसार अपने को ढाल लेने की अद्भुत क्षमता हिन्दी

साहित्य मे रही है जिससे उसका विकास कही किसी भी बिन्दु पर रुकने नहीं पाया। स्वच्छन्दतावाद की जो भावना परिवर्तन को जन्म देती है, उसका प्रभाव कविता के स्वरूप, भाव और भाषा सभी अगो पर पडता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक साहित्य की जो कालगत सीमा निर्धारित करते है, उसके अन्दर आने वाले समूचे साहित्य के माध्यम की भाषा खडी बोली नही रही जो आधुनिक हिन्दी कविता की एक मात्र माध्यम की भाषा है। खडी बोली तक हिन्दी कविता को पहुँचने मे समय लगा है, उसे अवधी तथा ब्रज जैसी भाषाओ के बीच से विकसित होना पडा है। यदि हिन्दी साहित्य भाषागत जडता का शिकार हुआ होता तो आज उसकी क्या स्थिति रहती कहना कठिन है। भाव के धरातल पर तो उसकी उदारता सर्वविदित है, जिसने उसके शिल्प को निरन्तर गतिशील रखा है। प्रबन्ध काव्यो की रूढिगत परम्परा को मुक्तको और मुक्तको की शास्त्रीय नीरसता को प्रगीतो ने तोडा है, हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है। जिस बिन्दु पर पहुँचकर भाषा की ताजगी चुकने लगी है हिन्दी साहित्य ने भाषा की भगिमा बदल ली है। उसी का परिणाम है कि जब हम हिन्दी साहित्य का इतिहास सामने रखते है, तो वह केवल खडी बोली का ही इतिहास नही होता, बल्कि सधुक्कडी, डिंगल, पिंगळ, ब्रज, अवधी और खडी बोली आदि मे लिखे साहित्य का इतिहास होता है। विषय और स्वरूपगत जडता के लिये विख्यात उत्तर मध्य कालीन (रीतिकालीन) काव्य की मजबूत जकड को तोडने का कार्य घनानन्द ऐसे स्वच्छन्दतावादी कवियो ने किया जिससे आगे चलकर आधुनिक हिन्दी साहित्य मे स्वच्छन्द काव्य-धारा के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। अत अनुचित न होगा यदि यह कहे कि हिन्दी साहित्य को देश के जिस भूभाग की मिट्टी से शक्ति मिलती है, उसकी प्रकृति ही नेतृत्व उत्पन्न करने की ओर रही है, जिसका यह परिणाम रहा कि उसकी प्रासगिकता कभी समाप्त नही होने पायी। प्रासगिकता को बनाये रखने वाला साहित्य सदैव विद्रोही अथवा स्वच्छन्दतावादी होता है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता को स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति इतिहास से दाय के रूप मे मिली है जो समानुसार नूतन कलेवर धारण करती रही है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्दर नवीन विचार-धाराओ की दिशा मे जितने भी विकास हुए है उन पर यदि पाश्चात्य साहित्य का पूर्ण रूपेण प्रभाव नहीं है तो उनके विकास मे उसका महत्वपूर्ण योग अवश्य है। भारत

मे अग्रेजी राज्य के कारण देश की राष्ट्रीयता तथा सस्कृति को जितनी क्षति पहुँची है उससे कम वह उसके माध्यम से नवीन सभ्यता के वरदान विज्ञान के निकट आकर लाभान्वित नहीं हुआ है। विदेशी सत्ता यदि एक ओर भारत के लिये अभिशाप रही है तो दूसरी ओर अवश्य ही वह वरदान सिद्ध हुई है। अनजाने अग्रेजो ने बहुत से ऐसे कार्य कर डाले जिनके कारण पददलित भारतीय जनता मे जागरण लाने का महत् कार्य अपने आप हो गया। भारत मे शिक्षित मध्यवर्ग के उदय का कारण अग्रेजी राज्य की सत्ता ही है। अग्रेजी राज्य को दृढ करने एव आफिसो मे कार्य करने वाले बाबुओ को तैयार करने के लिये खोले गये स्कूल और कालेजो ने भारतीयो को पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क मे लाया, जिससे उनकी आँखो के सामने फ्रास की राज्यक्राति तथा इग्लैण्ड का नवीन जागरण-युग अत्यन्त स्पष्ट होकर नाचने लगा। लोगो ने स्वच्छन्दवादी साहित्य का अध्ययन किया, वर्डस्वर्थ आदि जैसे स्वतन्त्र विचारको की रचनाएँ पढ़ी, जिसमे उन्हे अपनी हेयता का धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा। भारतवर्ष का यह मध्यवर्ग सबसे चिन्त्य वर्ग है किन्तु किसी भी देश मे कोई भी आन्दोलन चलाने का श्रेय इसी वर्ग को होता है और यहाँ का भी रहा। सबसे पहले इसने ही पश्चिम के नवीन प्रकाश को ग्रहण किया और तत्पश्चात् इसके माध्यम से आलोक की यह किरण भारतीय साहित्य के प्रागण मे जागरण की ज्योति जगाने लगी।

हिन्दी साहित्य के अन्दर स्वतन्त्र भावना के विकास का प्रारम्भ सन् १८७० के आस-पास हुआ। इस परिवर्तन की प्रक्रिया को क्रमिक विकास की दृष्टि से तीन चरणो मे विभाजित कर सकते है—(१) इसका प्रारम्भ भारतेन्दु काल में हुआ, (२) इसके विकास मे पं० श्रीधर पाठक ने महान योग प्रदान किया और (३) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तक आते-आते इसका व्यापक प्रसार हो गया। भारतेन्दुकालीन कविता मे ही भारतीय जन-समाज का क्षीण निश्वास-प्रश्वास सुनाई देने लग गया था, परन्तु उस युग का कवि समाज का दीन-हीन दशा पर केवल क्षुब्ध था, करुणा के आँसू गिराता तथा आर्तवाणी मे अपनी असमर्थता प्रकट करता था, उसके अन्दर वह स्तर अथवा साहस नहीं आ सका था कि वह अपनी तत्कालीन जकडने वाली शृखलाओ को तोडकर समाज को मुक्त करने का सन्देश देता।

इसमे सन्देह नहीं, कि आधुनिक हिन्दी साहित्य को सर्वप्रथम मार्ग भारतेन्दु जी ने ही दिखाया। यदि आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्रधान

पोषक मान ले तो भारतेन्दु जी अवश्य ही उसके जन्मदाता थे। काव्य—क्षेत्र मे द्विवेदी जी ने ही आधुनिक कविता के स्वरूप को प्रतिष्ठित किया। इन्होने जिस साहित्य को प्रेरणा-प्रदान की है वह उपदेशगर्भित तथा सुधार-वादी था। भारतेन्दु जी ने जनता को उसकी दुर्बलताओ एव विशेषताओं से परिचित कराया जिससे उसने सगठन के जर्जर बन्धन एव रूढिग्रस्त विवशताओ को भली-भाँति पहचाना। इस समय लोक-कल्याण एव सुधार-वादी भावनाओ का स्वप्न प्रधान होने लग गया था। इसके साथ-साथ राष्ट्रीयता के भाव की प्रबल भूमिका तैयार होती जा रही थी, जनता के अन्दर अन्धरूढियो एव मिथ्या विश्वासो के प्रति विरोधी उग्र भाव उत्पन्न होने लग गये थे जिससे उसमे अनास्था के भाव जागते जा रहे थे। इस युग मे प्राचीन गौरव की दुहाई अवश्य थी किन्तु सबके मूल मे वर्तमान दम घुटा देने वाली प्रस्तुत व्यवस्था का तिरस्कार था। रीतिकालीन शृगार के विरुद्ध उठी हुई तिरस्कार की भावना ने साहित्यिको के चेतन मन को इस प्रकार आच्छन्न कर लिया था कि वे इसका ध्यान आते ही सहम पडते थे।

इसी समय राष्ट्रीयता एव समाज सुधार की भावना से प्रेरित हो देश के अन्दर अनेक समाज-सुधारक सस्थाएँ तत्परता के साथ प्रचार कार्य कर रही थीं जिनमे बगदेश सबसे आगे था। इसका मुख्य कारण यही था कि देश के अन्य भागो की अपेक्षा वह अग्रेजो और उनकी सभ्यता के सम्पर्क मे सबसे पहले आया। अग्रेजो के सम्पर्क मे आने के पश्चात् हिन्दू-समाज के पढे-लिखे लोगो ने उन समस्त नाना कुरीतियो एव बुराइयो को पहचाना जो दीर्घ काल से समाज की जडें काट रही थीं। समाज का मस्तिष्क, जिसका निर्माण पाश्चात्य शिक्षा-लोक मे हुआ था, उसके परिष्कार के लिए प्रयत्नशील हो उठा। देश की परतन्त्र जनता का शोषण और समाज की हीन एव पतितावस्था से देश के विवेकशील मस्तिष्क विक्षुब्ध हो उठे। पर साथ ही उन्हे यह ज्ञात था कि लम्बी निन्द्रा से जगाने का श्रेय भी अग्रेजों को ही है। उनके नाना ज्ञान-विज्ञानों से ही हमे विवेक बुद्धि का ऐसा आलोक मिल सका जिसके द्वारा हम अपनी वास्तविक स्थिति की परीक्षा करते हुए अपनी दुर्बलताओ से पूर्णतया परिचय प्राप्त कर सके है, और उनके सुधार मे तत्पर हुए है।

'अग्रेजो के राज्य-स्थापन की विधि भी ऐसी नीति-पूर्ण रही कि आरम्भ मे वे हमारे हृदय मे क्रूर और आक्रामक के रूप मे नहीं अकित हुए बल्कि

मुसलमानो की क्रूर एव अव्यवस्थित शासन-प्रणाली के विरुद्ध प्रारम्भ मे हमने अँग्रेजी शासन को एक आशीर्वाद समझा।"[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'परदा' शीर्षक लेख मे लिखा था कि 'हम लोगो को चाहिए कि सब के सब एक स्वर होकर अँग्रेज बहादुर का गुणानुवाद करे कि जिसकी शिक्षा से हमको साहस हुआ कि अपने देश की प्राचीन और बुरी रीतियो को त्याग करने मे श्रम करते है।[2] इसमे सन्देह नही कि इस काल के कवियो ने समाज का यथार्थ दिखाने मे बडा निर्मम और आदर्श की ओर इगित करने मे सतर्क तथा जागरूक दृष्टिकोण अपनाया है। सामान्य मानव के जीवन और अनुभूतियो का चित्रण पहली बार इस काल के कवियों ने किया है। नवीन ज्ञान के विकास मे आधुनिक विज्ञान का भी महत्वपूर्ण योग है।

वस्तुत पाश्चात्य वैज्ञानिक-बुद्धिवाद का ही यह फल था कि हम लोगों का विवेक इतना सजग हो पाया जिसके कारण अज्ञानान्धकार के स्थान पर समाज-सुधार की भावना प्रबल हुई। उन्नीसवीं शताब्दी मे विज्ञान ने मानव-जीवन के ही नही बल्कि प्रगति के नाना क्षेत्रो मे क्रातिकारी परिवर्तन उपस्थित किया। जितनी भी प्राचीन मान्यताएँ शुद्ध कल्पना एव रूढि के बल पर टिकी थी उन पर से लोगो का विश्वास डिगने लगा और मानव समाज ऐसे स्थल पर आकर खडा हो गया जहाँ से वह किसी भी वस्तु को केवल इसलिये ही मानने को तैयार नहीं था कि वह हमारे लिए मान्य एव अनुकरणीय है क्योकि वेदो द्वारा उसे मान्यता प्राप्त है। किसी भी वस्तु को स्वीकार करने के पूर्व मानव-समाज उसकी सम्भावनाओ और उपयोगिताओ की ओर देखने लगा, जिससे यहाँ पर आकर मानव जीवन के पुराने नियमो, आदर्शों तथा मान्यताओ मे आमूल परिवर्त्तन ही नही हुआ बल्कि उसके प्रतिकूल समाज मे प्रतिक्रियात्मक उग्र विरोधी भाव भी उत्पन्न हो गये, जिससे समस्त रूढ़ियों एव अन्ध परम्पराओं का जीवन के सभी क्षेत्रों मे तिरस्कार किया गया, वह चाहे साहित्य हो अथवा सामाजिक व्यवस्था।

यह ऐसा काल था जब कि देश के अन्दर राष्ट्रीय जागरण की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित हो रही थी। समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे सुधार-वादी आन्दोलन चलाने की चेष्टा की जा रही थी। सुधारक के लिए स्वच्छन्दतावादी होना तो नितान्त आवश्यक ही है क्योंकि रूढ़िवादी या

१ डॉ० शितिकठ मिश्र, 'खडी बोली का आन्दोलन', पृ० २६९।

२. हरिश्चन्द्र, 'परदा', 'कवि वचनसुधा', सम्वत १९२७।

परम्परावादी किसी नवीनता का चाहे वह आवश्यक हो या अनावश्यक, स्वागत ही नही कर सकता। साथ ही उसे वास्तववादी और आदर्शवादी होना भी आवश्यक है। स्वच्छन्दतावाद ही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो नवीनता को जन्म देकर उसे आगे बढा सकती है। समाज सुधार के साथ-साथ देश के सामने जो सबसे बडी समस्या थी, वह थी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की। जब सारे देश के अन्दर परतन्त्रता की बेडी को तोडकर स्वतन्त्रता के मुक्त आकाश मे सास लेने की बात चल रही हो तो ऐसी स्थिति मे उस देश का कवि, जो युग और समाज का स्रष्टा और द्रष्टा है यदि परिस्थिति से मुख मोडकर प्रेम और विरह के गान गाये अथवा नायिका की भाव-भगियो मे खोकर 'कला-कला के लिये' के सिद्धान्त को अपनाकर अश्लील एव कुरुचिपूर्ण साहित्य की सृष्टि करे तो वह अशोभन ही नहीं, साहित्य और समाज के लिये अभिशाप भी है। कोई भी साहित्य अधिक दिनो तक सामाजिक भावनाओ की उपेक्षा करके जी नही सकता, साहित्य से समाज और समाज से साहित्य के प्रभावित होने का शाश्वत क्रम सृष्टि की ऐतिहासिक चिरन्तन प्रवहमान धारा है, इसलिये तत्कालीन कवियों के लिये यह आवश्यक था कि समाज के अन्दर जो स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की प्रबल मॉग बढ रही थी उसके साथ अपने कण्ठ-स्वर मिलाता रहे।

राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व जब महात्मा गॉधी के हाथ आया उसके पूर्व ही साहित्य का सामाजिक तथा राष्ट्रीय मूल्य तो ऑका जा चुका था किन्तु एक व्यवस्थित क्रान्ति का रूप तो वह उनके प्रवेश से ही पा सका। सामाजिक कवियो मे सर्वप्रथम प० श्रीधर पाठक और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने अपनी सौम्य और उदात्त वाणी मे समाज की दुर्बलताओ को चित्रित किया। हिन्दी साहित्य के अन्दर हमे सर्वप्रथम स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति का उदय प० श्रीधर जी पाठक की कविताओ मे ही प्राप्त होता है। हरिश्चन्द्र के सहयोगियो मे काव्य धारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पडी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढॉचों, अभि-व्यञ्जना के ढग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि मे स्वच्छन्दता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले पहल प० श्रीधर पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढिबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी ऑखों से भी उसके रूपों को देखा। 'गुनवत हेमत' मे वे गाँवों मे उपजने-वाली मूली-मटर ऐसी वस्तुओ को भी प्रेम से सामने लाये जो परम्परागत

ऋतु-वर्णनो के भीतर नही दिखाई पडती थी।[1] पं० श्रीधर पाठक ने जिस स्वच्छन्दतावाद का प्रवर्तन किया उसने वस्तुगत, शैलीगत तथा छन्द-सम्बन्धी सभी परम्परित नियमो की उपेक्षा की। उन्होने खडी बोली पद्य के लिये सुन्दर लय और चढाव उतार के कई नये ढाँचे भी निकाले। अन्त्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होने वाले गद्य के से लम्बे वाक्यो के छन्द भी (जैसे अँग्रेजी मे होते है) इन्होने लिखे है। 'अटन' का यह छन्द देखिये—

विजन वन प्रान्त था, प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, तरणि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लसा।
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥

साहित्य की यह स्वच्छन्द धारा अप्रतिहत वेग से आगे प्रवाहित नही हो पाई, क्योंकि बीच मे ही प० महावीरप्रसाद द्विवेदी से प्रभावित साहित्यिक युगधारा व्यवधान के रूप मे आकर उपस्थित हो गयी। द्विवेदी जी ने अपनी अधिक से अधिक शक्ति परिष्कार मे ही व्यय की, यद्यपि उनके शिष्यो द्वारा जो काव्य की धारा निकली उसके मूल मे भी स्वच्छन्दतावादी धारा कार्य कर रही थी। मैथिलीशरण गुप्त तथा रामचरित उपाध्याय आदि ने धार्मिक तथा सामाजिक परम्पराओ को पोषित करने के लक्ष्य से जो काव्य-रचना की उन्हे छोडकर जितनी रचनाएँ राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर की गयी है उनके अन्दर महत्वाकाक्षा तथा स्वर्ण-युग के निर्माण की प्रबल कामना ही निहित है। यही कामना तथा वर्तमान परिस्थितियो को बदल देने की भावना ही स्वच्छन्दतावादी साहित्य की मूल प्रेरणा है। गुप्त जी ने कुछ स्थलो पर प्रकृति को आलम्बन रूप मे जो चित्रित किया है, वह न तो किसी ऋतु-वर्णन के भीतर आता है और न तो किसी शास्त्रीय विधान के ही। कवि का मन जिन स्थलो पर प्रकृति की रमणीयता की ओर आकृष्ट हुआ है उसका उसने चित्र उतारा है।

'चारुचन्द्र की चंचल किरणें।
खेल रही थीं जल थल में॥
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई थी।
अवनि और अम्बर तल में॥

---

१ प० रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०३

पुलक प्रकट करती थी धरती।
हरित तृणों की नोकों से।।
मानो तरु भी झीम रहे थे।
मन्द पवन के झोंको से।।'

(पचवटी से)

इस प्रकार हम देखते है कि स्वच्छन्दवादी विचार धारा एक शास्त्रीय रूप मे तो नहीं किन्तु आशिक रूप मे द्विवेदीयुगीन साहित्यकारो को भी प्रभावित कर रही थी। पं० रामनरेश जी त्रिपाठी के अन्दर आकर हमे पुनः स्वच्छन्दवादी प्रवृत्ति के दर्शन स्पष्ट रूप से होने लगते है। त्रिपाठी जी अपनी रचनाओ के द्वारा हमे स्वच्छन्दतावाद के प्रकृत पथ पर दिखाई पडने लग जाते हैं :

सिंधु-विहंग तरंग-पंख को फड़काकर प्रतिक्षण में,
है निमग्न नित भूमि-अंड के सेवन में रक्षण में।।

(पथिक)

द्विवेदी युग मे ही 'जयशकर प्रसाद' जैसी प्रतिभाएँ विद्यमान थी जिन्होंने उनके प्रभुत्व को अस्वीकार कर 'छायावाद' के नाम से एक अलग शैली का निर्माण किया। हमने इसकी पूर्व मे ही चर्चा कर दी है कि 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद से कोई अलग साहित्यिक विचार-धारा नहीं है बल्कि उसके अन्दर अन्तर्निहित एक विशिष्ट शैली मात्र है। प्रसाद जी की कविताओं का स्वतन्त्र रूप से विकास हुआ है और यहाँ तक कि उन्होने अपने अमर महाकाव्य 'कामायनी' तक मे भी महाकाव्य के शास्त्रोय नियमो का पालन नही किया है। 'निराला' जी ने तो काव्य के समस्त बाह्य नियमो का विरोध किया ही है इसीलिये उन्हे हिन्दी के विद्रोही कवि के नाम से पुकारा जाता है। ये हिन्दी कविता मे बाह्य कला की स्वच्छन्दता के सूत्र-धार है। 'पंत जी' ने प्रकृति को अपनी रुचि के अनुसार देखा है और महादेवी जी तो उसे अपनी भावनाओ के साथ-साथ चलती पाती हैं। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य और महाकाव्य का साहित्य मुक्तक और प्रगीतों मे आ गया उसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी विचारधारा भी साहित्य के अनेक रूप मे अभिव्यक्ति पाने लगी है जिसे कभी-कभी पहचानना भी कठिन हो जाता है। आधुनिक हिन्दीकाव्य के स्वरूपो मे जो आज अव्यवस्था व्याप्त है उसके मूल मे एक मात्र स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ही है।

रोमांस और कल्पना

स्वच्छन्दतावादी, भावपरक तथा महत्वाकाक्षा से पूण आर वैयक्तिक अनुभूतियों से व्यजित जो कविता होती है उसका आधार-बिन्दु कल्पना है। कल्पना के ही आधार तथा माध्यम से रोमाटिक काव्य की अभिव्यक्ति होती है। 'प्लेटो' के शब्दो मे 'काव्य के स्थिर नियमो, एकता और व्यवस्था मे अनेकरूपता तथा अव्यवस्था का प्रवेश मस्तिष्क की जिस आन्तरिक शक्ति द्वारा होता है उसे कल्पना कहते हैं।'[1]

कला और नीति के सम्बन्ध मे 'प्लेटो' ने अपने जो विचार व्यक्त किये है यदि उनका अध्ययन करें तो स्पष्ट हो जायगा कि काव्य किस प्रकार किसी वस्तु की वास्तविक वस्तुस्थिति को पाठको के सामने रख देता है, जिसको अपनाना और अस्वीकार कर देना उसका काम है। कला और नीति के सम्बन्ध मे युगो से प्रतिवाद चला आ रहा है जिससे आज हम यह जानते है, और हमारे लिए जानना आवश्यक है कि कला और नीति मे परस्पर कोई मौलिक विरोध नही है, यदि अन्तर है तो केवल उनके लक्ष्य मे। नीति का कार्य है उपदेश देना, परन्तु कला उपदेश देने का प्रयत्न नहीं करती। नीति यह दृढ़तापूर्वक स्वीकार करती है कि मानव-जीवन कैसा होना चाहिये और कैसा नहीं तथा आदर्श जीवन की क्या रूपरेखा है, परन्तु कलाकार का कथन है कि थोडे मे सत्य तो यह है कि मेरा कार्य यही है कि मैं किसी भी वस्तु का मूल्याकन उसी प्रकार कर दूँ जैसी कि वह है, उसे यदि आप चाहे तो ग्रहण करें अथवा त्याग दें तथा आप उनसे किसी भी प्रकार की शिक्षा ले सकते है जैसी चाहे। यदि वे प्रमाण रूप मे आपके लिये कुछ मूल्य रखती हैं अथवा शिक्षाप्रद है तो उनका प्रयोग कीजिये, परन्तु ऐसा करने के लिए बाध्य करना मेरा कार्य नही है। मैंने अपनी रचना आपके सामने प्रस्तुत कर दी। अपना मूल्य, अपनी दृष्टि, अपनी कल्पना, अपना स्वप्न और अपनी माया प्रस्तुत कर दी, आप उसे जिस नाम से चाहे पुकार लें। यदि उनमे कोई शिक्षा है तो उसको प्राप्त करना आपका कर्तव्य है न कि मेरा। साहित्य के क्षेत्र पर यदि व्यापक दृष्टि से विचार किया जाय तो नीति भी साहित्य की सीमा

---

1 In the Plato's language is changing manifold and deorderd-a permanence, anunity and order introduced in to it by that faculty of the mind which we call imagination. (Plato) (R A Scott James, The making of literature).

के अन्दर आ जाती है क्योंकि बहुत से ऐसे नीतिकाव्य है जिन्हे साहित्य की अमूल्य निधि मानते है। किन्तु नीति की अपेक्षा साहित्य कला के अधिक निकट है, जैसा कि आधुनिक विद्वानो का मत है। रोमाटिक काव्य तो कला के इतने निकट है कि कहीं-कही दोनो समानान्तर होकर चलने लग जाते है। कला के माध्यम से जो रचना प्रस्तुत की जाती है यदि वह वस्तुपरक अथवा बाह्य ससार का चित्र है तो कलाकार का कार्य अपेक्षाकृत अत्यन्त सरल है क्योंकि वह इस प्रकार अपने कार्य की आधी मजिल पर ही पडाव डाल देता है। उसकी मञ्जिल तब तक पूरी नही हो सकती जब तक कि वह आत्मापरक तथा रहस्यमय ससार की झॉकी नही दिखा देता और यह तब तक सम्भव नही है जब तक कि कवि अथवा कलाकार कल्पना का सहारा नही लेता।

'प्लेटो' के अनुसार कलाकार का सम्बन्ध केवल आकार प्रकार से ही है। वह अपनी कला के द्वारा सम्भावनाओ का चित्र उतारता है अथवा यो कहे कि वह आकृति की भी आकृति से यानी प्रतिकृति से सम्बन्ध रखता है। वह ऐसे ससार का चित्रण करता है जिसे हम ऑखो से देखते है, या कानों से सुनते है, ऐसे ससार का चित्रण करता है जिसमे वस्तुएँ आती और विलीन हो जाती हें, कभी छोटी दिखाई पडती है तो कभी महान, ऐसे ससार का चित्रण करता है जो परिवर्तनशील है, बदलता रहता है अथवा काल्पनिक है किन्तु जिसकी वह प्रतिकृति तैयार करता है, यानी यथार्थ वस्तु अपरिवर्तनीय रहती है। जिस स्थान पर कला के सामने सम्भावनाओ के चित्र उतारने का प्रश्न आता है वहीं पर कलाकार या कवि के सामने कल्पना की आवश्यकता उठ खडी होती है। बहुत सी ऐसी सम्भावित वस्तुएँ हो सकती है जिन्हे ऑखो से तो नही देखा जा सकता किन्तु उनका अनुभव किया जा सकता है अथवा स्वप्निल अवस्था मे वे कल्पना के नेत्रो के सामने मँडराती है जिनको कला अथवा काव्य के माध्यम से हम स्वरूप देना चाहते हैं। ऐसी स्थिति मे कल्पना को छोडकर दूसरी कोई ऐसी वस्तु नही है जो हमारे व्याकुल मन की कामना पूरी कर सके।

अनेक आकृतियॉ है जिन्हे हम लाल रग की वस्तुएँ कहते हैं, किन्तु एकमात्र लालिमा की भावना जो वस्तु के पीछे छिपी है, बहुत-सी आकृतियाँ ऐसी हैं जिन्हे हम सुन्दर वस्तुएँ कहते है किन्तु सौन्दर्य की एकपूर्णता ही जिसका वास्तविक प्रभाव मस्तिष्क स्वीकार करता है, यथार्थ है। इस प्रकार

एक कलाकार आकृतियो की ही अनुकृति तैयार करता है किन्तु कवि कल्पना के ही माध्यम से वास्तविकता को, जो अमूर्त है, मूर्तरूप देने का प्रयत्न करता है। कुर्सी या चारपाई जिन्हे बढई तैयार करता है, एकमात्र आकृतियाँ है वे यथार्थ नही कही जा सकतीं। यथार्थ वस्तु ससार मे एक होती है, एक से अधिक नही। यदि एक से अधिक हुई तो वे पूर्व-कल्पित रूप होगे जिसके पीछे एक वास्तविक वस्तु की धारणा छिपी होगी। बढई केवल वास्तविक वस्तु की नकली वस्तु ही तैयार करते है इसके अतिरिक्त कुछ नही और पेंटर जो वस्तु तैयार करता है वह नकली वस्तु की भी नकल होती है अत उसका कार्य अनुकरण का भी अनुकरण करना है। ठीक ऐसी ही स्थिति कवि की भी होती है। यद्यपि वह रग आदि का प्रयोग नही करता फिर भी पेंटर की भाँति ही वह अपनी रचना के सज्ञा, क्रिया और मात्राओ आदि का प्रयोग करता है, अन्तर केवल इतना है कि पेंटर की कृतियाँ चक्षु-ग्राह्य होती हैं और कवि की कृत्रियाँ कर्ण-ग्राह्य। पेन्टर अपने काल्पनिक भावो को कभी-कभी चित्रो द्वारा व्यक्त करता है और कवि अभिव्यक्ति के माध्यम से। 'प्लेटो' का दृढ विश्वास है कि 'कवि का अनुकरण एक दुर्बल एव अपूर्ण अनुकरण ही हो सकता है क्योकि वह नकल की ही नकल तैयार करता है। कवि के विषय और ढग सब जूठे होते है। वह अपनी भावुकता के द्वारा ही सचालित होता है तर्क के नही। वह हृदय की सबसे हेय भावना एव गन्दे अगो को ही उत्तेजित, सतुष्ट और दृढ़ करता है। वह ऐसी चित्तवृत्तियो को उकसाता है, तथा ऐसी अव्यवस्थित इन्द्रियो को उभाडता है कि साधारणत हम जीवन मे उनके अनुसार कार्य करने मे लज्जा का अनुभव करेंगे। जहाँ तक प्लेटो यह कहता है कि कलाकार अथवा कवि की अभिव्यक्ति सत्य यानी यथार्थ मे घटकर ही होती है, वह पूर्णत सही है, किन्तु यह भी सत्य है कि वह सत्य से बढकर भी चित्रण करता है। वह कौन-सा अस्त्र कवि को मिल गया है कि वह नकल को भी नकल उतारते समय असल से भी श्रेष्ठतर सृष्टि कर जाता है। कवि की कल्पना ही उसका एकमात्र ऐसा साधन है जिस पर उडान लेकर वह अपनी अभिव्यजनाशक्ति के माध्यम से सौन्दर्य की ऐसी अभिव्यक्ति कर जाता है जो वास्तविकता से भी श्रेष्ठतर एव लुभावनी होती है। वर्तमान से श्रेष्ठतर एव आनन्दपूर्ण जीवन की महत्वाकाक्षा से सगठित भावाभिव्यक्ति को ही जब हम रोमाटिक काव्य की सज्ञा देते है तो कल्पना से विरक्त होकर ऐसा काव्य, जीवित रहने को कौन कहे, प्रादुर्भूत भी नहीं हो सकता।

कवि कल्पना के ही द्वारा अपने चित्र मे भाव, अनुभव, अन्तर्ज्ञान तथा कुछ विशिष्ट आवश्यक गुणो की भी सृष्टि करता है। उसका लक्ष्य यही रहता है कि वह जीवन को उससे अधिक सुन्दरतर ढग से सामने उपस्थित करे जैसा कि वह वास्तव में है। कल्पना का ही स्पर्श कर भाव अपने पंख पसारते है और जब उन्हे उपयुक्त भाषा का आकाश मिल जाता है तो वह जीवन की डाल-डाल पर गान-मुखर विहग की भाँति फुदकने लगते है, पत्ते को राग-रणित चचु से चूगने लगते है और ठोस तिनकों के नीड बनाकर सुख-शयन का ही नही, दृश्य-अदृश्य के परे जाने वाली अनन्त वायवी तरगो का भी मधुपान करने लगते है। जहाँ तक ससार की दृश्य वस्तुओ का सम्बन्ध है वे क्लैसिक काव्य की एकमात्र वर्ण्य वस्तु है किन्तु जहाँ तक अदृश्य और वायवी वस्तुओ का सम्बन्ध है उन्हे रोमाटिक साहित्य के द्वारा ही वर्ण्यवस्तु के रूप मे स्वीकार किया गया है। जो वस्तुएँ अदृश्य एवं वायवी होती है वे कल्पना की आँखो द्वारा ही देखी जा सकती है। यदि रोमाटिक कवि अपनी कल्पना की आँखे बन्द कर लेता है तो वह पूर्णत: रोमाटिक काव्य की सृष्टि कर ही नही सकता और कल्पना के अभाव मे वह जो करेगा, उसकी वह सृष्टि अधूरी होगी और उसके आगे बहुत कुछ करना शेष रह जायगा। "कल्पना कवि की बहुत बड़ी शक्ति है, भाव तो किसी न किसी मात्रा मे सब मे उठते-मिटते रहते है, अनुभूतियो के तार सबमे यथा-वसर गुजित होते है, किन्तु जब इन भावानुभूतियो को कल्पनास्पन्दन प्राप्त होता है, तभी अन्तश्चक्षुओं के सामने कला की परम्परा अवतरित होने लगती है। वाक् से अर्थ, अर्थ से वाक् का यही मधुमय मिलन कवि की साधना का साध्य होता है।"[1]

कवि के जीवन मे आशा-निराशा सभी उसी प्रकार आती है जैसे एक साधारण व्यक्ति के जीवन मे, क्योकि वह भी एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने अनुभव जीवन के विभिन्न क्षेत्रो से एकत्र करता है। जिन परिस्थितियो मे वह रहता है उनके द्वारा प्राप्त अच्छे और बुरे अनुभव तथा अभावों की पीडा से प्रेरित होकर ही काव्य की सृष्टि करता है। जीवन मे हुए पिछले अनुभवो को वह कल्पना की ही सहायता से अपने रचना-काल मे सामने रख पाता है क्योकि भोगकाल मे भुक्तभोगी उसमे इस प्रकार डूबा होता है कि ममत्व एव अह की सकुचित सीमाओ मे उसकी विशाल दृष्टि धुँधली पड़

१. प्रो० प्रेम, रोदन की भूमिका।

जाती है, किन्तु भोग के पश्चात् जब कल्पना उन मधुर विषयो को पुनः अन्तश्चक्षुओ के सामने उपस्थित करती है तब वह उनसे ऊपर उठकर, तटस्थ रहकर या उनके चारों ओर घूमकर अपेक्षाकृत पूर्णतर रूप मे देख पाने की स्थिति मे आ जाता है और तब उसकी वाणी केवल उसके ही भूखे-प्यासे अहं के स्वरो को हिलाकर नहीं रुक जाती वरन् जन-जन के हृदय-स्वरो के साथ प्रतिध्वनित हो उठती है। कवि की वाणी की यही बहुहृदय-स्पर्शिता उसकी कृति की सबसे बडी विभूति है। जिस काव्यकृति मे भावों को जगाने एव रमाने की क्षमता नही, वह और चाहे जो कुछ हो कविता नही। काव्यकार का कार्य केवल वस्तुओं का संग्रह करना नही बल्कि कल्पना के द्वारा सजीवता उत्पन्न करना होता है। रोमाटिक काव्य चाहे जितने भी असतोष, अभाव एव क्रातिकारी भावों की अभिव्यक्ति क्यो न करे वह तब तक उच्चकोटि का साहित्य नही हो सकता जब तक कि कल्पना के माध्यम से कोई समाधान नहो प्रस्तुत करता है जो कि विश्वास को अपनी ओर आकर्षित कर सके।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का मत है कि कल्पना कवि की अपनी प्रतिभा का परिणाम होता है अतएव वह अपने मूल रूप मे व्यक्तिगत है। परन्तु कवि द्वारा सृजन किया गया कल्पना का जगत ऐसा नहीं होता कि दूसरे उसका अनुभव न कर सके। कवि कल्पना की यह सार्वजनिकता काव्य को व्यक्तिगत परिधि से बाहर ले जाकर सबके लिये सुखकर बना देती है। काव्य यद्यपि कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है, परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने मे ही प्रकट होता है। रोमाटिसिज्म के आरम्भिक युग मे व्यक्तिवाद की प्रमुखता हो रही थी और काव्य के भाव-जगत को सार्वजनिक वस्तु स्वीकार करने मे कठिनाई हो रही थी। परन्तु 'गेटे' और 'कालरिज' जैसे कई और समीक्षकों की चेष्टा से काव्यगत अभिव्यजना को व्यक्तिगत भूमि से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भूमि पर ले जाने मे सहायता मिली। इस प्रकार अनेकमुखी उद्योगों द्वारा साहित्य मे अभिव्यञ्जना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई। कल्पना के ऊपर जो वैयक्तिकता के आक्षेप आरम्भ मे लगाये गये उनके लिये अधकचरे और अकुशल कवियो की लेखनी ही जिम्मेदार है न कि कल्पना।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो कल्पना को रोमाटिक काव्य का अभिन्न अङ्ग ही माना है। उनके अनुसार 'रोमाटिक' साहित्य की वास्तविक

भूमि वह मानसिक गठन है जिसमे कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-सश्लिष्ट आवेग की ही प्रधानता होती है। इस कल्पना का अविरल प्रभाव और निविड आवेग ये दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य-रूप की प्रधान जननी है परन्तु यह नही समझना चाहिये कि ये दोनो एक-दूसरे से अलग रहकर काम करती है।'[1]

इस प्रकार हम देखते है कि रोमाटिक काव्य और कल्पना को हम एक-दूसरे से अलग कर ही नही सकत।

प्रकृति मे दो प्रकार की शक्तियाँ निरन्तर कार्य किया करती है, एक है विवेक और दूसरी कल्पना। विवेक का कार्य है विश्लेषण करना, वह वस्तुओ को तोडफोड कर अन्तिम इकाइ तक उसकी वास्तविकता का ज्ञान करना चाहता है और कल्पना यदि वस्तुओ को तोडती है तो उन्हे जोड़ता भी है। 'इस कल्पना के व्यापार का सच्चा और प्रकट स्वरूप कविता मे दिखलाई पडता है। जीवन के किसी महत्तम क्षण मे एक समवेदनशील प्राणी ने, जिसे कवि कहते है, किसी ज्योति की झलक देखी, मानो किसी अज्ञात लोक को वास्तविकता ने उसके सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। इसकी कोई विशिष्ट रूपरेखा नही, आकार-प्रकार नही, यह निर्गुण और निराकार है। कल्पना को मानो इससे सन्तोष नहीं। वह चुपके से उसके पास पहुँचती है, एक जोवनी शक्ति लेकर उसमे प्रवेश करतो है और तत्सम्बन्धी भावनाओ के विविध क्षेत्र मे इसका विस्तार करती है।'[2]

इस प्रकार हम देखते है कि रोमाटिक काव्य के भीतर कल्पना प्राणवायु की भाँति व्याप्त है जिसके अभाव मे इसका जीना ही असम्भव है।



१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'रोमाटिक साहित्यशास्त्र की भूमिका', पृष्ठ २।

२. श्री देवराज उपाध्याय-रोमाटिक साहित्य शास्त्र, पृष्ठ ७८।

स्वच्छन्दता और अभिव्यञ्जनावाद

कवि अपनी अनुभूतियो एव भावो को जब कविता के माध्यम से प्रकट करता है तो उस प्रकटीकरण के ढग को ही साधारण भाषा मे हम अभिव्यजना कहेगे। इस शैलीगत विशेषण को सर्वप्रथम शास्त्रीय रूप प्रदान करने वाले इटली के क्रोचे महोदय है, जिसे अभिव्यजनावाद (Expressionism) कहते है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी बात के कहने का ढंग ही सब कुछ है। कलाएँ आत्मा के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है। आत्म-सौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यजना ही काव्य है और अभिव्यजना को इस सिद्धान्त के अनुसार काव्य तथा कला का लक्ष्य माना जाता है और सौन्दर्य को उसके अनिवार्य गुण के रूप मे स्वीकार किया जाता है। आचार्य 'लेसिंग' के अनुसार भावाभिव्यञ्जना कला का उद्देश्य है जिसे 'विकलमैन' ने और भी आगे बढ़ाया। आचार्य 'रामचन्द्रजी शुक्ल' इसे हिन्दी मे 'अपने यहाँ के पुराने वक्रोक्तिवाद का विलायती उत्थान मानते है।' उनके अनुसार 'अभिव्यञ्जना के ढग का अनूठापन ही सब कुछ है, जिस वस्तु या भाव की अभिव्यञ्जना की जाती है वह क्या है, कैसा है, यह सब काव्य-क्षेत्र के बाहर की बात है।' क्रोचे का कहना है कि अनूठी उक्ति की अपनी अलग सत्ता होती है, उसे किसी दूसरे कथन का पयाय न समझना चाहिये। बात यह है कि अभिव्यंजनावाद भी 'कलावाद' की तरह काव्य का लक्ष्य बेल-बूटे की नक्काशीवाला सौन्दर्य मानकर चला है, जिसका मार्मिकता या भावुकता से कोई सम्बन्ध नही। और कलाओं को छोड यदि हम काव्य ही को ले तो इस अभिव्यजनावाद को 'वाग्वैचित्र्यवाद' ही कह सकते है और इसे 'अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते है।'[1] यदि

१ आ० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ४९६।

इस प्रकार की व्याख्या हम अभिव्यजनावाद की करे तो रीति सिद्धान्त को छोडकर अभिव्यजनावाद और कुछ नही है क्योकि अभिव्यजनावाद की भॉति रीति अथवा शास्त्रीयकाव्य की भी सारी समस्याएँ शैलीगत है। रीति-काव्य, काव्य के बाह्य तत्व पर ही अधिक जोर देता है आन्तरिक तत्व पर नहीं। यह स्वरूप (Form) को ही काव्य का सर्वस्व मानता है आत्मा (Spirit) को नही। हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य हमारे सामने है, हम देख सकते है कि किस प्रकार उस समय के कवियों ने एक ही विषय पर अनेक ढग की कलाबाजियॉ दिखलाई है।

इसके अतिरिक्त सौन्दर्यशास्त्रीय आलोचना का मूल सिद्धन्त है अभि-व्यजनावाद। अभिव्यजनावाद का महत्व तो अपने आप मे पूर्ण है, यह कोई नवीन उद्भावना नही है। यूनानी-रोमी आलोचको के ग्रन्थो मे इसके अनेक सकेत मिलते है। परवर्ती काव्यशास्त्र मे 'आर्नल्ड' से पहले ही 'विक्टर ह्यूगो' इस तथ्य को घोषणा कर चुके थे कि 'काव्य मे अच्छे-बुरे विषय नही होते, अच्छे-बुरे कवि ही होते है। यह देखिए कि रचना किस प्रकार की गयी है, यह नही कि किस पर और क्यों ?'

साहित्य मे स्वच्छन्दवादी विचारधारा के विकास ने साहित्य के शास्त्रीय मूल्यो को आमूल परिवर्तित कर दिया और पहले जो यह विश्वास था कि हमारा समस्त ज्ञान तथा प्रतिभा एक निश्चित शास्त्रीय पद्धति पर चलकर ही अपना चमत्कार दिखा सकती है, उसके स्थान पर यह भावना प्रबल होने लगी कि ज्ञान और प्रतिभा के लिये श्रेयस्कर है कि वह अपनी सुविधा के लिये शास्त्रीय नियमो का स्वय विधान करे तथा श्रेयस्कर यही होगा कि वस्तुएँ हमारे ज्ञान के अनुकूल हो। शैली की समस्या वहॉ भी थी किन्तु शैली की समस्या वहॉ यह थी कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्याश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत कुछ भी हो, उसका मन की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्ण तादात्म्य हो। इस प्रकार जो पूर्व मे सीमित दृष्टि-कोण था कि उक्तिवैचित्र्य मे चमत्कार होना आवश्यक है, भले ही मन के भावो के साथ उसका पूर्ण तादात्म्य न हो सके क्योकि परम्परावादी अथवा रीतिवादी काव्यों की विशेषता थी कि काव्य का बहिरग शास्त्र-संमत होना आवश्यक है। परन्तु स्वच्छन्दतावादी कवियो के द्वारा जब काव्य के अन्तरग पर बल दिया जाने लगा तो अभिव्यजना का रूप भी बदला। इन कवियों ने विषय को प्रधानत दी न कि शैली को। इन लोगो का विश्वास है कि यदि विषय हमारे पास है तो शैली अपने आप तदनुरूप आ जायेगी, पहले कहने

को तो कुछ हो। ऐसी कविताओ मे उक्तिवैचित्र्य नहीं, युग की आत्मा बोलती है जिसके पीछे कवि की वैयक्तिक अनुभूति छिपी होती है। इस प्रकार अलकार, शाब्दिक चमत्कार तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यंजना के अभिन्न अग थे, भिन्न माने जाने लगे क्योंकि उनका पृथक् अस्तित्व है और वे वास्तव मे शैली का कोई उपकार नहीं करते बल्कि उनके द्वारा उसकी मूलभूत एकता ही नष्ट हो जाती है। 'शब्द का औचित्य वहीं सिद्ध होता है, जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।'

अभिव्यंजनावाद और रीतिवाद मे साम्य के स्थान पर वैषम्य अधिक है। यद्यपि दोनो ने ही उक्ति को महत्व दिया है किन्तु दोनों की आत्मा मे बडा भेद है। साम्य केवल उक्ति को महत्व देने मे है क्योकि अभिव्यजनावाद उक्ति के अतिरिक्त अर्थ का अस्तित्व ही नही मानता और रीतिवाद रीति को महत्व देता है जिसके मूल मे उक्ति है। दानो मे वैषम्य इस दृष्टि से है कि रीति केवल उक्ति ही नही है बल्कि वह विशिष्ट पदरचना भी है और इसमे इसी पर अधिक बल दिया जाता है परन्तु अभिव्यजनावाद उक्ति और अभि-व्यजना मे भेद नहीं करता। उसका तो एक ही रूप है। वह सफल-असफल का भेद नहीं मानता क्योकि असफल अभिव्यंजना तो अभिव्यजना है ही नही। रीति का आधार रचना की विशिष्टता है जो गुणों से युक्त तथा दोषों से मुक्त होती है, परन्तु अभिव्यजनावाद गुण, अलकार, दोष आदि को अप्रा-सगिक तथा मिथ्या कल्पना मात्र मानता है। अभिव्यजना अखण्ड है उसे गुण तथा अलकार आदि से खण्डित नहीं किया जा सकता। उसके सौन्दर्य की पूर्णता अपने मे ही है। इस प्रकार रीति के सम्पूर्ण तत्व अभिव्यंजनावाद के अनुसार व्यर्थ हो जाते है। रीतिवाद वस्तुपरक सिद्धान्त है, अभिव्यंजना-वाद शुद्ध आत्मपरक। उक्ति के स्थान पर दोनों एक रगमंच पर से बोलते अवश्य है परन्तु दोनों के रास्ते दो है। इस प्रकार रीतिवाद और अभिव्यंज-नावाद का यह वैषम्य उनके साम्य से कम मौलिक नहीं, बल्कि और भी गहरा है।

जिस प्रकार अभिव्यजनावाद शुद्ध आत्मपरक है, उसी प्रकार स्वच्छन्द-तावाद भी। स्वच्छन्दतावादी कवि भी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना चाहता है परन्तु रीतिवादी कवि और उसमे यही भेद है कि स्वच्छन्दतावादी कवि का सौन्दर्य अधिक मानसिक है और रीतिवादी का अधिक ऐहिक। स्वच्छन्दता-वाद इसका हामी है कि सौन्दर्य के माध्यम से भावों का वह उन्मेष जो

तात्कालिक सुखानुभूति की सृष्टि करता है, काव्य है। भावों की स्थिरता कभी भी स्वीकार नही की जा सकती, उसके परिवर्तित होते रहने की सम्भावना अधिक है और तात्कालिक सुख का भी कोई एक निश्चित दृष्टिकोण नही स्वीकार किया जा सकता। ऐसी स्थिति मे निश्चित शैली को एकरूपता प्रदान कर देना कठिन तो है ही, उपयुक्त भी नहो है। यद्यपि 'क्रोचे' ने इस अभिव्यजनावाद का समर्थन जिस ढग से किया है वह तद्वत् अभी तक हिन्दी साहिय मे आया नहीं और न सम्भव ही है। किसी भी साहित्य एव परम्परा के लिये अपने देश-काल की एक निश्चित सोमा होती है। ऐसी स्थिति मे हमे इस परिभाषा को अत्यधिक व्यापक बनाना पडेगा। यदि अभिव्यजनावाद को व्यापक दृष्टि से देखे तो इसकी सबसे अधिक अभिव्यक्ति स्वच्छन्दवादी कवियो के द्वारा हुई है। जिन भावो तथा अनुभूतियो की अभिव्यक्ति रीतिकाल का समृद्ध साहित्य कभी भी नहीं कर सका उसे भी स्वच्छन्दतावादी कवियो ने कल्पना की सहायता से प्रस्तुत कर दिया और इसे भी हम अस्वीकार नही कर सकते कि अभिव्यजना की पूर्णता ही अभिव्यजनावाद का मूल मन्त्र है जो स्वच्छन्दतावादी कवियो द्वारा सम्भव हो सका।

अभिव्यजनावाद को स्वच्छन्दतावाद का ही एक अङ्ग या स्वरूप मानना चाहिये। इसमे सन्देह नही कि यह इसी विचार धारा के अन्दर अन्तर्भुक्त है। यों तो अभिव्यजना को काव्य का एक स्वतन्त्र सिद्धान्त ही माना गया है, जिसके अन्दर अभिव्यजना को ही काव्य की आत्मा के रूप मे स्वीकार किया जाता है। यह सिद्धान्त हिन्दी कविताओ के अन्दर स्वतन्त्र रूप मे नही आ पाया। स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा के अन्दर ही यह अपना विस्तार और प्रभाव दिखाता रहा है और कम से कम उसकी व्याख्या उसी के अन्दर करनी चाहिये। यह नितान्त मौलिक रूप से पश्चिमी सिद्धान्त है और नाम भी वही से लिया हुआ है। अत॰ स्वतन्त्र रूप से उस विचार करने की विशेष आवश्यकता नही है। फिर भी इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान कर लेने से भ्रान्ति का निवारण अवश्य हो जायेगा। अभिव्यजनावाद और कलावाद (arts for arts sake) पाश्चात्य समीक्षा-साहित्य मे शैली को महत्व देने वाले दो प्रमुख वाद है। अभिव्यजनावाद को शास्त्रीय स्वरूप देने का सर्वप्रथम श्रेय आचार्य 'क्रोचे' को है।

सत्रहवीं शताब्दी तक योरप मे प्राचीन ग्रीक कला के आकर्षण का प्रभाव समाप्त हो चला था। धीरे-धीरे साहित्य-समीक्षक समसामयिक जीवन को

प्रेरणा से उद्भूत कविता के मर्मों को जानने के लिये जिज्ञासु हो रहे थे। यही साहित्य का वह ऐतिहासिक बिन्दु है जहाँ से समीक्षाशास्त्र मे स्वच्छन्दतावाद का प्रभाव बढना आरम्भ हो गया। जर्मनी मे लेसिंग, विकलमैन और इङ्गलेण्ड मे शैली, कीट्स और वर्डस्वर्थ जैसे विद्वान् समीक्षक और कवि नयी धारा का उन्नयन कर रहे थे। प्राचीन ग्रीक कला का नया विश्लेषण करने वालो मे 'लेसिग' और 'विक्लमैन' मुख्य आचार्य है। लेसिंग ने प्राचीन ग्रीक-कला की नये युग की पृष्ठभूमि पर व्याख्या की। उसका सिद्धान्त प्राय सौन्दर्य-सिद्धान्त कहा जाता है, जिसके अनुसार काव्य और कलाएँ आत्मा के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करती हैं, आत्मसौन्दर्य से सम्पन्न अभिव्यंजना ही काव्य है। अभिव्यञ्जना ही काव्य तथा कला का वह लक्ष्य है जिसका अनिवार्य गुण सौदर्य है। सौन्दर्यविहीन अभिव्यञ्जना निम्नकोटि की होती है। विकलमैन ने 'लेसिंग के उपरोक्त सिद्धान्त का विस्तार के साथ स्पष्टीकरण किया तथा उसके विविध भेदो को उद्घाटित किया। आगे चलकर कान्ट ने कलात्मक प्रेरणा के वास्तविक रूप को और भी अधिक स्पष्ट किया। उसने विशुद्ध, व्यावहारिक और अनुभूतिजन्य ज्ञान की तीन श्रेणियाँ स्वीकार की और कला को इन तीनो ज्ञानो का समन्वित स्वरूप माना है। उसने कलाको विशुद्ध व्यावहारिक ज्ञान के मध्य मे मानकर उसमे अनुभूति नामक तत्व की स्थापना की। कान्ट की इस व्याख्या के फलस्वरूप स्वच्छन्दतावादी धारा को और भी गति मिली। परिणामस्वरूप बाहरी नियमों और आगिक सौंदर्य को छोडकर रचनासम्बन्धी आतरिक प्रक्रिया और अन्तरग नियमों का महत्व बढ गया। उसी समय विद्वान 'कालरिज' ने यह बडे जोरदार शब्दो मे स्वीकार किया कि सौदर्य के माध्यम से तात्कालिक सुख के लिये भावो का उन्मेष ही साहित्य है। उसने भावोन्मेष के लिए जिस सौदर्य को माध्यम माना है वह अभिव्यजना का ही सौदर्य है, कला का बाह्य या आगिक सौन्दर्य नही। बाह्यजगत या वस्तुजगत का कोई भी स्थान उसकी दृष्टि मे नही है। कवि की मानसिक प्रक्रिया के अन्तर्गत ही वस्तुजगत का अस्तित्व है और उसकी मानसिक चेष्टा ही कलानिर्माण का एकमात्र आधार है। जिस मानसिक चेष्टा को वह कला का मूलाधार स्वोकार करता है वही मानसिक चेष्टा स्वच्छन्दवादी काव्य की जन्मदात्री है। मानसिक चेष्टा को अभिव्यक्त करने की प्रबल कामना ही ने तो सभी शास्त्रीय बन्धनों का तिरस्कार कर स्वच्छन्द अभिव्यंजना शैली को काव्याभिव्यक्ति का प्रमुख साधन स्वीकार किया है।

प्रारम्भ मे तो कल्पना और आत्मानुभूति का रूप व्यक्तिगत था, किन्तु 'गेटे' ने काव्य के इस व्यक्तिमुखी रूप को सार्वजनिक बनाने का प्रयत्न किया, उसने कहा कि यद्यपि काव्य कवि की अपनी कल्पना का परिणाम है परन्तु उसका उत्कर्ष सार्वजनिक बन जाने मे प्रकट होता है। इस प्रकार हम देखते है कि 'क्रोचे' के समय तक अभिव्यजना-सिद्धान्त की साहित्य में व्यापक रूप से प्रतिष्ठा हो चुकी थी। क्रोचे ने इस सिद्धान्त को शास्त्रीय रूप मे उपस्थित किया और यह काव्य-कला का एकमात्र सिद्धान्त घोषित हुआ है।

क्रोचे ने आत्मा की दो क्रियाएँ मानी है, एक विचारात्मक दूसरी व्यवहारात्मक। विचारात्मक क्रिया के भी दो भेद माने है, स्वयप्रकाश-ज्ञान, जो कल्पना द्वारा कला का उत्पादक है एव तर्क की क्रिया, जिससे दर्शन और विज्ञान आदि का उदय होता है। व्यवहारात्मक क्रिया का भी उसके अनुसार दो रूप है, एक आर्थिक और दूसरा नैतिक। आत्मा का स्वयप्रकाश-ज्ञान बौद्धिक ज्ञान से स्वतत्र है, वह एक प्रकार की अलौकिक शक्ति है और उसका सम्बन्ध मन से है। कवि के मन पर जब दृश्यजगत् की नाना वस्तुओ की छाया पडती है तब यही अलौकिक शक्ति उन्हे अपनाकर नये बिम्ब के रूप मे साकार और सुन्दर रूप दे देती है, यही आकार देने की क्रिया अभिव्यक्ति कहलाती है जो स्वभावत· शास्त्रीय बन्धनों एव रूढिग्रस्त परम्पराओं तथा पिटे-पिटाये नियमों को स्वीकार करना नही चाहती, क्योकि यह आन्तरिक होती है और आन्तरिक अभिव्यक्ति मूलत· स्वच्छन्दवादी साहित्य की नियामिका है। क्रोचे मन को ही प्रक्रिया को महत्व अवश्य देता है क्योकि वह दृश्य-जगत की कोई सत्ता स्वीकार ही नही करता, उसके अनुसार यही मानसिक प्रक्रिया उस दृश्य-जगत को स्वरूप देतो है जो मूलत· कल्पना पर आधारित है। मन की अव्यक्त सक्रिय अवस्था मे वस्तु-जगत का जो प्रभाव कवि के ऊपर प्रतिबिम्बित होता है काव्य और कला उसी की ही अभिव्यजना है। इसमे सन्देह नहीं कि मन की अव्यक्त सक्रिय अवस्था मे आये हुए उद्गार बाहर आने के लिए अपना अलग मार्ग ढूँढेंगे जो मूलत· नियमो और परम्पराओ की अवहेलना करके निकाला हुआ स्वच्छन्द मार्ग होगा, क्योंकि काव्यात्मक अभिव्यजना का सवेदन मनोमय तभी हो सकता है जबकि उसका स्वाभाविक प्रवाह निर्बन्ध तथा उन्मुक्त हो। काव्य का मनोमय होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवन के लिए प्राणतत्व का होना। यह मनोमयता दृश्य-वस्तुओं की अभिव्यक्ति मे नहीं आ सकती क्योकि दृश्य-

वस्तुओ का इन्द्रिय-सवेदन निष्क्रिय होता है, जिससे काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती, यही कारण है कि क्रोचे ने कला के वास्तविक रूप को आन्तरिक माना है। कलाकार या कवि के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी आन्तरिक अनुभूति को शब्दो और रेखाओ का स्वरूप दे। वास्तविक कला और काव्य तो वह अनुभूति-जन्य अभिव्यञ्जना ही है जो मूलतः आध्यात्मिक होती है, जो या तो विशुद्ध और परिपूर्ण होगी या कला होगी ही नहीं, दोनों की मध्यवर्ती कोई स्थिति नहो होतो। इस प्रकार हम देखते है कि अभिव्यञ्जनावाद के प्रवर्तक आचार्य क्रोचे ने काव्य को वैयक्तिक महत्व दिया है और यह काव्य की वैयक्तिक साधना स्वच्छन्दतावादी विचार-धारा की मूल प्रेरक शक्ति है। क्रोचे के इस अभिव्यंजनावाद को जो एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद कहा गया है, वह तर्कसगत नही है, क्योंकि वक्रोक्तिवाद और अभिव्यञ्जनावाद मे दो प्रमुख अन्तर है। वक्रोक्तिवाद की प्रकृति अलकार की तरफ विशेष दिखाई देती है और उसमे स्वाभाविकता के लिये कोई स्थान नहीं है, किन्तु इसके विपरीत अभिव्यञ्जनावाद का बाह्य रूप से अलकार के साथ कोई सम्बन्ध नही है, उसमे उन स्वभावोक्तियो के लिये भी स्थान है जो मनोहर बिम्ब रूप मे किसी दृश्य को ग्रहण कर सके। इसे कभी भी न भूलना चाहिए कि क्रोचे ने उक्ति को प्रधानता दी है, उक्ति-वैचित्र्य को नही। इसलिये अभिव्यजनावाद और वक्रोक्तिवाद् मे समानता नहीं है। अभिव्यजनावाद मे स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का कोई भेद नही। उक्ति केवल एकही प्रकारकी हो सकती है जिसमे पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव हो। इस दृष्टि से अभिव्यजनावाद स्वच्छन्दतावाद के अधिक निकट है।



रोमांस और यथार्थ

यदि हम पाश्चात्य साहित्य के क्रमिक विकास पर विहंगम दृष्टि डाले तो हमे ज्ञात होगा कि देश की जिन सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों ने साहित्य मे यथार्थ अथवा यथार्थवाद को जन्म दिया उन्हीं परिस्थितियों ने रोमास अथवा रोमाटिक साहित्य को भी उत्पन्न किया। यदि इन दोनो विचारधाराओं मे कोई अन्तर है तो केवल अभिव्यजना शैली मे अन्यथा दोनो का सामाजिक लक्ष्य प्राय· एक सा है। उनमे से एक यदि वास्तविकता को सामने रखकर वर्तमान की निस्सारता प्रकट करना चाहती है तो दूसरी कल्पना के माध्यम से सम्भावित श्रेष्ठतर परिस्थितियो का ज्ञान। १९ वीं और २० वीं शताब्दी के मध्य मे यूरोप के अन्दर सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो मे अनेक मोड़ उपस्थित हुए जिनके परिणाम-स्वरूप साहित्य की विचारधाराओ मे भी अनेक प्रकार के परिवर्तन आये। युग की आवश्यकताओ ने ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद को जन्म दिया। १९ वीं शताब्दी मे विश्वसाहित्य धीरे-धीरे मानव की दैनिक समस्याओं, उसके वास्तविक जीवन तथा एक विशेष विकासशील दिशा के निकट आया जिसका निर्माण पश्चिमी यूरोप के ऐतिहासिक यथार्थवाद के द्वारा हुआ। इसके अतिरिक्त १९ वीं शताब्दी के अन्त मे हुई फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने यूरोप की प्राय: सभी पुरानी संस्कृति को ही बदल दिया जिससे एक नवीन दृष्टिकोण का उदय हुआ। इस महान् परिवर्तन की प्रेरणा से जो एक अभिनव कला परिपाटी का जन्म हुआ उसे ही स्वच्छन्दतावादी कला (Romanticism) के नाम से पुकारा गया। 'इस काव्य परिपाटो मे सामयिक परिवर्तनो का प्रभाव प्रमुख रूप से व्याप्त था। कवियों की कल्पना सारी पूर्व-परम्परा का अतिक्रमण कर अत्यन्त नवीन रूप मे व्यक्त हुई।'[1]

---

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य।'

नवीनता की कामना ने ही किसी वस्तु को देखने के लिये जो अनेक ढंग उपस्थित किये उन्हीं के कारण परम्परा के प्रति आये विद्रोही भाव अनेक दिशाओं मे विभिन्न शैलियों मे अभिव्यक्त हो उठे और यथार्थवाद तथा स्वच्छन्दतावाद दोनों वैसी ही साहित्यिक शैलियाँ है जो वास्तविकता, असतोष तथा अभाव को व्यक्त करती हुई परिवर्तन तथा महत्वाकांक्षा की ओर प्रेरित करती है। फ्रास की राज्यक्रान्ति से समाज की जो रूपरेखा बनी उसने पढे लिखे लोगो की महत्वाकाक्षा, साहित्य और उनके समय की जनता मे विग्रह उत्पन्न कर दिया। इस काल मे वही लेखक महान् बन सकता था जो नवीनतम समस्याये लेकर दैनिक जीवन को चित्रित करता। इसके अतिरिक्त अन्य नूतन ज्ञान-विज्ञानो के प्रभावो ने मानव समाज के सामने सोचने की ऐसी भूमि तैयार कर दी कि जिसके आधार पर वह सोचने लगा कि वर्तमान जो उसके सामने है वही अन्तिम सत्य नहीं है और जो जिन्दगी वह जी रहा है न वही उसकी एकमात्र जिन्दगी है जिसे उसे जीना है। इस प्रकार साहित्य ने जीवन अथवा जगत की वास्तविकता को उसके नग्न रूप मे उपस्थित किया, उसे तो साहित्य मे यथार्थवाद के नाम से पुकारा गया और जिसने सम्भावित श्रेष्ठतर जीवन अथवा जगत की झाँकी दी उसे स्वच्छन्दतावादी विचारधारा के नाम से अभिहित किया गया। किन्तु दोनों के मूल मे प्रेरणा श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना ही है।

आधुनिक युग मे हम यथार्थवाद को रोमासवाद से बिल्कुल भिन्न वस्तु समझने लग गये हैं, पर रोमाटिक युग के विचारकों की विचारधारा ऐसी नहीं थी। रोमाटिक विचारधारियो की उत्पत्ति ही कृत्रिमता, असत्यता और झूठ के विरोध मे हुई थी, अत· वे स्वाभाविकता से यथार्थता के पक्षपाती थे। उनके मत मे यथार्थता रोमान्सवाद की सार वस्तु है। 'बायरन' ने सत्य के महत्व का उद्घोष करते हुए कहा था कि (Truth is always stranger than fiction) अर्थात् सत्य·सदा ही विचित्र होता है, कथा कहानी से भी अधिक विचित्र। 'हैजलिट' ने एक बार कहा था 'कि मौलिकता की परीक्षा और विजय इसमे नहीं है कि वह हमे ऐसी वस्तु दिखाये जो कभी घटी नहीं है और जिसकी हम आसानी से कल्पना भी नहीं कर सकते पर इसमे है कि वह हमे उस बीज को दिखाये जो हमारी आँखों और पैरों के तले हो फिर भी अपनी प्रतिभा और मस्तिष्क की दृढ पकड़ के अभाव मे उसके अस्तित्व की कल्पना भी हम नहीं कर सकते। 'वर्डस्वर्थ मे इस

रोमांसवाद और यथार्थ के सम्मिश्रण के बारे मे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, वह एकदम स्पष्ट है जिसे कोई भी आसानी से देख सकता है।"[1] इस प्रकार हम देखते है कि आरम्भ से ही ये दोनो साहित्यिक प्रवृत्तियाँ स्वरूप मे भिन्न होते हुये भी एक ही प्रेरणा से उद्भत है।

"साहित्य मे वह सभी यथार्थ है जिसके पीछे साहित्यकार की अपनी अनुभूति है, और जिसे वह दूसरों को अनुभूत करा सकता है। मानव अनुभूति के विषय असीम और असख्य है। इनकी सीमा के निर्धारण का प्रयत्न कोरी बिडम्बना होगी। साहित्यकार के लिये एक नियन्त्रण स्वीकार किया जा सकता है, वह है उसके साहित्य का लोक-कल्याणकारी रूप। उसे समाज का अकल्याण करने का कोई भी अधिकार नही है। उसे कदापि ऐसे यथार्थ का चित्रण नहीं करना चाहिये, जिससे कि पाठकों की कुरुचि-पूर्ण, कुत्सित, पशु-वृत्तियों को प्रोत्साहन मिले। परन्तु स्वस्थ रोमास मानव-जीवन मे ताजगी लाने तथा उसे गतिशील बनाये रखने के लिए अति आवश्यक है। साहित्य के क्षेत्र मे 'रोमास' भी उतना ही यथार्थ है, जितना रोटी-कपडा।"[2]

'लोगों की सामान्य धारणा है कि 'रोमास' विलासी जीवन की क्रोड मे फलता फूलता है और उसकी सुकुमारता सघर्ष-रत मानवजीवन के ताप को पाकर मुरझा जाती है। कहा जाता है कि आज का सघर्षरत मानव किसी प्रकार की रोमानी भावनाओ मे दिलचस्पी नहीं ले सकता। जो रोटी कपडे के लिए, अपने अधिकारो के लिये, अपने जीवन के लिये शोषकों से लड रहा है, उसे प्रेमकहानी पसन्द आयेगी? किन्तु यह तथ्य नही है। शोषित और संघर्षरत व्यक्ति भी मानव है, 'आटोमैट' नहीं जो सदा एकही बात सोचता रहेगा। पेट की भूख के अतिरिक्त मानसिक भूख उसे भी लगती है, इसका अकाट्य प्रकार प्रत्येक देश के लोकगीत और लोककथाये है। लोकगीत और लोककथाये बुर्जुआ वर्ग की रचनाये नही है, ये प्रत्येक देश और काल के शोषितो की, सर्वहारा वर्ग की रचनाये है। कोई नहीं कह सकता कि ये रचनाये यथार्थ का चित्रण नही है। इनमे हमे जन-जीवन की सच्ची झाँकी देखने को मिलती है। यह कट्टर से कट्टर प्रगतिवादी भी स्वीकार करेगा कि लोकसाहित्य मे केवल संघर्ष और रोटी-कपडे की ही बातें नही है। मानव

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, रोमांटिक साहित्य शास्त्र, पृ० १४५।

२, कल्पना-सम्पादकीय अक्टूबर १९५२, पृ० ७४३।

जीवन मे प्रेम-तत्व का पाया जाना चिरन्तन सत्य है, फलस्वरूप साहित्य के अन्दर रोमास उतना ही शाश्वत है जितना कि साहित्य मे मानव ।'[1]

मैंने इसकी चर्चा अन्यत्र की है कि कल्पना और रोमाटिक काव्य का परस्पर कितना गहरा सम्बन्ध है। यथार्थवाद जो कि एक प्रकार के काल्पनिकता के विरोधी अर्थो मे प्रयुक्त किया जाता है, यदि उसे भी हम गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो वह भी कहीं-कहीं कल्पना का दामन नही छोड पाता। अँग्रेजी साहित्य मे आजकल यथार्थवाद का स्वरूप बहुत कुछ बदल गया है। वह अब कल्पनामय और रहस्यमय हो गया है और उसमे बहुत सी ऐसी वस्तुयें प्रवेश पा गई है, जो कि सत्य से बहुत दूर और असम्भव तथा अविश्लेष्य मालूम पडती है। परन्तु यथार्थवाद के समर्थक अब भी यही कहते है, कि हमने सत्य के अन्वेषण के लिए अपने क्षेत्र को और अधिक विस्तृत कर लिया है जिसमे साहित्य की पुरानी लीक पर चलने की कोई आवश्यकता नही। मायर्स ने अनुसार तो वास्तववाद ने ही अपने नग्न, निकृष्ट और नीरस वाग्विस्तार को अधिक से अधिक अर्थ-गर्भित बनाने के लिए प्रतीकवाद का रूप धारण कर लिया है।

कितने वास्तववादी लेखक आगे चलकर स्वयं प्रतीकवादी बन गये है। प्रभाववादी कवि उस घटना का वर्णन करते है जो निरपेक्ष दृष्टि से उनके हृदय पर अपना प्रभाव डालती है, जबकि यथार्थवादी उसका तद्वत् वर्णन कर देता है। वह प्रभाववादियों की भाँति हृदय पर पडे हुए प्रभावों के अनुसार नहीं करता। 'चित्रकार जब चित्र बनाने बैठता है तब वह तथ्य का सम्वाद देने नहीं बैठता। वह तथ्य को उसी हद तक स्वीकारता है, जिस हद तक उसको लक्ष्य करके किसी एक सुषमा का छन्द विशुद्ध रूप मे मूर्त हो उठता है। यह छन्द विश्व का नित्य पदार्थ है। इस छन्द के ऐक्य सूत्र मे ही हम तथ्यो के सत्य का आनन्द पाते है। इस विश्व छन्द के आलोक मे बिना उद्भासित हुए तथ्य का हमारे लिये कोई मूल्य नही।'[2]

यथार्थवादी लेखक जैसे 'बालजाक' या 'टालस्टाय' अपनी रचना की अन्तिम प्रश्नावली को समाज की सबसे महत्वपूर्ण तथा नवीनतम समस्या से चुनते है और वही से उनकी रचना का आरम्भ भी होता है। जन-समुदाय की कठिनाई जो उस समय तीव्रतम रूप मे सामने रहती है,

---

१ हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० १६, १७।

२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रसाहित्य, भाग २४, अनु० हसकुमार तिवारी, पृ० ४३, ४४।

उसी के प्रति सहानुभूति एवं उदारता दिखलाने के लिये वे अपने साहित्य की सृष्टि करते है। यही कठिनाइयाँ तथा दर्द उनके अनुराग अथवा घृणा का स्वरूप निश्चित करते है और इसी भावुकता के द्वारा ही उनकी कल्पनात्मक दृष्टि का निर्माण होता है, तथा उसी से पता चलता है कि उन लोगो ने इसे किस प्रकार और कैसे देखा है। यही देखने की दृष्टि की विशिष्टता ही यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के स्वरूप मे अन्तर डालती है। जो लोग इसका प्रयोग विरोधी अर्थो मे करते है उनका दृष्टिकोण नितान्त भ्रमात्मक है। उनका यह कहना कि यथार्थवादी साहित्य अपनी विषय-वस्तु काल्पनिक ससार से न लेकर वास्तविक ससार से लेता है, कोई मूल्य नहीं रखता क्योंकि यथार्थवादी लेखक अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा के बल पर बाह्य पदार्थों का यथातथ्य चित्र उपस्थित करने का भी प्रयत्न करता है अथवा भौतिक तत्वों का चित्रण करते समय अपनी भावुकता तथा अपनी अनुभूतियों को बाधक नही होने देता और यही कल्पना, भावुकता तथा कवि की अनुभूतियाँ ही रोमाटिक काव्य की जननी है। जब हम यह स्वीकार करने मे नहीं हिचकते कि 'यथार्थवाद यथार्थता की आधारभूमि पर जीवन का नूतन चित्र है'[1], तो हमे यथार्थवाद और स्वच्छन्दतावाद के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार करना ही होगा।



१. लेखक का हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद, पृ० ७।

(क्लैसिकल) रीतिवाद और स्वच्छन्दतावाद

भ्रान्तियाँ—पाश्चात्य साहित्य के अन्दर दो परस्पर विरोधी शब्द 'क्लैसिक' और 'रोमाटिक' बहुत दिनो से प्रयुक्त होते आ रहे हैं। दार्शनिक अथवा चिन्तक चुपके से इन दोनों शब्दों के प्रयोगों की अवहेलना कर जाते हैं। परन्तु ये शब्द दोपरहित तर्कों के साथ विद्वानो के सामने उसी प्रकार मॅडराया करते है जैसे प्रेत-भावना। प्रेत-भावना की भॉति, न चाहते हुये भी हठात् उनका प्रवेश हो ही जाता है, जिनको शब्दो मे बॉधना अत्यन्त कठिन है, और उसके साथ ही साथ वे अत्यन्त थका देने वाले होते है तथा किसी भी प्रकार से उनसे पीछा नहीं छुडाया जा सकता। व्याकरण-विशेषज्ञो ने साहित्य मे इनको उपयुक्त स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है तथा जहॉ तक हो सका है इनके निश्चित स्थान को निर्धारित करने का भी प्रयत्न किया है और उनकी श्रेणी निश्चित करने तथा एक निश्चित परिभाषा देने की भी चेष्टा की है। विद्वानों के स्तुत्य अथक प्रयत्नो के बाद भी उन्हे एक प्रकार से असफलता ही मिली है और वे इन शब्दो की स्पष्टता घोषित नहीं कर पाये। अन्त मे विद्वानों ने अथक प्रयत्न करने के पश्चात् यह परिणाम निकाला कि वे भ्रान्ति से अब तक छाया को एक ठोस पदार्थ समझते रहे है।

प्रोफेसर एलन (Ellon) इन्हे विचारों को घबडा देने वाले (Thought confounding words) शब्द कहा है। क्लैसिकल की अधिकाश परिभाषाये अनेक अवसरों पर रोमाटिक के साथ प्रयुक्त हुई हैं और स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) की अधिकाश परिभाषाये कुछ उद्दण्डता-पूर्ण अपवादो के साथ रीतिवाद (Classicism) के लिये प्रयुक्त हुई है। इन शब्दों को लेकर विवाद इस सीमा तक पहुँच गया है कि क्लैसिकल और रोमाटिक शब्दो की परिभाषा एक दूसरे के विरोधी अर्थों मे ही नहीं बल्कि विचित्र तथा निरर्थक विचारों के लिये भी की जा रही है।

प्राचीन तथा विभिन्न अवसरों पर उठे इन शब्दों के विवादों की पुनरावृत्ति करना उचित नही क्योकि इस विषय की व्याख्या विभिन्न विरोधी रूपो मे अनेक प्रकार से की जा चुकी है। अल्फ्रेड डी मुसेट (Alfred de muset) नामक विद्वान ने सन् १८३६ ई० मे इसकी व्याख्या अत्यन्त ही चपलतापूर्ण चातुरी के साथ की है जिसके अनुसार रोमाटिक शब्द का प्रयोग केवल ड्रामा के लिये ही होना चाहिए। उसने शेक्सपियर को रोमाटिक माना है क्योकि उसने परपरागत सीमा का उल्लघन किया और उसके पात्र चमत्कारिक ढङ्ग से १५ मिनट मे ही लन्दन से एथेन्स तथा अलेक्जेन्डरिया की लम्बी यात्रा समाप्त कर आते है। परन्तु शीघ्र ही वह यह भी स्वीकार कर लेता है कि रोमाटिक और क्लैसिकल कवितायें तथा उपन्यास और सगीतमय छोटी कवितायें भी थी। इस प्रकार की कठिनाई 'डी सुमेट' तक ही नही सीमित है। जे० जे० राबर्टसन् ने १९२३ मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गम्भीर रचना 'स्टडी इन दी जेनेसिस आफ रोमाटिक थियरी इन दी एटीन्थ सेन्चुरी' (Study in the genesis of the romantic theory in the eighteenth century) नाम से यह दिखलाने के लिए प्रस्तुत किया कि स्वच्छन्दतावाद का आरम्भ इग्लैण्ड मे अठारहवीं शताब्दी मे हुआ जिसे इग्लैण्ड के विद्वानों ने एक मात्र इटली के एक छोटे से आलोचक सम्प्रदाय से प्राप्त किया था। उसी वर्ष बोलोगन मे 'टाफेनिन' ने एक रचना प्रस्तुत की जिसमे उसने सुझाव रखा कि उपरोक्त इटली के आलोचक समुदाय को क्लैसिक भी कहा जा सकता है। अत: स्वभावत यह प्रश्न उठ खडा होता है कि वे आलोचक किस वर्ग के थे ? वे स्वच्छन्दतावादी थे अथवा रीतिवादी, उन्हे क्लेसिक कहा जाय अथवा रोमाटिक ?

इस प्रकार हम देखते है कि क्लैसिकल और रोमाटिक के सम्बन्ध मे जो विवाद उठता रहा है वह केवल इसके पारस्परिक विरोधी अर्थों को लेकर ही नही बल्कि इस सीमा तक भी उतर आया है जो विचित्र तथा निरर्थक तर्कों का भी रूप ग्रहण करता रहा है। रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने का अर्थ होता है एक निश्चित नियमो, निश्चित प्रकारों तथा अभिप्राय को स्वीकार करना। रीतिवादी परम्परा के आदर्श भी निश्चित होते है। साहित्य मे रीति सम्प्रदाय पुरातनवादियों का सम्प्रदाय है। इसके अतिरिक्त स्वच्छन्दतावाद का अभिप्राय स्वीकार करना नहीं बल्कि बहिष्कार करना होता है। यह शाब्दिक अर्थ का आविष्कार तथा साकेतिक अर्थों की खोज करता है और

दृश्य छोडकर अदृश्य की ओर कल्पना करता है तथा यह परपरागत निश्चित नियमों के असन्तोष से उद्भूत है। एक ओर जहाँ सस्कृत नियमो को स्वीकार कर लेना ही रीतिवाद है, वहीं दूसरी ओर स्वच्छन्दतावाद असस्कृत अथवा प्राकृतिक इच्छा का नाम है।

राल्फ इ० सी० हाटन (Ralph E C Houghton) के अनुसार 'सभी महान साहित्य की साधारणत एक ही विशेषता है, वह है सौन्दर्य, चाहे वह रीतिवादी हो अथवा स्वच्छन्दतावादी। सौन्दर्य की खोज मे सामान्यतः सत्य तथा रूप की पूर्णता पर रीतिवाद अत्यधिक ध्यान देता है किन्तु स्वच्छन्दतावाद चटकीलेपन, सकेत और रहस्य पर अधिक ध्यान रखता है।'[1] रीतिवाद हमे अनावश्यक विवरण नही देता और यह आशावाद तथा निराशावाद के अधिक्य से परे है, इसके प्रतिकूल स्वच्छन्दतावाद मे सभी बाते पाई जाती है।

अग्रेज कवि कीट्स, जिसकी गणना स्वच्छन्दतावादी कवियो मे की जाती है, काव्य के सौन्दर्य पर अधिक बल देता है और उसके अनुसार 'कविता के लिये आवश्यक है कि वह सौन्दर्याधिक्य से हमारा रजन करे।'[2]

वह रीतिवाद की सुन्दरता का समर्थक था जो उन पहाडी चोटियों की सुन्दरता के समान है जिसमे वैभवशाली उपत्यकायें भी हो।

क्लैसिक और रोमांटक मे भेद

क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय साहित्य काव्य की शैली तथा प्रकार पर अधिक बल देता है। इसके मूल मे केवल साहित्य-रूप की सुन्दरता (Beauty of form only) विद्यमान रहती है। उपरोक्त शब्द केवल यही अर्थ नही रखता क्योंकि साहित्य मे तो इसका प्रयोग होता ही है, इसके अतिरिक्त कला मे चित्रोपमता लाने के लिये तथा सगीत आदि मे भी यह प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका वास्तविक महत्व काव्य रूप के लिये ही है। जे० सी० फिलमन, जिसने शास्त्रीय सगीत के सम्बन्ध मे अपनी रचनायें प्रस्तुत हैं, के अनुसार

---

1. "The common quality of all great literature whether Classic or romantic is beauty, but in seeking beauty classicism looks more to truth, simplicity and perfection, of Form, romanticism to colour suggestion and mystery. (Rolph E C. Houghton)
2 "Poetry should delight us by a fine excess" (Keats).

इसमे प्रकार (Form) अथवा रूप मुख्य है और वर्ण्यविषय उसके आश्रित है। किन्तु रोमाटिक साहित्य भावुकताप्रधान होता है और उसमे वर्ण्यविषय की प्रधानता होती है और रूप अथवा प्रकार उसके आश्रित है। हृदय के वेग भरे उमडन से ओत-प्रोत होकर जब प्राणों की आकुलता कवि की वाणी के माध्यम से बरबस फूट निकलती है तो उससे जिस साहित्य की सृष्टि होगी वह रोमाटिक अथवा स्वच्छन्दतावादी साहित्य होगा। इसके अन्दर अभिव्यक्ति का इतना प्रबल वेग होता है कि शास्त्रीय साहित्य की लौह दीवारें इसे रोक न सकने के कारण छिन्न-भिन्न हो जाती है। और स्वच्छन्दतावादी साहित्य की कविता-कामिनी निर्बन्ध रूप से कल्पना-प्रागण मे विचरण करने लग जाती है। जिसके अन्दर स्वच्छन्दता होगी और जो सबसे महत्वपूर्ण वस्तु होगी वह कवि की आन्तरिक अनुभूति है जो प्रत्येक महान् कविता अथवा साहित्य का मूल तत्व है।

क्लैसिक अथवा शास्त्रीय साहित्य की सारी समस्याये शैली की समस्या है। आधुनिक क्लैसिक कविताओ से हमारा तात्पर्य उन कविताओं से है जिनका एक निश्चित स्वरूप है तथा एक निश्चित शैली है और वे शास्त्र-विहित नियमों की कसौटी पर खरी उतरती है। परन्तु रोमाटिक कविताओ मे आतरिक प्रेरणा महत्वपूर्ण है, वह शैली के सम्बन्ध मे एक भी शास्त्रीय बन्धन स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है। अनुभूति और कल्पना को जिस प्रकार श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति मिल सके स्वच्छन्दतावादी साहित्य की वही विहित शैली है जिससे यह साहित्य एकरसता और एकरूपता को दूर से ही नमस्कार करता है। इसका अपना एक अनिश्चित सौन्दर्य जो परिवर्तित होते रहने के कारण सदैव ताजा रहता है, जूठा होता ही नहीं, इसके अतिरिक्त इसमे ऐसा असाम्य पाया जाता है कि जिसे स्वीकार तथा पसन्द करने का लोभ छोडा ही नही जा सकता।

'गेटे' शास्त्रीय तथा स्वच्छन्दतावादी को एक दूसरे से भिन्न नहीं मानता उसके अनुसार दोनों मे परस्पर गहरा सम्बन्ध है। रोमाटिक आन्दोलन ने साहित्य के इतिहास मे एक नवीन सुन्दर काव्य-शैली का प्रादुर्भाव किया है और यह भी बिल्कुल निश्चित है कि केवल शैली के आधार पर रची कविता को क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय कविता नहीं कहा जा सकता। गेटे की उक्ति मे सत्य का विशेष अश देखा जाता है क्योंकि सुन्दर से सुन्दर आकर्षक शव निष्प्राण होने के कारण आकर्षण की वस्तु नहीं बन सकता और वह आकर्षक

तभी हो सकता है जब दोनों, यानी प्राण और रूप, का समन्वय हो। कोई भी कविता शैली की सुन्दरता के कारण ही आकर्षक नहीं बन सकती यदि उसमे सजीवता नहीं है।

आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है, 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। जो सम्बन्ध शरीर का आत्मा के साथ है, वही शब्द-अर्थ-रूप काव्य-शरीर का रीति के साथ है। रीति का अर्थ है 'विशिष्ट पदरचना रीतिः'। विशिष्ट का अर्थ है गुणयुक्त 'विशेषोगुणात्मा'। इस प्रकार रीति का अर्थ हुआ—गुणसम्पन्न पद रचना और 'रीतिरात्मा काव्यस्य' का अर्थ हुआ, 'गुणसम्पन्न पदरचना काव्य की आत्मा है।'[1]

इस प्रकार वामन ने काव्य मे रीति (शैली) को ही प्रधानता दी है। शैली कविता का बाह्य स्वरूप है, वह कविता की आत्मा अथवा कविता की सर्वस्व नही हो सकती। यह काव्य का ऐसा उपादान है जिसके द्वारा काव्य का सौन्दर्य निखरता है। सौन्दर्य के प्रति समाज का दृष्टिकोण स्थान, काल तथा सभ्यता के अनुसार बदलता रहता है। जिस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव अपने शृगारसम्बन्धी साधनो मे परिवर्तन लाता गया उसी प्रकार काव्य सौन्दर्य के प्रति परिवर्तन की पुकार आवश्यक ही है। यदि काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण बदल जाता है तो आधुनिकतम स्वीकृत काव्य-रूप को हमे शैली का स्थान देना ही पडेगा, उसके लिए नाम की व्यवस्था हम चाहे जो कर ले। चाहे हम उसे नवीन शास्त्रवाद कह लें अथवा स्वच्छन्दतावाद या नवीनतावाद। कविता 'जीवन के व्यापक और साधारण सत्यो को विशिष्ट रूप देकर इस तरह से अभिव्यक्त करती है कि वे हर एक के लिए प्रेषणीय और ग्रहणीय हो जाते है। पर इन सत्यो को हम किस प्रकार प्राप्त करते है और किस ढङ्ग से उन्हे अभिव्यक्त कर प्रेषणीय बनाते है इसमे अन्तर हो सकता है। अत इस अन्तर के कारण विभिन्न कवितायें हो सकती है।[2] यही कारण है कि जब साहित्य शास्त्र के बन्धन समय से पीछे पड जाते है तो उनकी सीमा अखरने लगती है और युग की पुकार उस बन्धन को तोड डालने के लिए वास्तविक उद्‌गारों को आमन्त्रित करती है।

---

१. डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका, पृ० ९।

२. श्री देवराज उपाध्याय, रोमाण्टिक साहित्य शास्त्र।

कालानुसार परिवर्तन क्रम अपनी स्वाभाविक गति से चलता रहता है -जिसे हम तत्क्षण देख नही पाते और यह परिवर्तन देशकाल की सीमा से परे होता है। 'अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते अनेक आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक कारणो से काव्य-दर्शन मे भी मौलिक परिवर्तन आरम्भ हो गया। कान्ट, फिक्टे, शेलिंग आदि जर्मन दार्शनिकों ने दृष्टि को वस्तु से हटाकर आत्माभिमुख कर दिया। इन दार्शनिको के प्रभाव से काव्य मे विवक और रीति के स्थान पर अन्त'प्रेरणा, अन्तर्दृष्टि, अन्तर्प्रकाश, कल्पना, आनदातिरेक आदि का प्राबल्य घोषित हुआ। बाह्यरूप का वस्तुगत सौन्दर्य केवल छाया सौन्दर्य रह गया। इस प्रकार इस युग मे रीति सिद्धान्त पर सबसे अधिक घातक प्रहार हुआ। आत्मा के इस अग्निद्रव मे कविता के बाह्य अलकरण शृङ्गार अनायास ही भस्म हो गये। परन्तु इस युग की कविता अलकृत है—यह बात नही है।'[1]

यह विश्वास बहुत दिनो से चला आ रहा है कि हमारा सारा ज्ञान वस्तु के अनुरूप होना उचित है परन्तु अब इस बात पर विचार करने का अवसर आ गया है कि क्या मानव की उन्नति के लिये इसके प्रतिकूल यह धारणा श्रेष्ठतर नही है कि वस्तु को हमारे ज्ञान के अनुकूल होना चाहिये। काव्य का स्वय अपने मे कोई स्वरूप नही है उसकी अभिव्यञ्जनशक्ति ही उसको वास्तविक स्वरूप प्रदान करती है। अभिव्यञ्जना का महत्व अपने आप मे कोई नवीन उद्भावना नही है वह बहु कुछ समय तथा समाज के सुसस्कृत विचारों पर आधारित है। काव्य की सामाजिक उपादेयता जिस रूप मे अक्षुण्ण रहे वही काव्य का सर्वोत्तम स्वरूप और वही काव्य का श्रेष्ठ शास्त्रीय रूप अथवा प्रकार है। इस दृष्टि से काव्य को परखने अथवा देखने से हमे जर्मन विद्वान गेटे की पूर्वोक्तियाँ अक्षरश सत्य लगती है कि रीति अथवा शास्त्रीयवाद तथा स्वच्छन्दतावादी अथवा रोमाटिक साहित्य का एक दूसरे से परस्पर गहरा सम्बन्ध है।

क्लैसिकल अथवा शास्त्रीय काव्य के लिये जो शैली की समस्या प्रधान मानी गयी है उसके सम्बन्ध मे अग्रेज विद्वान् 'फ्लाबर्ट' का मत अत्यन्त उदारवादी है और यदि काव्य मे शैली की समस्या उसकी दृष्टि से मानी जाय तो रूप को लेकर स्वच्छन्दवादी साहित्य और रीतिवादी साहित्य मे जो कटु विरोध चलता रहता है किसी अश तक समाप्त हो सकता है। फ्लाबर्ट

१ डा० नगेन्द्र, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र की भूमिका।

के अनुसार 'शैली की समस्या वहाँ यह थी कि केवल एक ही अद्वितीय शब्द, वाक्यांश, वाक्य, अनुच्छेद, निबन्ध या गीत—कुछ भी हो उस कामना की छवि या मन के चित्र के साथ पूर्णत' तादात्म्य हो।' इस प्रकार यदि मन की छवि स्वतन्त्र रूप मे यदि शास्त्रीय शैली के माध्यम से सम्भव हो सके तो क्लसिकल काव्य और रोमाटिक काव्य मे अन्तर ही क्या रह जाता है। इसी लिये अलकार, शाब्दिक चमत्कार तथा अन्य प्रसाधन जो अभिव्यञ्जना के अभिन्न अङ्ग नही है—जिनका पृथक् अस्तित्व है, शैली का वास्तव मे उपकार नहीं करते। वे उसकी मूलभूत एकता को नष्ट कर देते है। 'शब्द का औचित्य वही सिद्ध होता है जहाँ वह अर्थ के साथ तदाकार हो जाता है।' 'वामन' के अनुसार गुण और अलङ्कार दोनो सौन्दर्य के अङ्ग है। गुण काव्य के आन्तरिक एव अविच्छेद्य अग है, अलङ्कार बाह्य तथा विच्छेद्य। यही धारणा 'रैले' की अलङ्कार तथा प्रसाधन के सम्बन्ध मे है।

सच तो यह है कि 'रैले' का अलङ्कार हमारे काव्य-शास्त्र की वक्रता के और भी निकट है। उक्ति की वक्रता को ही उसने अलङ्कार की सज्ञा दी है और अप्रस्तुत विधान को प्रसाधन की। और यही अप्रस्तुत विधान 'छाया-वाद' का मूलमन्त्र है जिसे हम स्वच्छन्दतावाद से भिन्न नही कह सकते। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद की चर्चा हम अन्यत्र अवसर आने पर करेंगे जिससे यहाँ इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि यदि दोनों अभिन्न नहीं है तो भिन्न भी नहीं कहे जा सकते। भ्रातिवश रोमाटिक और क्लैसिक शब्द जो एक दूसरे के विरोधी अर्थों मे प्रयुक्त होते चले आ रहे है यदि इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह परिणाम निकलेगा कि ऐसा असाव-धानी के कारण हुआ है तथा काव्यगत रूढ़ियों के प्रति अन्धविश्वास की भावना ही इसके लिये उत्तरदायी है।

कौन सी वस्तु सुन्दर है और कौन सी वस्तु असुन्दर, इसका कोई ठोस परिमाण नही है और न कुछ निश्चित ऐसे नियम ही है जिनके आधार पर हम सुन्दर और असुन्दर का निर्णय कर दें। इस प्रकार के निर्णय मे वैयक्तिक तथा सामाजिक रुचियाँ महत्वपूर्ण कार्य किया करती है। एक स्थान और एक समय मे ही ऐसे व्यक्ति सरलता से मिल जायेंगे जिनकी रुचियाँ भिन्न हो सकती है। जो वस्तु किसी एक व्यक्ति के लिये सर्वोत्तम होगी वही दूसरे के लिये सुन्दर भी नहीं हो सकती। कहते है, लैला सुन्दर को कौन कहे कुरूप थी किन्तु मजनूँ की निगाह मे वह खुदा से भी बढ़कर थी। यदि किसी को

शृङ्गारिक कविता अधिक पसन्द है तो उसी समय दूसरे को वीर रस की कविता अधिक अच्छी लग सकती है। उदाहरण के लिये हम हिन्दी साहित्य अथवा किसी भी साहित्य के इतिहास को ही ले सकते हैं। हिन्दी साहित्य के अन्दर प्रवृत्तियों के आधार पर जितने कालों का नामकरण हुआ है उन सबो मे यदि देखा जाय तो सम्पूर्ण रचनाये एक प्रकार की ही नहीं हुई है बल्कि हमे सभी प्रकार की कविताओ के नमूने मिल सकते है। वीरगाथा काल मे भक्ति और शृङ्गार, भक्तिकाल मे वीर और शृङ्गार तथा रीति काल मे वीर और भक्ति रस की रचनाएँ प्रचुर मात्रा मे मिल सकती है। इससे स्पष्ट है कि रुचि वैभिन्य का होना अनिवार्य है जिससे इसमे भी सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के प्रति सबका दृष्टिकोण भी भिन्न हो सकता है चाहे वह शैली का सौन्दर्य हो अथवा काव्यगत अभिव्यक्ति का।

किसी वस्तु को सुन्दर और असुन्दर हम अपने देखने के अभ्यास से कहते हैं और इसी आधार पर सम्भवत· कालविशेष मे सुन्दर काव्य के स्वरूप की रूपरेखा निश्चित की गयी होगी। पाश्चात्य साहित्य के अन्दर अरस्तू के पूर्व साहित्य की विशेषताओं की विवेचना करने की कोई सामान्य कसौटी नही थी जिस पर कसकर यह कहा जा सका हो कि अमुक काव्य सुन्दर अथवा अमुक असुन्दर है। अपनी रुचिविशेष के कारण ही विद्वान किसी भी कविता पर रीझ कर उसकी प्रशसा कर दिया करते थे और यदि कविता उन्हें अच्छी नहीं लगी तो उसे असुन्दर घोषित कर देते थे। इस प्रकार हम देखते है कि काव्य के सम्बन्ध मे जो निर्णय दिये जाते थे वे पूर्णत: वैयक्तिक थे और आज का कवि जिसे हम रोमाटिक कहते हैं, वह भी कविता को पूर्णतया वैयक्तिक अनुभूति मानता है। यह बात दूसरी है कि कवि की साधना की प्रौढता के कारण उसकी वैयक्तिक अनुभूति वैयक्तिक न रहकर सर्व-साधारण की अनुभूति बन जाय। तुलसीदास जी ऐसे मर्यादावादी कवि भी कविता को "स्वात·सुखाय' मानते थे। 'अरस्तू' के सामने यह एक समस्या थी कि किस प्रकार पूर्ववर्ती विद्वान बिना आधार के अपना निर्णय जोरदार शब्दों मे सुना दिया करते थे। इसे देखकर उससे न रहा गया और काव्य के सम्बन्ध मे उसने कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना चाहा। "उसका मनोवैज्ञानिक दिमाग बहुत सुलझा हुआ था और उसने सोचा कि बिना कारण के कार्य नहीं हो सकता। क्यो कोई रचना हमारे मर्म को स्पर्श कर हिला देती है और क्यो दूसरी रचना हमारे ऊपर ही ऊपर निकल

जाती है; छूती तक नहीं, इसके उचित कारण अवश्य होने चाहिये—उसने देखा कि सब कला-कृतियों मे चाहे और कुछ न भी हो पर इस रूपविन्यास और आगिक सगठन की ओर उदासीनता कभी नहीं दिखाई गई है। मूर्तिकला को देखने से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है उसने एक बात अनिवार्य रूप से पाई। वह थी अनेकत्व (Unity in diversity)। किसी वस्तु को देखने का हमारा एक अभ्यास होता है जिसका एक सन्तुलन होता है, जैसे मनुष्य का शरीर ही है। मनुष्य भिन्न प्रकार के होते है पर उनकी निश्चित रूपरेखा होती है जिससे हमे किसी भी मनुष्य को मनुष्य कहने मे कठिनाई का अनुभव नही होना।"[1]

रोमाटिक या स्वच्छन्द शैली आधुनिक युग की काव्य धारा का मूलाधार है। इसके विपरीत क्लैसिक या रीतिवादी शैली पुरातन काव्य-रचना-विधान की समर्थक है। यद्यपि उस पर भी युग की बदलती हुई परिस्थितियो का प्रभाव पडा है। १५ वी १८ वी शताब्दी तक यूरोप मे प्राचीन ग्रीक कला की बाहरी रूपरेखा का त्याग उसकी आत्मा या मूल प्रेरणा को ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढती गई। उसी नवीन कला-आन्दोलन ने क्लैसीसिज्म को न्यू-क्लैसीसिज्म का नाम दे दिया। १८ वीं शताब्दी की फ्रासीसी राज्यक्राति ने इस कलावादी आन्दोलन को और भी गति दी। प्राचीन परम्परा गत सस्कारो की इतिश्री के साथ ही साथ साहित्य मे भी परिवर्तन हुआ, जिससे एक अभिनव कला-परिपाटी का जन्म हुआ, जिसे ही स्वच्छन्द कला के नाम से पुकारते हैं। इस नवीन स्वच्छन्दतावादी शैली के कवियो ने पूर्व परम्परा का अतिक्रमण किया और उनकी कल्पना नवीन दृष्टिकोण एवं नवीन स्वतन्त्र रूपो के आधार पर व्यक्त हुई। रोमाटिक काव्य शैली मे परम्परा के प्रति विद्रोह था। इगलैण्ड मे शैली और कीट्स, फ्रास मे रूसो और जर्मनी मे गेटे एव वीकेलमैन इस नवीन स्वच्छन्दधारा का उन्नयन कर रहे थे। विपरीत ग्रीक कला के समर्थक लेसिङ्ग जैसे विद्वान परम्परावादी शैली का समर्थन कर रहे थे। परम्परावाद या रीतिवाद काव्यधारा कला के व्यक्त सौन्दर्य-प्रसाधनो का आग्रह करके चलती है। काव्य के आन्तरिक सौन्दर्य पर इसका ध्यान कम रहता है और बाह्य सौदर्य अर्थात् शब्दो और आकृतियों पर अधिक। काव्यगत भावो की उपेक्षा और उसके बाह्य रूप की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाबन्दी इसका अतिवादी छोर है। क्लैसिस्ट कवि रूप का प्रेमी होता

---

१. श्री देवराज उपाध्याय, रोमाटिक साहित्य शास्त्र, पृ० ९।

है। वह अपने काव्य मे परिपूर्णता की कल्पना साकार मूर्ति के सौन्दर्य में करता है।

रीतिवादी शैली के अन्तर्गत केवल बाह्य रूपों और नियमो का अन्धानुकरण आता है। इसके विपरीत स्वच्छन्दतावादी शैली, रीतिवादी शैली के विरुद्ध एक विद्रोह है। इस शैली के ऊपर फ्रासीसी राज्यक्रान्ति और तत्कालीन जागरण युग का बडा प्रभाव पडा है। जिस प्रकार फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ने सामन्तवादी समाज के प्राचीन रूढिबद्ध रूप को समाप्त करके एक नवीन समाज की रचना की, ठीक उसी प्रकार इस शैली के कवियो ने प्राचीन ग्रीक कला के बाह्य सौन्दर्य और रूढिगत नियमो को समाप्त करके एक अभिनव कला-परिपाटी को जन्म दिया। उस शैली के अन्तर्गत नवीन स्वच्छन्द काव्य प्रेरणाओ ने विद्रोहात्मक और अराजकतापूर्ण काव्यपद्धति का निर्माण किया है। आधुनिक युग की काव्य धारा का आधार यही रोमाटिक शैली है। यह काव्यधारा अत्यन्त अनियमित पद्धति एव सयम-रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य मे भावना के अतिरेक से जो असयम आता है, नियमों की जो अवहेलना की जाती है, काव्य के शरीर पक्ष की जो उपेक्षा की जाती है, वही रोमाटिक कविता का अतिवादी छोर है। रोमाटिक कवि क्लैसिक कवि की भॉति बाह्य सौन्दर्य एव रूप का प्रेमी नही होता। उसकी प्रेरणा आन्तरिक होती है। वह रूप और अनन्त मे रमता है। क्लैसिक कवि कला की परिपूर्णता साकार मूर्ति के सौन्दर्य मे देखता है किन्तु रोमाटिक कवि अज्ञात परिपूर्णता का अभिलाषी होता है।

स्वच्छन्दतावाद मे रीतिवाद अथवा परम्परावाद की भॉति वस्तु का उदात्त होना आवश्यक नही। साधारण वस्तु ही उसके अन्दर काव्यात्मक चित्रण बनने की क्षमता रखती है। इस काव्य-पद्धति के अनुसार काव्य में प्रयुक्त होनेवाली भाषा और छन्दो का भी कोई बन्धन नहीं माना गया है। स्थिति और भाव के अनुरूप भाषा और छन्द भी विभिन्न रूपों वा सॉचों मे ढाले जा सकते है। आकृति का सौन्दर्य काव्य या कला की श्रेष्ठता की माप-रेखा नहीं उनके अन्तरगत भावाभिव्यञ्जना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यही रोमाटिसिज्म का आधारभूत सिद्धान्त है।



छायावाद और स्वच्छन्दतावाद

लोक प्रचलित भावों तथा शब्दो के वैभिन्न्य के कारण रहस्यवाद, छायावाद तथा स्वच्छन्दतावाद का नाम पर्याय रूप मे न लेकर थोडे-थोडे अन्तर के साथ लिया जाता है यद्यपि उन्हे यदि एक काव्यधारा के रूप मे देखा जाय तो नितान्त एकरूपता दिखलाई पडेगी। इन तीनो शब्दो की यद्यपि साहित्यक प्रेरणा एक है फिर नाम भेद के कारण आये हुए अन्तर के मूल मे कौन सी वस्तु है इसको जानने के लिये इनके परिस्थितिजन्य विकास को जानना अति आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के लिये रहस्यवाद शब्द छायावाद से प्राचीन है यद्यपि 'निराला जी' छायावाद की उत्पत्ति का सूत्र पुराणो से जोडते है किन्तु छायावाद नाम से जानी जाने वाली साहित्यिक विचारधारा पूर्व मे नही थी, जब कि रहस्य-वाद के नाम पर जानो जानेवाली अनेक धाराएँ हमे पूर्व के साहित्य मे मिल जाती है, भले ही उनका यह रूप न रहा हो जो हमारे सामने है। आज के रहस्यवाद शब्द से जो जाना जाता है पूर्व मे नही जाना जाता था। पहले भक्त या सत इसे पराविद्या कहते थे परन्तु यदि आज के अर्थ मे देखा जाय तो वह पराविद्याभक्ति से भिन्न है। वह तो रहस्यवादी कविता मे ही मिलतो है। इसमे प्राय प्रतीक अपनाए जाते है। जैसे परम सत्ता को पारस कहा गया है। जायसी ने और आज के कवियों ने भी इस प्रतीक को यथावत् ग्रहण कर लिया है। कबीर ने उस परम सत्ता के लिये हीरे का रूपक बाँधा है। आज भी हीरे को परम सत्ता के स्वरूप मे देखा जाता है। असीम को ससीम मे सभी बाँधना चाहते है। मनुष्य पूर्णता

चाहता है। यह भावना पहले भी थी, आज भी है और आगे भी रहेगी। किन्तु रहस्यवाद शब्द से आज जो अर्थ हम लेते है वह मूलतः आधुनिक काव्यधारा है, जिसका अस्तित्व १९२० के पूर्व हिन्दी साहित्य मे नहीं था। 'शुक्ल' जी ने तो काव्य मे रहस्यवाद माना ही नही है और हजारीप्रसाद-द्विवेदी ने तो कबीर तक मे भी रहस्यवाद नही माना है। यह शब्द आरम्भ मे उन कविताओ के लिये प्रयुक्त हुआ जिनमे अज्ञात सत्ता की झलक मिलती थी, जिसका चित्रण प्रतीको के द्वारा होता था, जिसे कभी छायावाद के नाम से पुकारा गया। सन् १९३० तक जाते-जाते अंग्रेजी साहित्य का (Mysticism) शब्द हिन्दी रहस्यवाद के लिये रूढ़ि हो गया और रोमाटिसिज्म के लिये छायावाद शब्द प्रयुक्त होने लगा। छायावाद शब्द का प्रयोग जिन अर्थो मे हुआ वह एक बहुत बडी काव्यधारा है जिसमे रहस्यवाद एक प्रवृत्ति या मनोवृत्ति या मनोवृत्ति विशेष है।

जिस रोमाटिसिज्म के लिये हिन्दी साहित्य मे छायावाद शब्द का प्रयोग हुआ वह नामकरण अत्यन्त भ्रामक है क्योकि वह नाम इसके समर्थको का नहीं बल्कि विरोधियो का दिया हुआ है, जो इसे केवल आडम्बर तथा कुछ चुने चुनाए शब्दों का झूठा व्यापार मानते थे। यह प्रवृत्ति बगला साहित्य मे हिन्दी साहित्य से पहले आई जिसकी छाया आगे चलकर हिन्दी साहित्य पर पडी। इसके अतिरिक्त इस प्रकार को कविताओ मे कुछ कल्पना, रहस्य तथा छाया आदि को ऐसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति पाई जाती थी कि इसे लोगो ने तदनुकूल नाम से सम्बोधित करना आरम्भ कर दिया और वह छायावाद के नाम से एक विशिष्ट साहित्यिक विचार-धारा बन गई। इस शब्द के सम्बन्ध मे सभी विद्वान एक मत नहीं हो पाए है। कुछ विद्वानो का कथन है कि छायावाद आध्यात्मिक भूमि पर क्रीडा करता है जिससे रहस्यवाद के साथ इसका अभेद दिखाई पडता है। रामचन्द्र शुक्ल इसे चित्र भाषा शैली मानते रहे। इस प्रकार इसे यदि शैली मात्र मान लिया जाय तो इसका सम्बन्ध रहस्यवाद तथा स्वच्छन्दतावाद किसी के साथ भी जोडा जा सकता है। छायावाद मुख्यतः भाव प्रबलता से प्रेरित कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि है जो वास्तविक को नहीं बल्कि छाया को ग्रहण करती है। यह रूढियो से ऊपर उडान भरने का अवसर प्रदान करता है। यह उन्मुक्त उडान भरने वाला साहित्य है जो वर्तमान से अतीत और भविष्य तथा धरती से आकाश की ओर ले जाता है और साथ ही एक सुनहले भविष्य की कल्पना भी करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस उद्देश्य को लेकर स्वच्छन्दतावादी

विचारधारा का हिन्दी साहित्य मे जन्म हुआ था उसकी किसी न किसी अंश मे पूर्ति छायावाद के द्वारा होती है। छायावाद, शैली तथा कोमलता को अत्यधिक महत्व देने के कारण स्वच्छन्दतावादी साहित्य के सम्पूर्ण क्षेत्र को तो नही समेट पाता किन्तु अपने क्षेत्र मे यह अत्यन्त सच्चा और ईमानदार समर्थक है।

स्वच्छन्दतावादी शैली ने एक विद्रोहात्मक और अराजकतापूर्ण काव्य-पद्धति का निर्माण किया है। यह अत्यन्त अनियमित पद्धति एवं संयम रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है। काव्य मे भावना के अतिरेक से जो असयम आता है, नियमो की जो अवहेलना की जाती है, काव्य के शरीर पक्ष की जो पूर्ण उपेक्षा की जाती है वही स्वच्छन्दतावाद का अतिवादी छोर है। उसके सम्पन्न होने मे छायावाद का महत्वपूर्ण योग है क्योकि इसका जन्म 'द्विवेदी जी' की इतिवृत्तात्मक शैली के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था। इस प्रकार यह शब्द बराबर रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद से टकराता रहता है। यदि हम इसका निर्णय कर ले कि छायावाद की वास्तविक भाव-भूमि लौकिक है अथवा अलौकिक तो समस्या कुछ सरल अवश्य हो जाएगी। छायावाद को रहस्यवाद से सम्बद्ध करना कहाँ तक उचित है और कहाँ तक अनुचित और अगर उचित है तो क्या यह रहस्यवादी प्रवृत्ति कबीर और जायसी की परम्परा का अनुसरण है अथवा पाश्चात्य (Mysticism) की गूँज मात्र। छायावाद के सम्बन्ध मे दो मत प्रचलित है। जो मत अध्यात्मिक व्याख्या का पक्षपाती है उसने छायावाद को रहस्यवाद का प्रथम सोपान माना है और दोनो की अभिन्नता का इस सीमा तक सागोपाग प्रतिपादन किया है कि सहसा विश्वास ही नहीं हो पाता। इस मत को गम्भीरतापूर्वक स्थापित करने का सबसे अधिक श्रेय महादेवी जी को है। उन्होने अपने विवेचनात्मक गद्य मे पग-पग पर इसका समर्थन ही नही किया है वरन् शास्त्रीय आधार लेते हुए एक सुदृढ परम्परा तथा व्यापक जीवन दर्शन निर्मित करने का भी प्रयास किया है। उन्होने माना है कि 'अलौकिक रहस्यानुभूति भी अभि-व्यक्ति मे अलौकिक ही रहेगी। अलौकिक आत्म-समर्पण को समझने के लिये भी लौकिक का सहारा लेना होगा।' इसके अतिरिक्त महादेवी जी ने इसे निराशा एव दुख की मनोवृत्ति की व्यक्तिगत असफलताओ से उत्पन्न विषय मात्र न मानकर उस करुणा की कोटि मे स्थित कर दिया है जहाँ वह सर्वात्मवाद बन जाती है, जिससे 'छायावाद को दुखवाद का पर्याय समझ लेना सहज हो गया है। जहाँ तक दुख का सम्बन्ध है उसके दो रूप हो

सकते है—एक जीवन की विषमता की अनुभूति से उत्पन्न करुण-भाव, दूसरा जीवन के स्थूल धरातल पर व्यक्तिगत असफलताओ से उत्पन्न विषाद।' व्यक्तिगत सुख-दुख की मार्मिक अभिव्यक्तियो का आकर्षण ही उसे इतना लोकप्रिय बना सका है, सवात्मवाद तथा परा विद्या का घटाटोप नही। आगे चलकर जब महादेवी जी यह भी स्वीकार कर लेती है कि 'छायावाद तत्वत प्रकृति के बीच मे जीवन का उद्घोष है' तो इसकी अलौकिकता कहाँ रह जाती है। अभिव्यक्ति के लिये वर्ण्य वस्तु को प्रधानता न देकर प्राकृतिक तत्वो मे मानवीय चेतना का आरोप करना तथा उनसे साहचर्य का भाव स्थापित करना हिन्दी साहित्य के लिये स्वच्छन्दवादी काव्यधारा की ही देन है। जब महादेवी जी अन्त तक जाते-जाते यह स्वीकार हो कर लेती है कि जिस सूक्ष्म छायावाद ने अभिव्यक्ति प्रदान की वह स्थूल से बाहर अपना कही अस्तित्व नही रखता तब यह स्थूल व्यक्त सत्य के अतिरिक्त और कुछ नही है और जब छायावाद के अन्दर अव्यक्त सत्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसके अन्दर कुछ होने की भावना छिपी रहती है और यही होने की भावना, जिसके मूल मे वर्तमान के प्रति असन्तोष तथा विरोध है, स्वच्छन्दतावादी काव्य का केन्द्र बिन्दु है।

छायावाद की परिभाषा करते हुए जब डा० रामकुमार वर्मा यह कहते है कि 'छायावाद वास्तव मे हृदय का एक अनुभूति है। वह भौतिक ससार के क्रोड़ मे प्रवेश कर अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करता है और उसे हमारे वास्तविक जीवन से जोडकर हृदय मे जीवन के प्रति एक गहरी सवेदना और आशावाद प्रदान करता है। कवि को ज्ञात होता है कि ससार मे परिव्याप्त एक महान् और दैवी सत्ता का प्रतिबिम्ब जीवन के प्रत्येक अङ्ग पर पड रहा है और उसी की छाया मे जीवन का पोषण हो रहा है। एक अनिर्वचनीय सत्ता कण-कण मे समाई हुई है। फूल मे उसी की हँसी, लहरो मे उसका बाहुबन्धन, तारो मे उसका सकेत, भ्रमरो मे उसका गुजार और मुख मे उसकी सौम्य हँसी छिपी हुई है। इस ससार मे उस दैवी सत्ता का दिग्दर्शन कराने के कारण ही इस प्रकार की कविता को छायावाद की सज्ञा दी गयी।'[1] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि डाक्टर साहब रहस्यवाद और छायावाद मे भेद नही मानते। सृष्टि की हरएक गतिविधि मे जब वे दैवी सत्ता का अनुभव करते है तो उसे रहस्यवाद के अन्दर ही स्वीकार करना चाहिये। उनके अनुसार यदि रहस्यवाद का नाम ही छायावाद है तो छायावादी साहित्य के

१. डा० रामकुमार वर्मा, विचारदर्शन, पृ० ७२।

अन्दर आनेवाली सभी रचनाओ को दैवी सत्ता से सम्बन्धित मानना चाहिये अथवा रहस्यवाद को ही पराविद्या के पद से सम्बन्धित कर देना चाहिए। शुद्ध रहस्यवाद को न तो हम लौकिक कह सकते है और न तो छायावाद को हम नितान्त अलौकिक। ऐसी स्थिति मे लौकिकता और अलौकिकता को लेकर काफी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। डा० वर्मा ने जिस साहित्य को रहस्यवाद के अन्दर स्वीकार किया है वह कबीर और जायसी का रहस्यवाद नही बल्कि वह आधुनिक रहस्यवाद है जिसके द्वारा कवि वर्तमान परिस्थितियो के प्रतिकूल खुला विद्रोह न करके रहस्यात्मक सकेतो द्वारा युग की आवश्यकताओ तथा वैयक्तिक अनुभूतियो को लोगो की ऑखे बचाकर सामने रखता है। इस प्रकार यदि रहस्यवाद और छायावाद की अभिन्नता स्वीकार कर ली जाय तो इसके लौकिक होन की सन्दिग्धता समाप्त हो जाती है और जब इसकी लौकिकता प्रमाणित हो जाती है तो इसे शास्त्रीय नियमो की उपेक्षा करने के कारण स्वच्छन्दवादी साहित्य के नाम से अभिहित ही करना पडेगा।

छायावादी साहित्य के अन्दर व्यक्ति के दैनिक जीवन को अत्यधिक महत्व दिया गया है। साहित्य मे जग-जीवन की महत्ता एव इस लोक मे ही स्वर्ग प्राप्ति की कामना केवल सर्वप्रथम स्वच्छन्दतावादी कवियो द्वारा ही मिला, क्योकि श्रेष्ठतर जीवन की कल्पना तथा परिस्थितियो के प्रति असन्तोष की भावना से प्रेरित होकर समस्त शास्त्रीय एवं सामाजिक बन्धनो के तिरस्कार का उद्घोष करनेवाला साहित्य प्रस्तुत करने का कार्य इन्हीं कवियो द्वारा हुआ। यह भावधारा कवि की सामर्थ्य तथा रुचियो के अनुसार रंग-रूप बदलकर आगे बढती रही है जिसे कही रहस्यवाद और कहीं छायावाद के नाम से पुकारा गया है किन्तु सबके मूल मे प्राचीनता के ऊपर नवीनता का आरोप तथा वर्तमान हीनतर बन्धनो से मुक्त होकर श्रेष्ठतर स्वच्छन्दाकाश मे विचरण करने के भाव विद्यमान है।

प्रसाद जी के स्वर मे स्वर मिलाकर यदि हम कहे कि 'कविता के क्षेत्र मे पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी मे उसे 'छायावाद' के नाम से अभिहित किया गया।' तो स्पष्ट हो जाता है कि छायावादी काव्य की सृष्टि रीतिकालीन शृगारिक कविताओ के प्रतिक्रिया-स्वरूप हुई थी। किन्तु प्रमुख छायावादी कविताओं को देखने से लगता है कि प्रतिक्रिया शृगारिकता के विरुद्ध नहीं हुई बल्कि रचना-प्रक्रिया के विरुद्ध हुई। इस रचना-प्रक्रिया का विरोध करने का श्रेय एकमात्र

छायावादी काव्यधारा को ही नही है बल्कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से जो समसामयिक भावधारा को लेकर काव्य का आन्दोलन चला था उसको भी है। इन काव्यो मे अश्लील शृंगार की उपेक्षा अवश्य की गयी है क्योंकि इन कविताओ मे न तो नायिकाओ की शारीरिक नाप-जोख ही है और न तो वैयक्तिक मानसिक वेदना का ऊहापोह ही। इसका मुख्य कारण यही है कि इस खेवे के कवियों ने तत्कालीन सामाजिक वातावरण, राजनीतिक जागरण तथा सुधारवादिता की आवश्यक माँगो से आँखे नही मूँदी है बल्कि अपनी रचनाओ द्वारा समुचित योग प्रदान किया है। किन्तु शृगारिकता की शाश्वत भावनाओ को अनिश्चितकाल तक दबाए रखना भी सम्भव नही और न तो यही सम्भव था कि जब स्वतन्त्रता की वेदो पर बलिदान होने के लिए सपूतो का आह्वान किया जा रहा हो, देश के शीर्षस्थ नेता तथा सुधारक राष्ट्र और समाज को एक नवीन स्वरूप प्रदान करने के लिए प्राणों की बाजी लगा रहे हो तथा सारे देश के अन्दर क्राति की लहर व्याप्त हो रही हो, तो ऐसे युग का कवि कोने मे बैठकर वैयक्तिक वासना से उद्भूत मानसिक वेदना की कसक और पीर की कहानी कहकर समाज के सामने मुँह दिखाता। किन्तु वह शृगारी भावना कविताओ मे अपना रङ्ग-रूप बदलकर नवीन श्रद्धा के साथ प्रकट हुई जिसमे रीतिकालीन नायक-नायिकाओ के स्थान पर कवि स्वय प्रेमी बनकर मैदान मे उतर पडा, वह दर्शक अथवा द्रष्टा नही रह गया। ऐसी ही कविताओ को छायावाद का मूलाधार. माना गया है जो वास्तव मे वैयक्तिकता के आग्रह की अपेक्षा और कुछ नहीं है। इतना अवश्य है कि इनका विद्रोह सर्वोन्मुखी न होकर व्यक्तिवादी हो उठता है। इस प्रकार यदि काव्य की स्वच्छन्दधारा के अङ्ग विशेष का ही इनसे पोषण होता है तो उन्हे स्वजातीय होने से रोका नही जा सकता बल्कि उन्हे विशेषज्ञ होने का सा समादर मिलना आवश्यक है। यदि रीतिकाल का कवि नायक के माथे पर लगे हुए सिन्दूर और बिन्दी का वर्णन करके घोर शृगारी कहा जा सकता है तथा पलको मे पान की पीक तथा होठो मे काजल की कालिख का चित्रण करके अश्लील कहा जा सकता है तो क्या श्रम-सीकरो से सफेद चादर भिगो देने वाला कवि अश्लील नही है—

थक जाती थी सुख रजनी
मुख चन्द्र अङ्क में होता।
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भींगा होता॥

—आँसू : जयशकर प्रसाद

अन्तर इतना ही है कि रीतिकालीन कवि को वह साहस नही मिला था जो कि आधुनिक कवि को मिला है। वह अपनी भावनाओ को व्यक्त करने के लिए नायक-नायिकाओ का सहारा लेता था किन्तु आज का कवि अपनी भावनाओ को खुलकर व्यक्त करने मे जरा भी नही हिचकता। इसका एक-मात्र कारण समाज मे बढती हुई वैयक्तिकता की भावना ही है जिससे वर्तमान स्वच्छन्दतावादी साहित्य ओतप्रोत है।

'प्रसाद जी' ने यद्यपि अपने काव्य मे अनेक स्थलो पर रहस्यात्मकता का आश्रय लिया है परन्तु सिद्धान्तत: छायावाद को उन्होने न रहस्यवाद से सम्बद्ध किया है, न प्रकृतिवाद से, बल्कि उनमे उनका व्यक्तित्व ही अधिक उभरा हुआ दिखाई पडता है। छायावाद की प्रारम्भिक कविताओ पर आध्यात्मिकता का पूरा-पूरा आवरण नही चढ़ पाया था जिससे इसकी भाव-भूमि को परखने मे 'शुक्ल' जी को भ्रम नहीं हुआ। उन्होने लिखा है 'प्रणय-वासना का यह उद्गार आध्यात्मिकता के परदे मे ही छिपा न रह सका, हृदय की सारी कामवासना मे इन्द्रियो के सुख-विलास की मधुर और रमणीय सामग्री के बीच एक बँधी हुई रूढि व्यक्त होने लगी ...शैली के सम्बन्ध मे भी प्रतीकवाद के अर्थ में होने लगा। रीतिकाल की शृंगारिक कविता की भरमार की तो इतनी निन्दा की गई पर वही शृंगारिक कविता कभी रहस्य का परदा डालकर, कभी खुले मैदान, अपनी कुछ अदा बदलकर फिर सारा काव्य-क्षेत्र छेककर चल रही है।'

इन्होने भावपक्ष को गौण और शैलीपक्ष को प्रधान माना है, परन्तु वास्तव मे शैलीपक्ष प्रधान नहीं है। यही मन की सबल-भावुक-अभिव्यक्ति ही इसे स्वच्छन्द काव्य के निकट लाती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावादी काव्य की जो तीन अवस्थाएँ स्वीकार की है, (१) सृष्टि के प्रति विस्मय का भाव, (२) मानसिक अशान्ति की आकुलता का आभास, (३) प्रेम के प्रकाश की प्राप्ति। ये तीन अवस्थाएँ, जो छायावाद की चरम परिणति है, स्वच्छन्दतावादी काव्य की मूल प्रेरक शक्ति है। बिना विस्मय के भाव का सहारा लिए कौतूहल एव जिज्ञासा के भाव उत्पन्न नही होगे, तब तक वर्तमान के प्रति अनास्था के भाव, जिसके आधार पर ही स्वच्छन्दता-वादी काव्य की सृष्टि होती है, जम नही सकते। मानसिक अशान्ति की आकुलता ही अभिव्यक्ति का वह सबल स्रोत है जिसका प्रवाह शास्त्रीय एवं परम्परित रूढियो को तोडकर अपना नवीन पथ निर्मित करता है।

जब हम यह स्वीकार करते है कि 'छायावाद की काव्यधारा एक ओर वर्तमान के प्रति विद्रोह एवं असतोष की भावना से मुखर है तो दूसरी ओर स्थूल एव वासनात्मक प्रेम से हटकर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय प्रणय की रागिनी सुनाती है। उसे प्रकृति मे भी चेतन सत्ता के सौन्दर्य का आभास मिलता है, आकाश के अनन्त झिलमिल तारो मे उस अनन्त-अलक्षित ज्योति का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। वह स्थूल के प्रति विद्रोही है, वर्तमान के प्रति विद्रोही है, रूढिगत बन्धनो के प्रति विद्रोही और साम्राज्यवाद के दमन-पूर्ण अत्याचारो के आघातसे दुखी है। समाज की कुरीतियोसे छुआछूत की भावना, स्त्रियो, विशेषत विधवाओ के प्रति समाज मे प्रचलित क्रूरताओ से करुणार्द्र है।'[1] तो छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दवाद मे कोई भेदक रेखा खीची ही नही जा सकती और यदि उदारवादी दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो ये भ्रम मे डालनेवाले पर्यायवाची शब्द ही ठहरते है। साहित्य मे वह युग ही उत्तम समझा जाता है, जब मनुष्य असन्तुष्ट रहता है. जब वह ससीम से असीम की ओर उन्मुख होता है तो इसका अर्थ यही होता है कि वर्तमान परिस्थितियो मे उसका दम घुट रहा है और वे उसे अमान्य है। इसे हम रहस्यवाद का मूलाधार भले ही कह ले, किन्तु इसके मूल मे असन्तोष के भाव विद्यमान है। 'ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' जैसी कविताओ को लेकर पलायनवादिता के नाम से सघर्ष-भीरुता का आरोप लगाया जा सकता है तो 'इस पथ का उद्देश्य नही है श्रान्त-भवन मे टिक रहना, और पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नही' जैसी कविताओं को लेकर उसे उद्‌बोधन-गीत का सम्मान भी दिया जा सकता है। बात समझ मे नहीं आती कि यदि छायावादी कविताओ मे उद्बोधन, देशभक्ति, प्रकृति-प्रेम तथा वर्तमान के प्रति विद्रोही भाव वर्तमान है तो वह कौन-सा ऐसा भेदक तत्व है जो उसे स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा से भिन्न करता है।

डा० नगेन्द्र ने तो छायावाद को रोमानी कविता से बिलकुल अभिन्न माना है। उनके अनुसार छायावाद रोमानी कविता को छोडकर और कुछ नहीं, दोनों के मूल मे जागरण और कुठा के भाव निहित है। उन्होंने पहले छायावाद का आधार स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है फिर उन्होने शब्दावली बदल दी और उसके मूल मे स्थूल से विमुख होकर सूक्ष्म के प्रति आग्रह करना अधिक उपयुक्त समझा। जहाँ तक भावभूमि का सम्बन्ध है उसे उन्होंने नितान्त लौकिक माना है और लिखा है कि 'छायावाद के कवि की

१. हीरक जयन्ती, ग्रन्थ-सम्पादक डा० श्री कृष्णलाल, करुणापति त्रिपाठी, पृ० ३७७।

प्रेरणा उसकी 'कुण्ठित-वासनाओ से ही आई है, सर्वात्मवाद की रहस्यानुभूति से नही।' जब छायावादी कविता चुम्बन-विहीन प्यासे अधरो से ही उच्छ्वसित होती है तो उसमे असन्तोष के सिवा और हो ही क्या सकता है। असन्तोष से पूर्ण कविताको यदि हम स्वच्छन्दतावादी कवितासे अलग छायावादी कविता मान ले तो स्वच्छन्दतावादी काव्य की परिभाषा क्या होगी? शिवदान सिह चौहान ने छायावादी काव्य के लिये असन्तोष की प्रवृत्ति के साथ पलायन की प्रवृत्ति पर ही विशेष बल दिया है, परन्तु पलायन छायावादी भावधारा का मूल आधार नही है, जिस पर डा० नगेन्द्र और महादेवी दोनो ने सकेत किया है। डा० देवराज ने निम्नलिखित शब्दो मे उसका सतर्क प्रतिवाद किया है, 'वस्तुत छायावादी काव्य की प्रेरक शक्ति प्रकृति के कोमल सूक्ष्म रूपो का आकर्षण है न कि सामाजिक वास्तविकता का विकर्षण, उसके मूल मे प्रेम और सौन्दर्य की वासना है, न कि आध्यात्मिक पूर्णता की भूख।' इन्होने छायावाद को आध्यात्मिक नही माना है और कहा है कि 'प्रथम तो हम मानते है कि छायावादी काव्य धार्मिक या आध्यात्मिक नही है किन्तु वह यदि ऐसा होता तो इस धर्मप्राण देश मे जनता उससे इतनी जल्द न ऊबती'।

छायावादी काव्य मे व्यक्त भावो को प्रकृत रूप मे न देखकर दमित वासनाओ के रूप मे देखना, फूल मे खाद देखना है। हॉ, वे आकाश कुसुम नही, धरती के ही कुसुम है। जहॉ तक इससे जनता के ऊबने को बात उन्होने कही है उसके मूल मे धार्मिक और अधार्मिक होना कारण नही, बल्कि वे परिस्थितियॉ हैं जो मानव मन को स्थिर नही रहने देतीं, जिससे उसके दैनिक जीवन की कटुता, निराशा तथा असन्तोष के भाव हावी हो गए है। डा० केशरीनारायण शुक्ल ने अपनी पुस्तक 'काव्य धारा' मे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है 'रूढियो के विरोध मे खडे होनेवाले स्वच्छन्दतावाद (रोमाटिसिज्म) और छायावाद (रोमाटिसिज्म) को एक ही मानना चाहिए।' यही कारण है कि इन्होने छायावादी काव्य की कोई दार्शनिक पृष्ठभूमि नही स्वीकार की है। प्रामाणिक रूप से सशक्त शब्दो मे छायावाद और स्वच्छन्दतावाद के दोहरे व्यक्तित्व की निस्सारता सर्व-प्रथम डा० श्रीकृष्णलाल द्वारा 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक ग्रन्थ मे प्रकट की गई जिसका यह परिणाम हुआ है कि अब बहुत से विद्वान् इस शब्द की भ्रामकता का अनुभव करने लगे है। छायावाद के सम्बन्ध मे जब डॉ० शम्भुनाथ सिंह जी यह स्वीकार करते है कि 'भारत मे भी पूॅजीवाद के

विकास के साथ व्यक्तिवाद का विकास हुआ और हिन्दी कविता के रूप में व्यक्तिवादी भावनाएँ अनेक रूपो मे अभिव्यक्त हुई।'[1]—तो क्यों इसकी बहुमुखी धारा को एक ऐसे शब्द 'छायावाद' के गले लगा दिया जाय जो इसकी सार्थकता को प्रकट करने मे असमर्थ है। जब हम यह मानते है कि 'छायावाद भी साहित्यकार का एक अन्तर्वादी दृष्टिकोण है, जहाँ से वह समस्त जीवन, उसके यावत् रूप-व्यापार को 'स्वानुभूतिक' अभिव्यजना प्रदान करता है।'[2] तो समस्त जीवन की इस व्यापक स्वानुभूतिमयी अभिव्यजना को हम 'छाया' मे ही क्यो रखे, जिसको कवि ने नि सकोच, स्वच्छन्द होकर कह डाला है।

एक तटस्थ आलोचक के लिये यह कह देना कभी भी श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता कि 'जिस तरह अन्य साहित्यो मे अनेक प्रवृत्तियो के पुञ्ज रोमांटिक काव्य को एक सज्ञा 'रोमाटिसिज्म' दे दी गई है, उसी तरह अनेक प्रवृत्तियो के पुञ्ज छायावादी काव्य को भी एक नाम देना चाहिए। नाम देने के पहले जब उसे एक नाम से अभिहित कर दिया गया गया तो पुन: नाम देने की आवश्यकता ही नही रह जाती और नाम देते समय भरसक यह प्रयत्न करना चाहिये कि नाम गुण के अनुसार हो। यदि शब्दकोष असमर्थ हो जाय तो विवश होकर परिचय प्राप्त करने के लिये किसी भी वस्तु को किसी भी नाम से पुकार सकते है। किन्तु जब युग के अनुसार हमे नाम मिल जाते है तो अनर्गल नाम रख देने की क्या आवश्यकता है? जिस काव्य-धारा को हम छायावाद मान लेने का आग्रह करते है यदि उसके व्यापक क्षेत्र को समेटने वाला 'स्वच्छन्दतावाद' ऐसा कोई शब्द उपलब्ध है तो उसे मानने मे किसी को कोई आपत्ति नही होनी चाहिए? जब कि तद्वत् स्वभाव के साहित्य के लिए यह शब्द अपने पीछे अंग्रेजी साहित्य मे एक विशाल काव्य-परम्परा रखता है जिसके प्रभाव को हम पूर्णत अस्वीकार भी नही कर पा रहे है।

जिन कवियो एव कविताओ को हम 'छायावाद' के स्तम्भ मानते है यदि उनकी विवेचना की जाय तो उनमे वे सभी गुण दिखाई पड़ेगे जो एक स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिए अपेक्षित है। जब हम यह मानते है कि आधुनिक युग मे ऐसी बहुत सी कविताएँ मिल जाएँगी जिनमे एक साथ ही छायावादी, रहस्यवादी एव स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ मिल

---

१. छायावाद युग, पृ० ५२, शम्भुनाथ सिह।
२. 'छायावाद की काव्य साधना, प्रो० क्षेम, पृ० १२२।

जायँगी, तो हम क्यों न एक ऐसे नाम से उसे अभिहित करें जिसके अन्दर उक्त सभी भावधाराएँ सिमट कर चली आएँ। ऐसी कविताएँ यदि हमे देखनी हो तो प० सुमित्रानन्दन पन्त की 'मौन निमन्त्रण' कविता हम देख सकते है। कवि जब प्रकृति मे एक रहस्यमय आकर्षण का अनुभव करने लग जाता है और एक करुण विस्मय मे विभोर होकर कह उठता है—

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात

उठा तब लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन।

तो हमारे सामने युक्त समस्या से उक्त कविता अवतरित होने लग जाती है। जिस कविता के अन्दर समस्त शास्त्रीय परम्पराओ का तिरस्कार हो, स्थूलता के प्रति सूक्ष्मता का विद्रोह हो, एक अनन्त अभिलाषा एव जिज्ञासा का भाव हो, दम घुटा देनेवाली परिस्थितियो को बदल देने की कामना हो, भावी श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त करने की कल्पना हो, निरन्तर आगे बढते रहने की इच्छा हो, ससीमता को असीमता मे बदल देने की चाह हो तथा अपनी वैयक्तिक अनुभूति को नि सकोच व्यक्त कर देने की शक्ति हो, वह स्वछन्दतावादी कविता को छोडकर और कुछ हो ही नहीं सकती। यदि 'छायावादी' अथवा रहस्यवादी कही जाने वाली कविताएँ उक्त गुणो से सम्पन्न है तो वे स्वच्छन्दतावादी कविताएँ है और 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद का एक अङ्ग या पर्याय है।



रोमांटिक कविता और प्रेम

प्रेम सृष्टि की चिरन्तन आदि शक्ति है। यह यद्यपि हृदय की एक अत्यन्त सूक्ष्म वृत्ति है, परन्तु मानव जीवन मे उसकी व्यापकता के सम्बन्ध मे दो मत हो नही सकते। साधारणत प्रेम से जो अर्थ हम लगा लेते है, वह है स्त्री और पुरुष का पारस्परिक प्रेम, जो रूपाकर्पण के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा जिसके मूल मे वासनाजन्य शारीरिक भूख विद्यमान रहती है। प्रेम मानव-मन की वह स्वाभाविक स्वच्छन्द वृत्ति है जो प्रकृति या सामाजिक वन्धनो को स्वीकार करना नही चाहती परन्तु समाज ने अपनी मर्यादा की रक्षा के लिए देश-काल तथा परिस्थितियो के अनुसार उस पर नैतिक बन्धन डाल रखे है। काम मनुष्य-जीवन की मूल वृत्ति है और इसे ही लौकिक भाषा मे प्रेम के नाम से अभिहित किया जाता है। भारतीय सस्कृति ने समाज के सामने व्यक्ति के त्याग को अत्यधिक महत्व न देने कारण, प्रेम को व्यक्ति की वस्तु नहीं, बल्कि समाज की नस्तु माना है, जिसके आधार पर ही विवाह व्यवहार-शास्त्र की व्यवस्था की गई है। यही कारण है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्दर उन्ही प्रेम-प्रसगों की चर्चा की गई है जिनका अन्त विवाह मे हुआ है। परिणय से वचित प्रणय को समाज के लिये सर्वथा अस्वीकार किया गया है। नैतिक प्रेम-प्रसगो के लिये भी समय, स्थिति तथा स्थान की एक निश्चित व्यवस्था पूर्ववर्ती आचार्यो ने स्वीकार की है। परन्तु जहाँ तक शुद्ध कला का सम्बन्ध है, वह सामाजिक मान्यताओं को उतना स्वीकार नहीं करती जितना कि

वह स्वभाविकता के निकट है। संसार का कोई भी साहित्य ऐसा नही रहा है जिसने प्रेम को महत्वपूर्ण स्थान न दिया हो। प्रेम कविता की सबसे महान् प्रेरक शक्ति रही है। भले ही युग के अनुसार उसके रूपो मे परिवर्तन होते रहे हो।

'फ्रायड' के समर्थक भले ही यह स्वीकार कर ले कि मनुष्यो की प्रत्यक क्रिया मे काम की मूलप्रेरणा रहती है, किन्तु व्यावहारिक जीवन मे हम यह भली प्रकार देखते है, कि हमारे अनेक कार्य ऐसे होते रहते है जिनमे वासना की गन्ध भी नही दिखाई पडती। कविता के अन्दर भी प्रेम के मुख्य तीन स्वरूप ऐसे रहे है जिनको कवियो ने अपनी कविता की मुख्य विषय-वस्तु बनाया है। यो तो नाना प्रकार से प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु लौकिक, पारलौकिक तथा प्राकृतिक दृश्यो के प्रति कवियो का आकर्षण विशेष रहा है।

लौकिक और पारलौकिक प्रेम की व्याप्ति समस्त साहित्य मे और समस्त युग मे है। इतना अवश्य हुआ है कि समसामयिक परिस्थितियो के अनुरूप प्रेम का स्वरूप बदलता रहा है तथा उसकी अभिव्यक्ति मे भेद आता रहा है। 'हिन्दी के शैशव के उस पूर्व मध्य युग मे जब कवि वीरगाथाओ के द्वारा अन्तर्युद्ध (Civilwar) मे व्यजित शौर्य के साथ प्रेम का पुट देते थे तब प्रेम का तत्व उन रोमाचक वीरगाथाओं मे ही सम्मिश्रित हो जाता था। इसका कारण यही था कि मुख्यत वह युग युद्ध और सघर्ष का था।' प्रेम का प्रसग कविगण उसी समय ला सकते थे जब कि उनका आश्रयदाता राजा किसी राजकुमारी के रूप-गुण पर मुग्ध होकर ही उसके प्राप्त्यार्थ युद्ध करने के लिए प्रेरित होता था। ऐसी स्थिति मे जिज्ञासा बढाने के लिये प्रेम का नही वल्कि शृङ्गार का ही वर्णन अधिक किया जाता था। प्राय' लोग प्रेम और शृङ्गार को एक ही वस्तु मान बैठते है किन्तु दोनो दो वस्तुएँ है, एक नहीं। प्रेम केवल वैयक्तिक अनुभूति है जिसमे अन्त साक्ष्य है किन्तु शृङ्गार बाह्य अनुभूति है जिसमे बाह्य साक्ष्य है और उसे हम आँखो से देख सकते हैं। यह दूसरी बात है कि शृङ्गार के प्रति लोगो के दृष्टिकोण भिन्न हो। अतः कवि प्रेम की अभिव्यक्ति जितनी सफलता से कर सकता है उतनी सफलता से कलाकार एव तटस्थ द्रष्टा नहीं। वीरगाथा काल मे प्रेम की जो लौकिक अभिव्यक्ति पाई जाती हे वह लौकिक शृङ्गार का ही वर्णन है। भक्ति युग तक आते-आते समाज की स्थिति मे महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया। न तो अपने देश के आश्रयदाता राजा रहे और न अपने देश की राजनीति।

जिस युग को हम साहित्य का भक्ति-युग कहते हैं वह ऐसा समय था जब कि भारतीय राजनीति तथा शासन-नीति का संचालन विदेशी यवनो के हाथ मे था. भारतीय जनता के लिए कोई ऐसी वस्तु नहीं थी जिस पर कि वह गर्व कर सकती, जिसका परिणाम यह हुआ कि जितना भी बाह्य चमत्कार तथा प्रदर्शन था सब पर एक प्रकार से निराशा का वातावरण छा गया। मुसलमान शासको ने सबसे अधिक छीना-झपटी जिस वस्तु पर की वह है रूप और धर्म। यवन शासन मे भारत के आ जाने से देश का धन तो उनके हाथो मे चला ही गया था, रूप पर हाथ मारकर वे अपनी काम-पिपासा शात करना चाहते थे तथा धर्म को मिटाकर अपने प्यारे मजहब इस्लाम का प्रचार करना चाहते थे। जिससे ऐसी स्थिति आ गई थी कि अधिक से से अधिक इन वस्तुओ को छिपाकर रखा जाय। अतः स्वाभाविक ही था कि इस युग के कवि आदि, जो आकर्षण के बाह्य चमत्कार है, के वर्णन से विमुख रहते। प्रेम, जो कि प्रकृति का शाश्वत तत्व हैं, प्रकट होने के लिये सहारा ढूँढने लगा और असहाय समाज अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए आश्रयदाता। दोनों को वाणी देने वाले कवियो ने भगवान् की शरण ली, जिससे प्रेम-भावना भक्ति के रूप मे बदल गयी और राजाओ के स्थान पर आश्रयदाता हुआ भगवान, जिसकी वन्दना के अनेक मार्ग निकल पडे। "भक्तियुग के कवियो का प्रेम-भाव ईश्वर की भक्ति मे पर्यविसित हो गया। उस समय के भक्त और सत कवियो ने अपनी प्रेम-भावना का उन्नयन किया था भक्ति भावना मे। भक्त कवियो मे शृगार वर्णन प्रस्तुत तो अवश्य है, परन्तु प्रेम के निम्न वासना-रूप की उसमे प्रतिष्ठा नही है, उदाहरण के लिये 'सूर' ने अपने गीतो मे राधा और कृष्ण के ऐंद्रिय प्रेम के जो कई चित्र दिए है उनमे एक आलकारिक गोपन है।"[1] 'मीरा' के कुछ पद ऐसे मिलते है जिनमे अभुक्त प्रेम की पिपासा की अभिव्यक्ति मिलती है। यदि हम हठात् उनके 'प्रियतम' को भगवान नही मान लेते तो उनके कतिपय पदो से वासना की गन्ध आती है, चाहे वे भगवान् कृष्ण के प्रति ही क्यो न हो। इसका सकेत इस पद से मिलता है—

मैं गिरधर रंग राती सैयाँ।
पँचरँग चोला पहन सखी मै झुरमुट खेलन जाती॥
ओह झुरमुट माँ मिल्यो साँवरो खोल मिली तन गाती।

१. सुधीन्द्र एम० ए०, हिन्दी कविता में युगातर, पृ० ३१४।

जिनका पिया परदेस बसत है लिख लिख भेजै पाती॥
मेरा पिया मेरे ही पास बसत है, ना कहुँ आती जाती।
चन्दा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरणि अकासी॥
पवन पाणी दोनुही जायँगे, अटल रहै अविनासी।

परमात्मा से सम्बद्ध होने पर भी मीराबाई का प्रेम लौकिक रूप मे व्यक्त हुआ है। सगुण-मार्गी जितने भी कवि है न तो उनमे कोई रहस्य है और न तो लौकिक प्रेम की पकिलता। किन्तु निर्गुणमार्गी कवियो मे आकर लौकिकता और पारलौकिकता का पचडा खडा होता है और अधिकतर सूफी कवियो मे रहस्य का यह पर्दा तथा लौकिकता और पारलौकिकता के प्रति सन्देह और भी गहरा हो जाता है। सूफी कवि लौकिक प्रेम, जिसे उनकी भाषा मे इश्क मजाजी कहते है, मे ही पारलौकिक प्रेम, जिसे इश्क हकीकी कहते है, देखते है। वे लौकिक प्रेम मे हो अलौकिक झाँकी देखते-दिखाते है और इश्क मजाजी का तिरस्कार नही करते बल्कि साधना के लिये उसे अनिवार्य मानते है।

'रीतियुग मे तो कवि नारी के साढे तीन हाथ के शरीर की नाप-जोख ही करता रह गया। ऐसा जान पडता है कि इस युग मे उसे प्रम के अतिरिक्त जैसे कोई अन्य विषय ही नही मिलता था'। मनुष्य की अनादि वासना को कवि ने रूप-चित्रण और रीति-चित्रण से तृप्त किया। कृष्ण और राधा की ओट लेकर, श्लील और अश्लील के सम्बन्ध मे जो कुछ कहना था कह दिया, स्वयं कवि के अतिरिक्त राजन्य वर्ग की काम-पूर्ति इसमे होती थी। फल यह हुआ कि कविता वासना-वलित कुत्सित रग मे रग गई। किन्तु रीतियुग की यह कविता शृगारपरक थी, न कि प्रेमपरक, जिसके लिये उस समय का समाज उत्तरदायी है। वीरगाथा काल की शृगारपरक कविताओ से ये कविताएँ नग्नता मे बहुत आगे थी क्योकि युद्ध और सघर्ष की आँच उनपर नहीं लग पाई थी और मुसलमानी सभ्यता का सहयोग भी उन्हे प्राप्त हो गया था। सूर के राधा-कृष्ण तथा तुलसी के राम-सभी रीतिकाल मे आकर बदल गए। राधा और कृष्ण के नाम से तो इस युग का सारा लौकिक शृंगारिक साहित्य ही लिखा गया। किन्तु रीतिकाव्य के प्रमुख कवि केशव-दास ने अपनी 'रामचन्द्रिका' में तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम तक से ऐसी बाते कहलवा ली—

बन्धन हमारो काम-केलि को कि तोरिबे को
ताजनो विचार को कै व्यजन विचारु है।

मान की जवनिका कि कंजमुख मूँदिबे को
सीता जू को उत्तरीय सब सुख स रु है॥
(केशवदास, रामचन्द्रिका)

रीति युग के अन्तिम दिनो में इसकी परम्परा में बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने परिष्कार अवश्य किया, परन्तु इसका परिष्कृत रूप भी आधुनिक युग की जनता को स्वीकार न था जिससे वह राष्ट्रीय जागरण से ओत-प्रोत भावो तथा आचार्य प० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सुधारवादी खडी बोली के आन्दोलन की ओर आकर्षित हुई। परम्परित रूढ़ियो के प्रति जब साहित्य के अन्दर विरोध की लहर दौडने लगी तथा स्वच्छन्द विचारो को साहित्य मे स्थान मिलने लगा तो प्रेम के स्वरूप में भी परिवर्तन आया। आधुनिक काव्य में प्रेम को लेकर जो विभिन्न धाराएँ फूटी उनमे मुख्य थी राष्ट्रीय, रहस्यवादी तथा स्वच्छन्द प्रेम की धारा। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने साहित्य के अन्दर देश और देशवासियो की दयनीय स्थिति का चित्रण तो कर दिया था किन्तु उनको बदल देने की कामना तथा परिस्थितियो का समाधान उभड कर उनकी कविता मे न आ सका था। देश-प्रेम से प्रेरित होकर जिन कविताओ की सृष्टि हुई उनमे मुख्य है वन्दना के गीत, प्रशस्ति गीत, वर्तमान स्थिति के चिन्तन तथा अतीत स्मरण के गीत, जागरण गीत, अभियान गीत तथा बलिदान गीत, जिनसे देश का समस्त वातावरण गुंजायमान हो उठा।

रहस्यवादी तथा स्वच्छन्द प्रेम की धारा का मूल उत्स एक ही है। केवल अभिव्यजना शैलो मे अन्तर आने के कारण भिन्न जान पडता है। स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी दोनो प्रकार के कवियो ने अपने आलम्बनो के लिए दाम्पत्य-प्रेम का आश्रय लिया है। 'असीम या अलौकिक के प्रति रहस्यवादी का व्यक्त प्रेम लौकिक दाम्पत्य प्रेम ही था, उसे चाहे जितना उदात्त, अवासनात्मक या परिशुद्ध कह लिया जाय। भक्ति सम्प्रदाय तो ऐसे प्रेम को माधुर्य भाव ही कहता है और उसका मधुर रस काव्य का शृगार रस ही है।'[1]

'सूफी सम्प्रदायवाले इसे ही इश्कमजाजी मे इश्कहकीकी कहते है। व लौकिक प्रेम मे ही अलौकिक प्रेम की झाँकी देखने के हामी है। पर स्मरण रहे कि सूफी लौकिक प्रेम का तिरस्कार नही करते बल्कि उसे साधना के

१. आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी का समसामयिक साहित्य, पृ ६०।

लिए अनिवार्य मानते हैं किन्तु हिन्दी के आधुनिक रहस्यवादी कवियो ने लौकिक प्रेम का तिरस्कार किया है जिससे वे बाहर न देखकर भीतर देखने लग गए है। पर स्वच्छन्दतावादी लौकिक प्रेम इश्कमजाजी की उसके परिशुद्ध रूप मे भी अवज्ञा न कर सका। उसने इश्कमजाजी मे इश्कहकीकी होने के पाखण्ड का प्रचार नही किया।' स्वच्छन्दतावादी कवि के अन्दर स्वस्थ मानवीय भावो को प्रकट करने मे किसी भी प्रकार की गोपन प्रवृत्ति नहीं है। वह प्रेम की अभिव्यक्ति मे झिझक की कोई आवश्यकता नही समझता। इस प्रकार हम देखते है कि पण्डित विश्वनाथप्रसाद जी मिश्र ने स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी कविताओ का दो रूप ही स्वीकृत कर लिया है किन्तु ये रूप विचारधारा के नही बल्कि शैली के है।

छायावाद, रहस्यवाद और स्वच्छन्दतावाद—ये तीनो शब्द अत्यन्त ही विवाद के विषय रहे है। कुछ विद्वानों ने छायावाद और रहस्यवाद को पर्यायवाची माना है, तो कुछ उन्हे दो स्वतन्त्र विचारधारा के रूप मे स्वीकार करते है। कुछ विद्वानों का मत है कि छायावाद के अन्तर्गत ही स्वच्छन्दतावाद एक विशिष्ट प्रवृत्ति है, तो कुछ लोगो ने रहस्यवाद का उसे एक अङ्ग ही मान लिया है, जिसमे रूढियो के प्रति विद्रोह निहित रहता है। छायावाद और स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध मे हमे विस्तृत रूप से अन्यत्र विचार करना है। अत: यहाँ पर इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि रूढियो के प्रति समाज तथा साहित्य और राजनीति मे जो विद्रोह की लहर उत्पन्न हुई तथा उसका प्रतिनिधित्व करने के लिए जिस साहित्य-रूप की सृष्टि हुई, उस स्वच्छन्दतावादी साहित्य के अन्दर ही अनेक प्रवृत्तियो तथा शैलियो का विकास हुआ, रहस्यवादी तथा छायावादी प्रवृत्तियाँ उन्ही विकसित होनेवाली प्रवृत्तियो मे मुख्य है।

कवियो की गोपन प्रवृत्ति ने जब वैयक्तिक प्रणयानुभूति पर अलौकिकता का आवरण चढा दिया तो उसे साहित्य मे रहस्यवाद की सज्ञा दे दी गयी। डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार, 'रहस्यवाद आत्मा की अन्तर्निहित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति के साथ अपना शान्त और निश्चल सम्बन्ध जोडना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनो मे कोई अन्तर नही रह जाता।' किन्तु इतना तो सभी रहस्यवादी कवि तथा उसके समर्थक स्वीकार करेंगे कि रहस्यवादी कविताओं मे किसी भी प्रकार की भक्ति की प्रतिष्ठा नही की गई है, न तो वे भक्त कवियो के द्वारा रची गई है। न तो हमे इन कविताओ मे 'सूर' का

सारल्य ही मिलेगा और न तो तुलसी की भाँति लघुता का प्रकाशन ही। इसके अतिरिक्त यदि हम सूफीसन्तो की निर्गुणब्रह्म की उपासना ढूँढ़ेगे तो भी हमे निराश ही होना पडेगा। इन कविताओ के अन्दर मिलन की प्रबल आकाक्षा तथा निराशा-जन्य चिरविरह की कल्पना को ही अभिव्यक्ति मिली है। और मजे की बात तो यह है कि यह मिलन और विरह का सारा स्वाग एक ऐसे प्रियतम से है जिसका न कोई रूप है, न रग और न तो कभी उससे देखा-देखी हो हुई है। यह रहस्यवाद और जो कुछ हो, भक्ति तो नही है और यदि ये कविताएँ भक्ति काव्य की श्रेणी मे नहीं आतीं तो इन्हे किस श्रेणा की कविताओ मे रखा जाय। ये कविताएँ और कुछ नहीं लौकिक प्रेम की परिष्कृत व्यजना है। इसमे सन्देह नहीं कि जो होठ चुम्बनो से वचित रहते है वे गाने लगते है (Lips that fail to kiss, begin to sing)।

हमने इसका जिक्र ऊपर कर दिया है कि स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन रूढियो के प्रति एक विद्रोह था। रीतियुग की जिस शृंगारिक कविता की इतनी भर्त्सना हो रही थी उसे उसी रूप मे अभिव्यक्ति देना आधुनिक युग के साहस की वात नहीं थो। इसके अतिरिक्त देश के अन्दर जागरण आ रहा था, जितने भी नेता तथा समाज सुधारक थे जी-जान से देश की हीन अवस्था को मिटाने तथा जन्मजात अधिकार स्वतन्त्रता को प्राप्त करने मे जुटे हुये थे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे काग्रेस द्वारा चलाया गया राष्ट्रीय आन्दोलन उग्र रूप धारण करता चला आ रहा था। असहयोग आन्दोलन, किसानान्दोलन तथा सत्याग्रह आदि राष्ट्रीय कार्यों की ही हर जगह चर्चा थी। देश का कोई भी भला कहलानेवाला ऐसा आदमी नही था जो इस महायज्ञ को सफल वनाने मे यदि तन से नहीं तो मन से अवश्य सक्रिय न रहा हो। ऐसी स्थिति मे कवि के लिये सम्भव नही था कि वह इन सबसे विमुख होकर अकेले बैठ-कर प्रेम के गीत गाने लगता। प्रेम के गीत गाता तो वह भले पर उन्हे गाकर वह समाज मे कौन सा मुँह दिखलाता, बात विचारणीय है। किन्तु प्रकृति के शाश्वत तत्वो पर उतना ही बन्धन लगाया जा सकता है जितना कि सम्भव हो। अत्यन्त मानवीय क्रीडा कलाप से मुक्त कविताओ पर तो तत्कालीन परिस्थितियो ने बन्धन अवश्य लगा दिये किन्तु प्रेम, जो कि सृष्टि की एक चिरन्तन शक्ति है, को बिल्कुल निष्क्रिय कर देना असम्भव ही था। अतः उसने अपनी अभिव्यक्ति का नवीन मार्ग ढूँढ निकाला कि जिससे मानव-मन की अभिव्यक्ति भी हो जाय और कवि को समाज के सामने निन्दनीय भी न

बनना पडे; जिसका यह परिणाम हुआ कि इस युग के कवियो ने प्रेम का परिष्कारकर उसे श्रृंगार या विलासी वासनाके रूप मे नही बल्कि आदर्श और जीवन दर्शन के रूप मे अपना लिया। परिणाम-स्वरूप 'पच रग चोला पहन सखी मै झुरमुट खेलन जाती' (मीरा) तथा सीता जू को उत्तरीय सब सुख सारु है' (केशव) के स्थान पर 'कैसे कह दूँ अलि सपना है मेरे मूक मिलन की बात' (महादेवी) जैसी कविताओ की सृष्टि होने लगी। इस प्रकार हम देखते है कि जितने भी मर्यादावादी कवि थे, चाहे वह महादेवी वर्मा हो अथवा रामकुमार वर्मा सभी ने अपनी वैयक्तिक अनुभूति को अलौकिक सत्ता के सामने प्रकट करना आरम्भ कर दिया क्योकि 'भारत के प्राचीन नैतिक आदर्श और उनपर आश्रित काव्य-मर्यादा ईश्वर के अतिरिक्त और किसी के सम्मुख अपनी आत्मा को उघाड करने की अनुमति दे ही कैसे सकती थी। रसाचार्यों ने आपत्तियाँ उठाई है कि 'अपनी व्यक्तिगत रति आदि को समाज के सम्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एवं बाधक है।' 'छायावाद ने काव्य परम्पराओ को तो नही, माना, परन्तु नैतिक आदर्शों का आतंक उसपर भी गहरा था।'[1] यही कारण है कि अपने व्यक्तित्व को प्रच्छन्न रखते हुए प्रतीको के द्वारा ही उन्हे अभिव्यक्त करना पडा। डा० नगेन्द्र छायावाद को स्वच्छन्दतावाद से भिन्न नही मानते इसलिये उनका यह मत स्वच्छन्दतावाद के सम्बन्ध मे ही है। इस प्रकार हम देखते है कि रहस्य-वाद के नाम पर जो कवितायें ईश्वर को लक्ष्य करके हुईं, जिन्हे हम लौकिक जगत की अभिव्यक्ति मानते है, उनको यह रूप देना भी एक महान् परिवर्तन को जन्म देना ही है। यदि हम उन्हे थोड़ी देर के लिये भक्तिपरक कवितायें ही मान लें तो भक्त और भगवान का रूप भी इन कविताओ के द्वारा बदला, हमे स्वीकार करना पडेगा, जो स्वच्छन्दतावाद का एकमात्र प्रभाव है।

रहस्यवाद के द्वारा जिस मर्यादावादी प्रेम-काव्य की रचना हुई उसके अतिरिक्त ऐसे भी प्रेम काव्यो की सृष्टि हुई जिनमे कवि समाज तथा पारम्प-रिक बन्धनो की कुछ भी परवाह न करते हुए स्पष्ट रूप मे खुलकर सामने आया। ऐसे काव्यो मे जिस स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, वह प्रधानत: श्रृंगारिक कवितायें है। उन काव्यो का जन्म कवि की व्यक्तिगत कुठाओं से हुआ है जिनके मूल मे काम की अनादिशक्ति वासना सन्निहित है क्योकि व्यक्तिगत कुण्ठायें काम के चारो ओर केन्द्रित रहती हैं। जिस समय इस साहित्य की सृष्टि आरम्भ हुई उस समय स्वच्छन्द विचारो के आदान-प्रदान से स्वतन्त्र प्रेम के प्रति समाज मे आकर्षण बढ रहा था जिससे एक प्रकार

की जो झिझक और सकोच था दूर होता जा रहा था। किन्तु इस स्वच्छन्द-वादी प्रेम की वेदना मे भक्ति तथा रीतियुग की वेदना की भाति ज्वाला नही थी। 'सूर' की विरहणी भले ही इतनी जल रही हो कि उसके हाथो के स्पर्श से कागज जल जाता है, 'जायसी' की विरहणी के जलने से कौवा काला हो जाता है, तथा बिहारी की सन्तप्त नायिका की स्वास से माघ माह ही मे लू क्यों न चलने लग जाती हो—

सुनत पथिक मुँह-माह निसि लुवै चलति उहि गाम।
बिन पूछे बिन हीं सुने जियत विचारी वाम॥

अथवा—

आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस क कै सनेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

(बिहारी)

किन्तु स्वच्छन्द प्रेम की धारा मे उन्माद तो उससे भी अधिक है, पर डरने झिझकने तथा साहस करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योकि उसका मूल उत्स ही इतना महान् तथा शीतकर है कि जीवन को अभिभूत कर देता है। प्रेम का आधार ही इतना महान है कि वह विनाशकारी हो ही नहीं सकता, चाहे वह अपने किसी भी रूप मे क्यो न हो—

अम्बर-चुम्बी हिम शृगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये।

(कामायनी,—जयशंकर प्रसाद)

रीतिकाल मे सौन्दर्य ज्वालामय था जिससे मरने-जीने का स्वाग अधिक रचने की आवश्यकता पड़ी है किन्तु इस युग का सौन्देर्य शान्त तथा शीतल है जिसमे उन्मान्द के साथ प्राणमयी धारा का श्रोत भी प्रवाहित होता रहता है; कर्म करने तथा विश्वास को दृढ रखने की एक शान्तिदायिनी प्रेरणा प्राप्त होती रहती है। रीतिकालीन कवियो की भॉति कविता के विषय मे नारी का साढे तीन हाथ का शरीर ही नहीं रह गया बल्कि अनन्त और अगाध विषय

आधुनिक सभ्यता ने लाकर उनके सामने उपस्थित कर दिये है जिनमे नित्य नवीन अनुभूतियो के साथ कवि की स्वच्छन्द भावना ने खुलकर विहार किया है। यदि किसी मर्यादावादी कवि ने परोक्ष सत्ता का सहारा लेकर अपनी वेदना को अभिव्यक्ति दी है तो किसी ने खुलकर लौकिकता की भूमि पर स्वच्छन्द प्रेम को, किन्तु सारे प्रेम-गीत तथा काव्य मानवीय भावनाओं की ही अभिव्यक्ति हैं। यदि हम—'रगमय है देव दूरी छू तुम्हे रह जायगी यह चित्र मय क्रीडा अधूरी' (महादेव वर्मा) को अलौकिक प्रेम मानते है तो 'मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है। विरह प्रेम की शाश्वत गति है और मुमुत मिलन है' (रामनरेश त्रिपाठी) को अलौकिक प्रेम क्यों नही मानते। किन्तु त्रिपाठी जी ने इसमे प्रेम की और वह भी लौकिक प्रेम की सच्ची परिभाषा दी है न कि छद्मवेष मे अपने को लोगों के सम्मुख उपस्थित किया है। इसमे सन्देह नही कि इस कविता मे ही प्रेम को स्वाभाविक स्वरूप मिला। प्रेम का स्वच्छन्द रूप सर्वप्रथम श्रीधर पाठक ने १९ वीं शताब्दी मे अनूदित 'एकान्त वासीयोगी' (मूल कृति हरमिट, गोल्डस्मिथ) द्वारा प्रस्तुत किया। "रीति-ग्रन्थो के लक्षणो पर आधारित सयोग वियोग का वर्णन न करके उन्होने प्रेम की एक ऐसी लोक प्रचलित कहानी सुनाई जो सबके हृदय की अपनी कहानी थो। यह कहानी ही नहीं, मानव जीवन का एक चिरन्तन सत्य है। किसी के प्रेम मे योगी होकर प्रकृति के एकान्त क्षेत्र मे कुटी बनाकर निवास करना एक ऐसी मार्मिक भावना है जो सभी देश के सभी हृदयो को समान रूप से स्पर्श करती है। इगलैण्ड मे बढ़ती हुई भौतिकता के विरुद्ध किसी एकान्त क्षेत्र मे प्रेम की पूजा का संकेत देने के लिए ही 'हरमिट' की अवतारणा हुई थी। यह प्रेम कहानी पण्डितो की रूढि से मुक्त लोक-गीतो के मेल मे दिखाई पडती है[1]" पं० श्रीधर पाठक जी ने अपनी इस रचना द्वारा प्रेम को वासना के रूप मे ही प्रदर्शित करके मानवीय वृत्ति के शुद्ध स्वरूप मे प्रतिष्ठित किया है। इश प्रेम-काव्य का प्रभाव इस इस काल के अनेक लघु काव्यो पर सम्यक रूप से पडा जैसे—

१—प्रेम पथिक . जयशकर प्रसाद
२—शिशिर-पथिक .... रामचन्द्र शुक्ल
३—मिलन... . . ..रामनरेश त्रिपाठी
४—ग्रन्थि... . .. सुमित्रानन्दन पन्त

१. डा० शितिकण्ठ मिश्र- खडी बोली का आन्दोलन।

इस प्रकार के प्रेमाख्यान काव्यो के लिखने की प्रवृत्ति हिन्दी मे सर्वप्रथम इन्ही स्वच्छन्दवादी कवियो द्वारा प्रकट हुई। द्विवेदी-युग के आरम्भ मे प्रेम पर जो कोई उल्लेखनीय रचना नही हो सकी उसका एकमात्र कारण यही है कि उस समय रीतिकालीन श्रृङ्गाग के विरोधी भावो की ही सृष्टि हो रही थी, जो रचनायें हुई भी उनमे उच्च आदर्श ही प्रस्तुत किया जाता था। प्रेम को हृदय की नि स्वार्थ वृत्ति माना गया जिसका प्रभाव 'प्रसादजी' पर भी पडा था। उन्होंने प्रेम-पथिक मे लिखा है '—

> पथिक प्रेम का राह अनोखी भूल भूलकर चलना है।
> घन। छॉह है जो ऊपर तो नीचे कॉटे बिछे हुए है॥
> प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और वासना हवन करना होगा।
> तब तुम ।प्रयतम स्वर्ग बिहारी होने का फल पाओगे॥

'प्रसाद' जी ने प्रेम के तत्व का मन्थन किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि प्रेम वह रोग है जिसमे दु'ख ही दु ख है जिसमे पडकर फिर कोई सुखी नही रह सकता। किन्तु इतना स्वीकार किया है कि उसमे मनोरथ की उतुङ्ग लहरें उठा करती है, यही कारण है कि कवि एक बार यह कह कर कि—

> 'प्रेम, सो जनि प्रीति कीजो समुझि ल्यो मन माँहि।
> प्रेम को जनि नाम लीजो भूलि जाओ याहि॥'

पुन' उसी प्रेम के पीछे दौड लगाते है। यद्यपि, अपने पूर्ववर्ती युग के कवि बोधा के स्वर मे मिलाते है।

> अति खीन मृनाल के तारहुतें, तेहि ऊपर पॉवदै आवनो है।
> सुई-बेह कै द्वार सकै न तहॉ, परतीति को टॉंडो लदावनो है॥
> कवि बोधा अनी बनी नेजहूते चढि तापै न चित्त डरावनो है।
> यह प्रेम को पंथ कराल है री, तरवार की धार पै धावनो है॥'
>
> (बोधा कवि)

> 'पथिक प्रेम की राह अनोखी भूल भूलकर चलना है।
> घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे कॉटे बिछे हुये हैं॥'
>
> (प्रसाद)

फिर भी उनका स्वच्छन्द स्वाभाविक मन यही स्वीकार करता है कि—

हृदय खोलकर मिलने वाले बड़े भाग्य से मिलते हैं।'

'प्रसाद जी' मानवीय भावनाओं के सच्चे कवि तथा स्वच्छन्द एवं स्वस्थ प्रेम के गायक थे। हिन्दी साहित्य ने सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करने वाला इतना बडा कवि अभी उत्पन्न नहीं किया। इन्होंने जिस सौन्दर्य की उपासना की है तथा जिसके साहचर्य के लिये आकुलता प्रकट की है, वह साधारण सौन्दर्य नहीं है जिसे सभी प्राप्त कर ले। वह तो 'चेतना का उज्ज्वल वरदान है और जिसे मिल जाता है उसे इस लोक मे ही स्वर्ग का सा आनन्द आने लगता है—

'उज्वल वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते है।
जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के सपने सब जगते रहते है॥'

(कामायनी)

इसके अतिरिक्त प्रसाद जी ने अपनी प्रेमाभिव्यक्ति की मस्ती मे समाज के व्यङ्गों तथा मरणोन्मुख परम्पराओं की कुछ भी परवाह नहीं की है। उन्होंने 'झरना' मे स्पष्ट कह डाला है—

'डरो नहीं जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनाना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥'

इस प्रकार हम देखते है कि एक ओर तो रहस्यवाद के 'माध्यम से अत्यन्त सूक्ष्म एव अलौकिक सत्ता को लक्ष्य करके आत्मा का परमात्मा के साथ प्रणय-व्यापार चल रहा था तो दूसरी ओर स्पष्ट रूप मे मानवीय अभावों की प्रेम सम्बन्धी तृप्ति की पूर्ण कामना की जा रही थी।'

इस विचारधारा के कवियो का प्रेम अधिकतर निराशाजन्य है और उनका वियोगपक्ष आत्मगत है तथा वियोग भी उसी का है जिससे अभी मिलन नही हो पाया है। यह दूसरी बात है कि कभी कोई किसी के 'निस्सीम हृदय मे' आ गया है। 'प्रसाद' जी ने प्रेम पथिक मे अधिकतर इसे आदर्श के रूप मे ही अपनाया है। किन्तु प्रेम का निराशावाद अत्यधिक मर्मस्पर्शी रूप मे कविवर सुमित्रानन्दन पत के 'ग्रन्थि' मे अभिव्यजित हुआ है—

शैवलिनि जाओ मिलो तुम सिन्धु से।
अनिल आलिङ्गन करो तुम गगन को॥
चन्द्रिके, चूमो तरङ्गो के अधर।
उडगणो गाओ पवन वीणा बजा॥
पर हृदय सब भॉति तू कंगाल है।
देख रोता है चकोर इधर सिहर॥
वह मधुप बिधकर तड़पता है, यहीं।
नियम है संसार का रो हृदय रो॥

उनकी कविता का आदि श्रोत ही विरह है उनका मत है कि—

'वियोगी होगा पहला कवि।
आह से उपजा होगा गान॥
उमड़ कर आखों में चुपचाप।
बही होगी कविता अनजान॥'

रामनरेश त्रिपाठी ने तो प्रेम को जीवित रखने के लिये विरह को अतिआवश्यक माना है। उन्होने अपनी रचना 'मिलन' मे प्रेम को जीवन का सारतत्व ही नही माना है बल्कि उसे स्वर्ग-अपवर्ग और ईश्वर का प्रतिरूप भी माना है—

गन्धविहीन फूल है जैसे,
चन्द्र चन्द्रिका हीन।
त्यों ही फीका है मनुष्य का,
जीवन प्रेम विहीन।
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है,
प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है,
प्रेम हृदय आलोक॥

त्रिपाठी जी ने प्रेम का एक दूसरा पक्ष भी सामने रखा जो 'प्रसाद' आदि कवियों के द्वारा नहीं लाया गया था। इनमे वैवाहिक जीवन के पश्चात्

प्रेम का सूत्र पात होता है और वह विकसित होकर क्रमशः देश प्रेम से विश्व प्रेम तक पहुँचता है। यह अवस्था सूफी सन्तो ने भी दिखलाई थी परन्तु उनके अन्दर इस प्रकार का क्रमिक विकास नही था बल्कि उन लोगो ने लौकिक प्रेम को ही पारलौकिक प्रेम अपने कुछ निश्चित संकेतो के द्वारा बना डाला था। इस प्रकार 'द्विवेदी जी' के उत्तरार्द्ध मे प्रेम-काव्यो की सृष्टि अधिक हुई किन्तु रीतिकालीन प्रेम-काव्यो और स्वच्छन्तावादी प्रेम काव्यो मे महान् अन्तर है। रीतिकालीन काव्य मे प्रेम परम्परागत था और नायिका भेद के नियमानुरूप ही उसका चित्रण हुआ है परन्तु स्वच्छन्दवादी प्रेम सस्कृत नाटको और अग्रेजी प्रेमाख्यानो मे वर्णित प्रेम की भाँति शुद्ध और स्वच्छन्द है। आधुनिक काल में प्रेम को जीवन तत्व के रूप मे स्वीकार किया गया। जिस प्रकार भक्तिकाल में भक्ति जीवन का तत्व माना गया उसी प्रकार आधुनिक युग में प्रेम। इस युग में मुख्यतः प्रेम के दो रूप दिखाई पडते है—एक तो 'पन्त' के 'ग्रन्थि' वाला प्रेम जो प्रथम दर्शन में ही आरम्भ हो जाता है तथा दूसरा रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक' वाला प्रेम जो विवाह के बाद आरम्भ होकर क्रमशः विकसित होता जाता है।



नारी-भावना

अनन्तकाल से नारी काव्य का प्रमुख विषय रही है। कविता वनिता[1] मानी गयी है। इसी से नारी पर उसकी असीम प्रीति रही है। नारी काव्य-रचना का शाश्वत तत्व तो अवश्य रही किन्तु युगानुकूल उसे देखने की दृष्टि मे परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन समय मे नारी नायिका के स्वरूप मे ही काव्य का विषय बन पायी थी, उसके अन्य अनेक पक्ष उभड कर साहित्य में नहीं आ सके थे। कुछ निवृत्तिवादी कवियो ने नारी को मनुष्य को मोक्ष-साधना मे एक बहुत बडी बाधा और उसका पतन कराने वाली की दृष्टि से अपने काव्यों मे चित्रित किया है। रीतिकाल के श्रृगार-प्रधान काव्यों मे नारी नायिका, अभिसारिका, प्रेयसी आदि रूपो मे देखी जाती रही। उनका न तो स्वतः का अस्तित्व था और न व्यक्तित्व हो। उसे समाज मे पुरुषों के आधीन रहना पडा। उसके सामने कर्तव्यो की विशाल परम्परा ही रखी गयी और अधिकारो से उसे सदैव वञ्चित रखा गया। वह पुरुषो की आत्म-तुष्टि एव भोग का साधन मात्र थी। पुरुष को अपने प्राणार्पण से सन्तुष्ट करना ही उसका उच्चतम कर्त्तव्य माना गया। वह पुरुष के व्यक्तित्व का पूरकतत्व ही बन पाई थी, उससे अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं था॥ ऐसी विषम और अन्याय पूर्ण सामाजिक अवस्था मे स्त्री पर दया करना, समानता से उसके प्रति व्यवहार करना अनुचित माना जाना स्वाभा-

---

१. यद्यपि सुजाति सुलक्षणी सुबरनसरस सुवृत्त।
भूषण बिन न बिराजहीं कवितावनितामित्त॥ (केशवदास)

विक था। आधुनिक काव्यों में नारी के प्रति दृष्टिकोण बिल्कुल बदल गया है क्योंकि उसके सामाजिक स्तर मे भी महान् परिवर्तन उपस्थित हो गया है।

नारी के प्रति नर का प्रेम अथवा नर-नारी का पारस्परिक आकर्षण उतना ही प्राचीन एवं शाश्वत् है जितनी कि सृष्टि एवं स्रष्टा। इस युग के कवियो ने 'रीतिकाल' और 'द्विवेदी युग' की अपेक्षा नारी को एक नवीन दृष्टि से देखा है। उसने नारी को केवल शरीरी भोग अथवा कामिनी-रूप मे या 'द्विवेदी युग' की भाँति विशुद्धतावादी और अतिनीतिवादी दृष्टि से नहीं देखा है। रीतिकाल की नारी चौबीस घण्टे चुम्बन-चाटन की वस्तु मात्र थी और द्विवेदी युग की नारी सती, सीता और सावित्री की भाँति मात्र बन्दनीया। स्वच्छन्द युग ने नारी के प्रति कदाचित् अधिक व्यावहारिक दृष्टि अपनायी है। जहाँ उसने आदर्श और कल्पना की उच्चभूमि पर नारी को परम शक्ति और पूज्य माना है, वही व्यवहार की जीवन-भूमि पर उसे कर्म-प्रेरिका और सुख-दुख की चिरसंगिनी के रूप मे भी अपनाया है। स्वच्छन्दयुग के नारी प्रेम को तीन रूपो मे विभाजित किया जा सकता है। (१) प्रेयसी या प्रेमिका रूप (२) मधुमयी नारी (३) पत्नी-रूप या दाम्पत्य-सम्बन्ध। प्रेयसी या प्रेमिका-रूप। नारी स्वच्छन्द और एकान्त प्रेम का विषय नही, मात्र प्रेम और प्रेम करने का प्रश्न होता है। निश्चय है कि इस प्रेम मे बुद्धि की अपेक्षा हृदय, विचार की अपेक्षा भावुकता, यथार्थ की अपेक्षा कल्पना, सत्य की अपेक्षा स्वप्न और व्यवहारिकता की अपेक्षा ऐकान्तिकता का प्राधान्य होता है। प्रेमी अहर्निशि प्रेमिका का मनश्चित्र बनाया-मिटाया करता है। यह प्रेम धार्मिक की अपेक्षा मानसिक ही अधिक होता है। प्रेम की पीड़ा, विरह की वेदना, उपेक्षा की आग और स्वप्नमिलन के काल्पनिक चित्र कवि के भावतरङ्गो से बड़ी ममता और लगन के साथ सँवारे जाते है। 'पन्तजी' ने तो आवेग मे 'भावी पत्नी' का चित्र भी खींच डाला। 'प्रसाद' का 'प्रेम-पथिक' और 'पन्त' की 'ग्रन्थि' का प्रेमी इसी कोटि के प्रेम पर मिटने वाला है। इस प्रेम मे त्याग, बलिदान और आत्माहुति के आदर्श प्रेम के उच्चतम नारी का मधुमय रूप भी पुरुष के प्रेम का पात्र बना है। यहाँ नारी-मन को रमाने और तडपाने का प्रमुख साधन है। यहाँ प्रेम-विलास की प्यास निष्कपट भाव से व्यक्त की जाती है। नारी का प्रेम और सहवास सिद्धान्ततः जीवन का भोग्य और भाग्य माना जाता है। रीतिकालीन प्रेम मे बहुपतित्व और एकाधिक पतीत्व की बाते भी मान्य थी, पर स्वच्छन्दतावाद के छायायुग की द्वितीय पीढी का कवि प्रथम पीढ़ी की

कल्पना की रानी और स्वप्नो की साम्राज्ञी को पार्श्व वासिनी और भुज-शायनी बनाने लगा है। वह उन 'बेहोश घड़ियो की' उम्र बडी चाहता है। उसे यह कहने मे सकोच नहीं कि—

'तुम समर्थन बन भुजाओं में हमारे सो रही हो'

(बच्चन, सतरगिनी)

भगवतीचरण वर्मा कहते है—'तुम इतना ही हँसकर कह दो तुम मेरी ही दीवानी हो' 'प्रवासी के गीत' मे नरेन्द्र, शर्मा प्रेयसी की उस स्थिति को याद कर खुलकर आँसू बहाते है जब प्रेयसी 'घन कुन्तलो से गात घेरी' पास होती थी। इस मधुवाद पर उमर खैयाम का प्रभाव तो है ही, पर उस युग के समाज मे नारी-पुरुष की अप्राकृतिक दूरी भी उसके लिए उत्तरदायी है।

'बच्चन' की कविताएँ मधुमयी नारी को लक्ष्य कर लिखी होकर भी पतीत्व की परिधि मे घिरी है। भगवती चरण वर्मा और नरेन्द्र शर्मा का प्रेम प्रेयसी को लक्ष्य कर प्रवाहित हुआ है। छायावाद की प्रथम पीढी मे 'प्रसाद' के आँसू' मे आयी निम्नलिखित पक्तियाँ भी इसी श्रेणी मे है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निःश्वास मलय के झोंके
मुख-चन्द्र-चन्द्रिका से मैं
नित उठता था मुख धोके।

पर इनमे भी प्रेयसी की अपेक्षा पतीत्व भाव की प्रमुखता है। प्रथम पीढी के नारी विलास मे भी एक मर्यादा और अभिजात्य की इयत्ता है। द्वितीय पीढी के कवि प्रतिक्रिया मे अभिजात्य और व्यञ्जना को छोड़ रहस्यवाद और अभिधा पर उतर चुके थे। इसमे भी नारी के प्रति शारीरिक भोग का अतिरेक होने लगा जैसे प्रथम पीढ़ी मे मानसिकता का।

'स्वच्छन्द-युग' की तृतीय पीढी से सन्तुलन का भाव आने लगता है। शम्भूनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, भारती और प्रो० क्षेम की कविताएँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है। शम्भूनाथ सिंह ने नारी सबन्ध की व्यंजना मे 'पन्त' और 'बच्चन' के बीच का पथ अपनाया। पन्त मे कल्पना और मानसिकता का अतिरेक था तो बच्चन मे यथार्थ और मासलता का दूसरा छोर। शंभूनाथ सिंह ने नर-नारी के यौन सम्बन्ध को कल्पना, भावना और इन्द्रियता के साथ आदर्श की रजना दी। 'प्राण तुम

दूर भी प्राण तुम पास भी। 'मन के खुले के खुले ही रहे द्वार' अथवा मेरो अमिट भूख, मेरी, अपार प्यास' जैसे गीत आदर्श और यथार्थ के सुनहले तार से सम्बद्ध है। जानकी बल्लभ शास्त्री ने 'बच्चन' की वासनामयी नारी को अपने शास्त्रीय सस्कारो एव मार्जित कल्पनाओ से सॅवार कर संयम की शालीनता दी—

'तुम मिली जैसे तने से टहनियाँ।
पल्लव नवल सुकुमार
मुकुल उभार
सौरभ-सार से लचती, लजीली टहनियाँ।

('अवन्तिका' पृ० ३६)

हसकुमार के नारी-प्रेम मे प्रेयसी-तत्व ही अधिक उभरा है—प्रेयसि आरसी चली गयी, प्रिय फूल-सा छूट गया है।' 'भारती' की नारी-परक रचनाओ मे भी 'बच्चन' की नग्नता आर 'पन्त' सी सम्पर्क को दूरी तो नही है पर उसमे भी प्रेमी का रूप ही प्रमुख है, जो छुई-मुई सी लजीली और 'अभी सुकोमल-बहुत सुकोमल है। उस पर कवि जावन-सगिनी का बोझा लादना सहन नही कर सकता। पास रखकर भी कवि उसे भावना और प्रकृति की भूमिका पर दुलराना ही अधिक पसन्द करता है, भारती का रोमास निश्छल पर अकर्मठ है। उसमे यदि वासना का पक नही, तो जीवन की ऊष्मा भी नहीं। 'कच्ची किरनो' का प्रेमी कवि जीवन रश्मियों की सतेजता से दूर भोली आँखमिचौनी मे ही प्रसन्न है। प्रेम और प्रणय के गीतो के लिए प्रो० क्षेम का स्थान स्वच्छन्दतावाद की तृतीय पीढ़ी मे अनुपेक्षणीय है। शम्भूनाथ सिह के कुछ बाद और भारती के कुछ पहले ही उनके स्फुट प्रेम-गीत कवि-सम्मेलनो और पत्र-पत्रिकाओ मे बहुतायत से आते रहे है। सन् १९४३ तक 'ससार' और 'आज' मे उनके 'क्या यही प्रेम की परिभाषा'— जैसे गीत आने लगे थे। सन् १९४५ से प्रयाग के 'अभ्युदय' और 'देशदूत' (साप्ताहिक, इडियन प्रेस) मे उनके गीत बहुतायत से आने लगे। 'कौन तुम राका परी-सी' जेसे गीत देशदूत मे सम्मान के साथ निकलने लगे थे। उनको कविता का प्रथम प्रकाशित सकलन 'जीवनतरी' के रूप मे बहुत बाद को सवत् २००९ वि० मे प्रकाशित हुआ। इसमे 'देश-दूत काल की बहुत' सी रचनाएँ संग्रहीत है। प्रो० क्षेम के प्रेम गीतो को दो श्रेणी मे बॉट सकते हैं (१) प्रेयसी-परक (२) दाम्पत्य-प्रेम। प्रारम्भिक गीत प्रेयसी के प्रति

लिखे गये हैं। 'जीवनतरी' की भूमिका मे कवि ने स्पष्ट रूप से अपने प्रेम को मानवीय घोषित किया है। ये गीत प्रत्यक्षत: नारी के प्रति लिखे गये है। 'प्रेयसी-परक गीतों मे दूरी की पीडा, विरह की वेदना, निराशा का अवसाद पर विश्वास का प्रकाश भी है। ये गीत भावना-प्रधान हैं। 'क्षेम' जी के गीतों का विकास समझने के लिये उनकी दूसरी प्रकाशित काव्य-पुस्तक- 'नीलम ज्योति और सघर्ष' को भी सामने रखना पडेगा। 'जीवन-तरी' का स्थान काल-क्रम से, 'नीलम-तरी की रचनाओ के बाद है 'नीलम-तरी' और 'ज्योत-तरी' के प्रेम गीत वेदना-प्रधान और वियोग-मय है। 'मै गान गा रहा हूँ,' 'तुम भूल भी न आओ,' 'वेदना के प्यार का विश्वास, यदि तुम जान पाते,' 'न आया सबेरा जलो दीप मेरे' (नीलम-तरी) 'तुम न आयीं, प्रिय, सूख चली जीवन-बाती।' और 'तुम्हारी याद के दो छन' (ज्योतितरी) जैसे गीतो मे जहाँ असफलता और अभाव की तड़प है[१] वहीं उनसे प्राप्तव्य के प्रति अटूट विश्वास और आस्था की अडिगता भी वर्तमान है। इन गीतो का प्रेमी प्यार करता है—रोता है, पर विश्वास नहीं खोता—

रामनरेश त्रिपाठी ने जो विवाह के पश्चात् प्रेम का क्रमिक विकास दिखलाया था वहाँ वैवाहिक प्रेम तो नहीं मिलता, किन्तु ऐसा भी प्रेम पात्र नहीं है जिसका कि कभी दर्शन ही नही हुआ अथवा प्रथम झलक भर ही मिलकर रह गयी है। कवि का जो उससे कभी मिलन हो गया था उसका आभार मानते हुये वह पुन. मिलन का विश्वास रखता है। इससे वह अपने व्याकुल प्राण को बौद्धिकता के सहारे समझाता भी है।

'ओ प्राण अभागे, रोता क्यों ?

झरना यदि फूलो का सच है, खिलना क्यों उनका सत्य नहीं !
बिछुड़न यदि जीवन का सच है, मिलना क्यों जीवन सत्य नही ?
यह मन अविराम बहा करता चिर सुख-दुख के युग-कूलों से,
मिलने का सुख-आभार भुला, आँसू का हार पिरोता क्यों ?
ओ प्राण अभागे, रोता क्यों ? (क्षेम, जीवनतरी)

इसके अतिरिक्त कवि इतना तो बता ही देना चाहता है कि जिस प्रेम की वह याचना कर रहा है वह मानवीय प्रेम है और वह स्वय लौकिकता की भूमि पर खडा है। न तो उसने अपने ऊपर रहस्य का कोई आवरण डाला है और न तो रहस्य की भाषा मे बात करना ही वह पसन्द करता है। उसे और कुछ नहीं चाहिये यदि उसे प्रेम का सम्बल मिलता रहे तो वह

जीवन की सभी कठिनाइयो पर विजय पाने का साहस रखता है। वह नि:सकोच स्वच्छन्द होकर स्पष्ट शब्दो मे निवेदन करता है—

मुझे अपनी निगाहों से गिराओ मत !
न मै हूँ देवता सच है, न मुझसे स्वर्ग का सम्भ्रम !
मनुज हूँ साधना बल है, न शूला का मुझे कुछ गम !
सफल है सत्य होते आ रहे जिन स्वप्न फूलों के—
मुझे उन स्वप्न बाहों से गिराओ मत !

(क्षेम 'जीवन ज्योति और संघर्ष')

प्रेम जीवन की सबसे व्यापक वृत्ति है, यही कारण है, कि अनादिकाल से ही यह काव्य का प्रमुख विषय रहा है। इसको सबसे अधिक प्रधानता रीतिकालीन कवियो ने दिया और उससे भी अधिक प्रमुखता उसे आकर स्वच्छन्दवादी कवियो ने दिया। स्वच्छन्दवादी कवियो की प्रणयानुभूति मे अन्य युगो की प्रणयानुभूति से अधिक स्वाभाविकता है जैसा कि हमने ऊपर के उदाहरणो से जान लिया है। स्वच्छन्दतावादी कवि अपनी कविताओं मे स्वय प्रेमी के रूप मे प्रकट होता है, वह स्वय प्रेम करता है जिससे उसकी अनुभूति मे औरो की अपेक्षा अधिक सचाई है। रीतिकालीन कवियो की भाँति दूसरों की प्रेमलीलाओ को चित्रित कर देने वाले कवि मे कभी भी वह सचाई नही आ सकती क्योकि वह स्वय प्रेम नही करता और यदि करता भी है तो कहने का साहस भी नहीं रखता। 'घनानन्द' जी ऐसे एकाध विरले भले ही मिल जायँ जो अन्तिम श्वाँस तक यह कहते चले जायँ कि—

बहुत दिनान के अवधि - आस-पासपरे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान कौ।
कहि कहि आवन सँदेसो मन भावन को,
गहि गहि राखत है दै दै सनमान कौ।
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदासह्वै कै,
अब न घिरत घन आनन्द निदान कौ।
'अधर लगे हैं आन करके पयान प्रान,
चाहत चलन ये संदेसो लै सुजान कौ॥

इस युग मे प्रेम की इतनी प्रधानता रही कि स्वतन्त्र रूप से प्रेम के ऊपर ही अनेक कवितायें रच डाली गयीं। इन काव्यों मे पति-पत्नी का प्रेम उतना नहीं मिलता जितना कि प्रेमी और प्रेमिका का क्योकि आधुनिक नारी परिणीता से अधिक प्रेयसी बन गयी है। प्रेम एकागी नहीं रह गया है बल्कि उसका दोनो पक्षो से आदान-प्रदान होता है, जिसके भीतर आज का सभ्यवर्तमान समाज झाँकता हुआ दिखाई पड रहा है।

'सुधा-सिन्धु पा रश्मि के एक कण में।
उड़ी भावना साधना के गगन में॥
तभी से प्रिये, प्राण पर रूप की।
आरती सी लहराती चली आ रही है॥'

(नीलम ज्योति और संघर्ष, पृ० १५)

प्रेम मे विभोर कवि सम्पूर्ण परम्परा को अपनी समक्ष कर एक क्षण का युगराग बन जाता है—

हूँ युगों की राग शाश्वत, अब न हूँ मै क्षण अकेला,।
किसी का निःश्वास लहरों से मुखर मधु-राग 'बेला'॥
जुड़ गया है आज मुझसे विश्व-झकृत तार कोई'।

(वही पृ० १६)

'क्षेम' जी का यह विरह अमानवीय नहीं, मानवीय है। वह धरती से ही उग कर सुसस्कारो और आदर्शो के आकाश की ओर निरन्त बढता-लहराता रहा है। उसमे भोग की प्यास और शरीर का प्रेम भी है, पर वह वहीं सीमित नहीं है। वे इसे सच्चे प्रेम-पथ के शीतल कुञ्ज और विश्राम-छाया मानते है।

'हमारे तिमिर की रहो दीपिका तुम,
तुम्हारे तिमिर का सहारा रहूँ मै।'

(जीवनतरी पृ० ४४)

जहाँ कवि गाता है—

'रूप के स्वर्ण आलोक छाया तले।
आज मेरे हृदय के रुदन सो गये॥'

(जीवनतरी पृ० ३१)

वहाँ उसे ऐसा विस्तार भी प्रिय है—

'तुम पुकारो हर पलक के प्यास से।
मैं बहूँ हर नयन की जलधार से॥

(वही, पृ० २)

कवि एकपक्षीय विरह मे तडपा ही नहीं, अपर पक्ष को प्रबोधन भी देता है—

'क्षण भर हँमकर तम में बुझते तारों का भी व्यक्तित्व प्रिये
बनते-बनते मिटनेवाले सपनों का भी अस्तित्व प्रिये॥
याचना यही है जीवन की कुछ पूरी हो कुछ शेष रहे
हर एक प्यार का हासों से कब हो पाता है अनुरंजन!
जाने दो प्रेयसि जाने दो!!

(वही, पृ० ४)

विपत्तियों मे भी हँसते चलने का उद्बोधन 'जीवनतरी' के प्रथम गीत का प्राण है—'मनुज हूँ प्रिये, नाशकी उर्मियो से अमर सर्जना की तरी मैं बहाऊँ।' मिलन और रूप के ऐसे भाव-सजल, कल्पना-प्रेरक और मार्जित गीत इस पीढी मे बहुत कम लिखे गये। कहीं-कही ऐसा लगता है जैसे छाया का अतिरेक प्रवण प्रवाह कुछ क्षणों को एक सन्तुलन पर थरथरा उठा हो। अपनापन और मार्जित भावो की तन्मयता के साथ स्थितियों के मर्म भरे कान्त चित्र सरसता और मर्यादा के सगम हैं। इन गीतों की दूसरी प्रमुख विशेषता है, विचारों का भावीकरण और भावों का विचारीकरण। भावो के साथ विचारो का सगुम्फन जहाँ अधिक सप्रयत्न नहीं है, एक विचित्र तेज पैदा करता है। मर्यादा की रक्षा मे कार्य सदैव सचेष्ट है। सुहाग-रात पर लिखे गये गीत की अन्तिम पंक्ति प्रमाण है। वह अश्लीलता की स्याही से चित्र-पट पर किस प्रकार निष्कलक निकल गया है :

'अलस सो रही पाशों में रस की रिमझिम बरसात।
अनंगिनि, आज मिलन की रात॥

'बीत चली लो रात', 'आज मिलन की रात', 'तुम जानो कि मैं जानूँ' जैसे 'जीवनतरी' के और 'आकाश चाँदनी बरस रहा', 'बरसो सुषमा के घन

बरसो' आदि 'ज्योतितरी' के गीत इस कल्पना और कला से अत्यन्त सम्पन्न है। 'क्षेम' जी के गीतों का दूसरा प्रेमरूप दाम्पत्य प्रेम है। ये गीत मिलन-प्रधान और रूप, भोग तथा प्रणय से अत्यन्त सम्पन्न है। इनमे परिवारिक जीवन को सुखद बनने की शक्ति और हृदय को बल देने की क्षमता है। ये गीत रूप-प्रेम, आस्वाद एवं भोग से जहाँ ओत-प्रोत है, वहीं रूपातीत दृढता, आस्वादातीत त्याग और भोगातीत औदार्य से समृद्ध भी। सच्ची बात तो यह है कि रूप, भोग और प्रेम जहाँ स्वयं अपने लक्ष्य न होकर जीवन के साधन और आत्म-विस्तार के द्वार बनते है, वहाँ ये 'विष' से 'भस्म' बन जाते। स्वस्थ भाव तो वह है जहाँ इनसे मानवता का विकास और व्यक्तित्व का विस्तार हो। यह निसकोच कहा जा सकता है कि कल्पना और यथार्थ, विचार और भाव, भोग और त्याग तथा स्वप्न और सत्य का जो सन्तुलन हमे इन गीतो मे प्राप्त होता है, वह इस पीढी के अन्य कवियो मे अत्यन्त विरल है। शम्भुनाथ सिंह के रूप-प्रेम-गीत ऐन्द्रियता-प्रधान और तृष्णामय है। शास्त्री जी के प्रेम-गीत कला और आदर्श से एकागी है। हस-कुमार जी के गीतो मे भाव-सघनता तो है, पर प्रवाह कम है। उन पर 'रवीन्द्र' का प्रभाव गाढा है। 'भारती' के प्रेम-रूप के गीत स्वप्न और कल्पनामय है। 'क्षेम जी' के गीतो मे घरेलूपन और हार्दिकता के साथ-साथ उन्नयन की आकाक्षा सदाशयता और उदात्तता का व्यवहारिक सस्पर्श भी विद्यमान है। इनमे न बच्चन सी मासलता है और न भारती सी काल्पनिकता, न शम्भुनाथ सिंह सा ऐन्द्रियतातिरेक और न शास्त्री जी और हसकुमार तिवारी जी सा शास्त्रीय घटाटोप। वे परिचित और जीवन-सहज भाव सुसंस्कारो और सदादर्शो की भूमि पर हृदय को छूनेवाले तो है ही, विचारो को सतेज करने-वाले भी है। धरती और आकाश की भाँति प्रिय-प्रिया मिलन कितना व्यज-नामय है—

> 'प्रिये, इस धरा-सी हमारी रहो तुम,
> प्रिये उस गगन-सा तुम्हारा रहूँ मैं।
> घिरेगी दुखों की घनी रात काली।

(जीवनतरी)

इन कवियो के अतिरिक्त अन्य कवियों के अन्दर हमें वैयक्तिक प्रेम-व्यापारो के आधार पर लिखी अनेक ऐसी कविताएँ मिलेंगी जिनमे उन्होने अपने प्रेमाभावो की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस खेवे तक आते-आते हम देखते है कि प्रेमाख्यानक लघु काव्यो की परम्परा भी प्राय: समाप्त हो चली और उनका स्थान गीतो अथवा प्रगीतो ने ले लिया। गीतो और प्रगीतो के माध्यम से जिस प्रकार प्रेम की अभिव्यक्ति हो रही है उससे प्रेमानुभूतियो को व्यक्त करने की क्षमता इसने सिद्ध कर दी।

कवि-सम्मेलनो के बढते हुए प्रचार तथा जीवन की अत्यधिक व्यस्तता ने काव्यरूपो को प्रबन्ध तथा लघु काव्यो से हटाकर प्रगीत-मुक्तको तक पहुँचा दिया है। परिस्थितियो की माँग तथा गेय तत्वो के प्रति बढती हुई लोगो की रुचि ने हिन्दी-साहित्य को प्रेम गीतो के द्वारा धनी बनाया है। इस खेवे के कवियो ने अपनी रचनाओ द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि एक सुन्दर साहित्य की सृष्टि के लिए लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति से बढकर दूसरा कोई अन्य शाश्वत मानवीय तत्त्व नही है जो कभी न तो जूठा होता है और न इसका गान कभी बासी। कबीर से लेकर महादेवी तथा आज के कवियो तक का यह प्रिय विषय रहा है किन्तु इसमे नित्य नवीनता आती ही रही। आधुनिकतम प्रेम-गीतो की जो सबसे बडी विशेषता है वह यह कि इसका गायक न तो अपने को धोखा देता है और न सहृदय पाठक को ही। यदि वह किसी सुन्दरी के फीरोजी होठो को देखकर आकर्षित हो जाता है और अपनी आकुलता को सँभाल नही पाता तो उसे जरा भी कहने मे हिचक नहीं रह गयी है—

'किसी के फिरोजी होंठो पर
बरबाद मेरी जिन्दगी है!' (धर्मवीर भारती)

यदि वह किसी सौन्दर्य से अपने को अभिभूत हुआ पाता है तो उसे उसकी महत्ता स्वीकार करने मे किसी प्रकार का संकोच नही है—

किसी के रूप के बादल
हमें सोने न देते है,
हमें रोने न देते है।
कभी पल एक भी अपना
हमें होने न देते हैं।
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल। (शम्भुनाथ सिंह)

इतना ही नहीं बल्कि अतृप्त प्रेम की वेदना से वह इतना परिचित हो गया है कि वह दूसरों को उस स्थिति मे देखना भी नहीं चाहता। वह समानधर्मा होने के नाते अन्य प्रेमियो को सजग भी करता जान पड़ता है, जिससे सहसा कह उठता है, 'टेर रही प्रिय तुम कहाँ' (शम्भुनाथ सिंह) उसका यह तुम 'सब' के लिये भी हो सकता है पर इस प्रकार के गीतों द्वारा एक उदात्त प्रेम का जो स्वरूप उपस्थित किया गया वह आरम्भ मे कम ही दिखाई पडता है। इस खेवे के कवियो मे प्रेम-पात्र के प्रति इतना सहज विश्वास है कि यह जानते हुए भी कि भविष्य मे मिलना कठिन ही है। वे अभाव मे आँसू बहाकर अमंगल की सूचना नही देना चाहते। किन्तु हँसते इसलिए नहीं कि उन्हे विरह दु खद नही है बल्कि उसकी सीमा तो इतनी बढ़ गई है कि सुख और दुख अलग रह ही नहीं गए है। हँसी तो ऐसी ही है जैसा कि एक शायर ने कहा है :

'यह दर्द ही है कि हँस रहा हूँ
वरना आँखों में न कम है आँसू।'

परन्तु आज का कवि उससे भी दो कदम आगे है। यदि कोई परिस्थिति आई ही नहीं तो उससे छुटकारा पाना कठिन नहीं है किन्तु आई हुई परिस्थिति को बदल देना तो शौर्य और साहस का ही काम है। विलासजन्य कापुरुषता तथा दीनता उससे कोसों दूर है। उसकी आखों मे वैसे आँसू आते ही कम है, यदि कही दो बूँद आए तो उन्हे पीने का वह साहस भी रखता है—

'दूर सपनों का बसेरा था मुझे
ज्ञात कुछ भी जब न मेरा था मुझे।
मुस्करा दे जो निराशा के क्षितिज पर
दूर आशा का सवेरा था मुझे।
मिल गये मरु में मुझे दो बूँद आँसू
पी रहा हूँ यह किसी का प्यार है।

(क्षेम, जीवनतरी)



प्रकृति-चित्रण

प्रेम जीवन की प्रमुख वृत्ति है। चाहे 'प्लेटो' के आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखा जाय, चाहे 'फ्रायड' की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से या 'मार्क्स' की पदार्थवादी दृष्टि से, प्रेम की उपयोगिता जीवन मे अनिवारणीय है। भारतीय मनीषा ने तो इसलिए इसको आध्यात्मिक उपासना का माध्यम मानकर एक जन्म नहीं, जन्म-जन्मातर मे इसकी अमरता की घोषणा की। यदि इसका स्थूलतम रूप सृष्टि परम्परा की अक्षुण्णता का मूल है, तो इसका सूक्ष्मतम रूप जीवनमुक्त का परमोच्च साधन। इसलिए अनादिकाल से कलाकारों की कूँची और लेखनी ने इसे प्राणों के रस से सींचा, हृदय के फूलो से पूजा और अन्तर की लौ से जगमगाया है।

यही प्रेम जीवन के नाना सम्बन्धो मे, न केवल चेतन-चेतन के बीच वरन् चेतन और जड के बीच भी फैलकर जीवन की वाटिका को हरा-भरा किए हुए है। आधुनिक युगीन काव्य मे भी यह प्रेम भावना अनेक रूपों मे देखी जा सकती है। प्रकृति-प्रेम, नारी-प्रेम और दिव्य अथवा रहस्यवादी प्रेम इसकी प्रमुख कोटियाँ कही जा सकती हैं।

प्रकृति प्रेम का रूप 'स्वच्छन्द-युग' की कविताओ मे विशिष्ट महत्व रखता है। लगभग सभी कवियों के काव्य में किसी न किसी रूप मे प्रकृति-सुषमा के प्रति प्रेम अथवा प्रकृति रूपों से आकर्षण उभरा हुआ दिखलाई पड़ता है। किसी न किसी रूप मे प्रकृति इस युग मे इतनी प्रमुख हो उठी है जिससे बहुत से विज्ञ आलोचकों का यह विश्वास हो गया कि प्रकृति-प्रेम ही

स्वच्छन्द-युगीन काव्य का मुख्य विभेदक लक्षण है और प्रकृति के विभिन्न रूपो मे एक चेतन सत्ता की अनुभूति या व्यष्टि आत्मा का दर्शन छायावाद का दर्शन है।

प्रकृति चेतना के पूर्व ही विद्यमान थी या बाद मे आयी, इस विवाद मे न पडकर हम इतने सत्य को न निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार ही सकते है कि मानव प्रकृति के क्रोड मे ही आँखे खोलता और जीवन भर किसी न किसी प्रकार प्रकृति से सम्बद्ध रहकर अन्त मे प्रकृति मे ही पचत्व प्राप्त करता है। भारत की अद्वैतवादी मनीषा ने प्रकृति को भले ही माया या मिथ्याभास माना हो, पर बाद को अद्वैतवादियो के सम्प्रदायो ने प्रकृति को भी परम सत्ता मे अन्तर्भूत माना और प्रकृति मे भी भगवद्व्याप्ति की विज्ञप्ति की। प्रकृति मे चेतना का दर्शन करना भारत के लिए तो नया नही है।

प्रकृति का इतिहास मानवता के इतिहास से भी प्राचीन है। सृष्टि के बीच सर्वप्रथम जब मानवता की आँखे खुली अथवा मानव ने जब अस्तित्व ग्रहण किया तब सर्वप्रथम उसने अपने सामने प्रकृति की रमणीयता देखी तथा उसने अपने को उससे घिरा पाया। उसने प्रकृति के सहारे ही जीना सीखा तथा उससे सन्देश प्राप्त करके ही वह उद्बुद्ध हो पाया। ससार और मानव जीवन मे प्रकृति का स्थान अत्यन्त महत्व का है। प्रकृति का वर्णन कविता मे पुरातन-सनातन वस्तु है। व्यक्ति अपने जीवन मे प्रकृति की परिधि द्वारा घिरा रहने के कारण उससे अलग रहकर सोच ही नहीं सकता। उसके विचारो तथा उद्गारो पर प्रकृति का प्रभाव वाछनीय है। जिस काल और युग मे मानव का ज्ञान जिस अवस्था मे था उसने उसी रूप मे प्रकृति को अपनाया है तथा उसी रूप मे प्रकृति काव्यो मे अवतरित हो पाई है। सदैव से ही वह मानव-क्रियाकलापो की क्रीडास्थली रही है। प्रकृति के साहचर्य मे ही मानव चरित्र विकसित होता रहा है। प्रकृति की रचनात्मक शक्ति सुख में हृदय को आह्लादित करती और दुख मे उसकी शान्ति-दायिनी गोद हृदय को सान्त्वना प्रदान करती है। इस प्रकार मानव और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसीलिये काव्य मे प्रकृति का प्रमुख स्थान है। व्यापक-रूप से काव्य मे चार प्रकार से प्रकृति का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार को स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन कह सकते है। जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण कवि का साध्य और लक्ष्य होता है अथवा शास्त्रीय भाषा मे कहे तो वह कवि के भाव का आलम्बन होता है तो उसे प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन कहेगे। दूसरा प्रकार वह है जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण

कवि का साध्य और लक्ष्य न होकर साधन और लक्ष्य (लक्षण) हो जाता है, शास्त्रीय भाषा मे जिसे उद्दीपन कहेगे। ऐसी स्थिति मे कवि प्रकृति का वर्णन नायक-नायिका के मनोवेगो से रजित करके करता है। यहाँ प्रकृति नायक-नायिका के मन के अनुकूल उनके सुख मे सुखी और दुख मे दुखी दिखलाई देती है। तीसरे प्रकार मे प्रकृति का उपयोग मनुष्यो के कार्यों या मनोवेगों की क्रीडास्थली के रूप मे किया जाता है। काव्यो मे प्रकृति का अन्तिम रूप अलकारो अथवा उदाहरण के रूप मे होता है। इनके अतिरिक्त प्रकृति का वर्णन कवि की मनोवृत्तियो, भावनाओ या विचारो पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते है।

प्रकृति का आलम्बन रूप मे चित्रण सस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों की प्रमुख विशेषता रही है। प्रकृति के जिस स्वतन्त्र चित्रण के लिए हम वर्डस्वर्थ जैसे अग्रेज कवियो की भूरि-भूरि प्रशसा करते है तथा छायावादी युग को नया पथ-प्रदर्शक मानते है, वे सभी वर्णन अथवा चित्रण प्रभूत मात्रा मे सस्कृत ग्रन्थो मे उपलब्ध है। महाकवि कालिदास अपने प्रकृति-प्रेम के लिये प्रसिद्ध है। प्रकृति के कोमल रूपों का जितना सुन्दर चित्राकन इनके काव्यो मे मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। प्रात कालीन ओस-बिन्दुओ का एक चित्र देखिए—

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
विद्योतहेर गुलिका विशदं हिमाम्भः।
आमातिलब्ध परभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥

भवभूति प्रकृति के उग्र रूप का प्रेमी था, किन्तु कालिदास को प्रकृति का उग्र रूप प्रिय नही था। ये प्राय रम्य तथा शान्त तपोवन, नदी तट, उपवन, भ्रमर, कोकिल तथा सन्ध्या और प्रभात आदि का ही वर्णन करते पाए जाते है। महाकवि की 'शकुन्तला' तो मानो साक्षात् प्रकृति की कन्या है। आश्रम वृक्षों की मनोयोगपूर्वक सेवा करनेवाली शकुन्तला प्रत्येक वृक्ष को अनुरागपूर्वक सीचती है। वह बिना उन्हे जल पिलाए स्वय जल ग्रहण नहीं करती। आभूषण प्रेम होने पर भी उनके पुष्प नही तोडती। इसके अतिरिक्त 'कुमार सम्भव तो प्रकृति नटी के ललित लास्य की रमणीय रंग-शाला है। प्रथम सर्ग का हिमालय वर्णन विश्वसाहित्य मे बेजोड है।

'शकुन्तला' की भाँति 'पार्वती' भी प्रकृति की देवी जान पड़ती है। 'मेघदूत' की सजल कल्पना मे हमे कालिदास के प्रकृति के उद्दीपन-स्वरूप का चित्रण मिलता है। 'मेघ' के साथ महाकवि की जो वायवी कल्पना है वह आधुनिक युग मे मानवीकरण को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है। कवि केवल 'घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा' कहकर ही नहीं सन्तुष्ट रह जाता वरन् हिन्दी के रीतिकालीन स्वच्छन्द कवि 'घनानन्द' की भाँति—

'कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन
मों अँसुवान को लै बरसौ।'

वह बादलो द्वारा विरही यक्ष का सन्देश अलकापुरी मे स्थित यक्षिणी के पास भेजता है। मेघदूत के बादलो मे कवि ने मानवात्मा का तादात्म्य कराया है। उसने बादलो को चेतनता की विशाल भूमि पर अंकित किया है। कालिदास ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही रूपो मे प्रकृति का चित्रण किया है। प्रकृति का इतना सुन्दर तथा सर्वव्यापी चित्रण हमे हिन्दी के किसी भी आरम्भिक महाकवि मे नहीं मिलता, चाहे वे युगनायक कवि सम्राट तुलसी हों अथवा महाकवि 'सूर'। रीतिकालीन हिन्दी कवियो ने तो प्रकृति को उसी प्रकार बन्दी कर लिया जैसा कि महिमामयी 'नारी' को। इस युग के कवियो मे प्रकृति का आलम्बन रूप प्रायः लुप्त हो गया और उसके उद्दीपन रूप की ही काव्यों मे प्रमुखता हो उठी। आरम्भ से ही हिन्दी-कवियो की प्रवृत्ति प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की ओर नही थी। जहाँ कही भी उन लोगो ने प्रकृति को अपनी रचना मे स्थान दिया है वहाँ केवल वर्ण्य-विषय को सजाने तथा रजकता लाने के लिये। इन लोगों का प्रेम सौदर्य से रहा है न कि प्रकृति से। इन लोगों ने केवल सुन्दरता मे रमणीयता देखी है, सर्वत्र नही। प्रकृति जब तक कवि के लिये साध्य नही हो जाती तब तक वह स्वतन्त्र रूप से उसके सौदर्य की परख नहीं कर पाता। जब वह प्राकृतिक सौन्दर्य का स्वतन्त्र दर्शन करता है तभी उसे उसकी पृथक् सत्ता का भान होता है और वह उसके निरलकृत चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो पाता है। ऐसी स्थिति मे वह अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही उसे स्वरूप प्रदान करता है। उसकी मनोवृत्ति ही वैयक्तिक कल्पना, भावना और अनुभूति के बल पर प्रकृति को अनुरंजकत्व और भावकत्व तथा मानवत्व प्रदान करती है। हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी विचार धारा ने जिस प्रकार साहित्य की अनेक रूढ़ियों पर प्रहार किया उसी प्रकार उसने प्रकृति को भी शास्त्रीय शृंखलाओं से मुक्त किया। इतना तो स्वीकार

करना ही पड़ेगा कि आधुनिक युग मे प्रकृति-प्रेम हमे वर्ड्सवर्थ जैसे अंग्रेज कवियो से मिला और प० श्रीधर पाठक की स्वतन्त्र प्रकृति पर लिखी हुई कविताएँ इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

प्रकृति को देखने की दृष्टि मे जो महान् परिवर्तन स्वच्छन्दतावादी दृष्टि-कोण ने उपस्थित किया, उसके द्वारा ही हम यह जान सके कि प्रकृति का काव्य के लिये अपना अलग अस्तित्व है तथा वह स्वतन्त्र रूप से भी काव्य की विषय-वस्तु बन सकती है। हमने जाना कि 'प्रकृति अपने रूप व्यापार से कवि-मानस का अनुरजन करती है। अनुरजन से हमारा आशय कवि-मानस पर होने वाली विविध भाव-सृष्टि से है। प्रकृति के सौम्य और मृदुल, शान्त और मधुर, भीम और भयकर, उग्र और प्रखर रूपो के अनुसार कवि के मनोभाव जाग्रत होते है। यह ठीक है कि उसकी पुतली देखती है पर उसका रूप-चित्र कवि के मानस पर होने वाली सौम्य या उग्र, मधुर या कटु सवेदना के ही अनुरूप होगा।'[1] प्रकृति का केवल यही कार्य नही है कि वह अपने रूप-व्यापार से कवि का मानस-रञ्जन मात्र ही कर दे बल्कि वह अपने व्यक्तित्व की चेतना से उसे अभिभूत करती हुई भावना-लोक का निर्माण भी करती है तथा उसके हृदय पर प्रभाव भी डालती है। यही कारण है कि आज का कवि प्रकृति को सजीव, सप्राण रूप मे देखने लग गया है और उसमे मानवी व्यक्तित्व का आरोप भी करने लग गया है। तारों भरी निशा का जो चित्र 'प्रसाद' जी ने कामायनी के 'आशा' सर्ग मे खींचा है, वह निश्चित ही एक अल्हड, अज्ञात-यौवना नारी का चित्र है :

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिञ्चन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

---

१. हिन्दी कविता में युगान्तर (पृ० २९३)

इस प्रकार से हम देखते है कि प्रकृति काव्य मे उद्दीपन मात्र ही न रहकर (१) चेतनी-करण तथा (२) मानवीकरण की वस्तु भी हो गई है। प्रकृति को आलम्बन रूप मे चित्रित करनेवाले कवियो मे प० श्रीधर-पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी प्रमुख है । त्रिपाठी जी ने अपनी 'पथिक' नामक रचना मे प्रकृति को मानवी आलम्बन का बडा ही रम्य रूप दिया है—

'प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला ॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है ॥

हिन्दी कविता मे स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का जो एक रूप छायावादी काव्यधारा के नाम मे अभिहित किया जाता है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये तो प्रकृति ने पग-पग पर सहायता की है। छायावाद से यदि प्रकृति को अलग कर लिया जाय तो वह पङ्गु हो जाय। आधुनिक युग मे अग्रेजी शिक्षा के माध्यम से यहाँ के कवियो पर प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण का प्रभाव तो पडा ही, साथ ही वैदिक तथा सस्कृत साहित्य के अध्ययन से भी उस ओर कवियो का ध्यान आकर्षित हुआ और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकृति रूढिमुक्त हुई। दूसरी बात यह भी है कि इस युग के कुछ कवियों का कोमल और कल्पना-शील हृदय इस लोक के व्यवहार से सन्तुष्ट नही हो सका, उनकी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण उन्हे अपने हृदय की बात समझनेवाला कोई हाड़-मास का जीव नही मिला।

कवियों का प्रकृति के प्रति आकर्षण उनकी प्रेम-भावना का बहुमुखी विकास है जिसके अन्दर सिमट कर प्रकृति अपने आप आ गई है। आधुनिक काव्यो मे प्रकृति का मानवीकरण जिस सफलता के साथ किया जा रहा है वह किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है। मानवीकरण की दिशा मे श्री सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' ने सन् १९१६ मे जो अपनी 'जुही की कली' नामक कविता मुक्त छन्द मे लिखी वह एक दीप-स्तम्भ बन गई है। कवि की इस सृष्टि मे 'जुही की कली' एक साधारण कली न रहकर ऐसी मानवीय नायिका बन गई है जिसका प्रेमी मलयानिल भी शरीरधारी नायक की भाँति उसके पास आता है। दोनो की क्रीडा मे अत्यन्त लौकिक सजीवता है—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल कोमल-तनु-तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते है मलयानिल !
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुज लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डाल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,
चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्र मुख हँसी-खिली,
खेल रंग, प्यारे संग ।

प्रकृति के इस क्रिया-कलाप मे दो प्रेमियो की विह्वल प्रेम-क्रीडा व्यजित हुई है। प्रकृति की मनोमय-मोहक गाथा हिन्दी के जिन कवियों ने पढ़ी है उनमे सुमित्रानन्दन पन्त का स्थान प्रमुख है। पन्त ने प्रकृति के भीतर जो नारी-सौन्दर्य देखा है वह पार्थिव नारी, जो कि प्रेयसी है, के आकर्षण और सम्मोहन को भी जीत सका है। कवि नारी के आकर्षण से आहत अवश्य है किन्तु प्रकृति के आकर्षण से विह्वल होकर वह सहसा कह उठता है—

> छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
> तोड़ प्रकृति से भी माया,
> बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?

महादेवी वर्मा के लिये तो प्रकृति शृंगार की ही वस्तु है। प्रकृति प्रियतम की ओर संकेत करनेवाली उनकी अभिन्न सहचरी है, उनकी आत्मा की छाया है, रहस्य ब्रह्म की छाया है तथा उनके जीवन का अपरिहार्य अश है। अपने असीम की ओर बढती महादेवी प्रकृति के कण-कण से परिचित होती हुई आगे बढ़ी है और उसका क्रन्दन पहचान कर ही आश्वस्त हो पाई है। प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी, ये चार कवि प्रकृति के चित्राकन के लिए प्रसिद्ध है, प्रकृति इनकी काव्यकला मे विशेष रूप से सप्राण है। 'प्रसाद' प्रकृति के रूपों द्वारा प्रेम रहस्य के सकेत करते है। निराला दार्शनिक तत्वो की व्यंजना करते है, पन्त प्रकृति को प्राणमयी देवी मानकर कल्पना करते है और महादेवी की तो वह सहचरी ही है। इनके अतिरिक्त आधुनिकतम कवियो की कविताओं मे पग-पग पर प्रकति उनकी सहायता करती जान पडती है।



प्रथम उत्थान

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के प्रथमोत्थान का आरम्भ **पंडित श्रीधर-पाठक** की रचनाओं से मानना चाहिए। **पं० रामनरेश त्रिपाठी** की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ भी इसी श्रेणी मे रखी जा सकती है। आगे चलकर इस विचारधारा को जब गीति काव्य की भूमि मिली तब इसमे अद्भुत विकास हुआ। इस विकसित काव्यधारा के अन्तर्गत ही छायावाद के प्रमुख स्तम्भ जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन-पन्त, महादेवी वर्मा और इनसे प्रभावित काव्यधारा के कवियों की रचनाएँ आती हैं। इस गीतिकाव्य के साथ महादेवी जी तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के नाम इस प्रकार लगे हुए है कि भिन्नता के होते हुए भी इन्हें अलग नही किया जा सकता। काव्य की जिस प्रवृत्ति को लोगों ने रहस्य-वाद के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया था उसके उन्नायको मे यही दो कवि प्रमुख है, जिससे इस सन्दर्भ मे इन दोनो का उल्लेख आवश्यक है। इस प्रथमोत्थान मे कुछ ऐसे भी कवियो के दर्शन हुए जिनमे स्वच्छन्दतावादी काव्य की विशेषताएँ स्वस्थ रूप मे विद्यमान थी, पर वे प्रबन्धात्मकता की ओर झुके रहने के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवाह के किनारे-किनारे ही चलते रहे और तृतीय उत्थान काल मे आकर पुनः अपनी रोमानी भावनाओं के साथ प्रकट हो गए, जिनमे गुरुभक्त सिह 'भक्त' का नाम प्रमुख है।

जयशंकर प्रसाद

स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा की जिस शैली को हम 'छायावाद' का नाम दे बैठे है उसके उन्नायको मे 'प्रसाद' जी का स्थान सर्वोपरि है। प्रसाद जी की रचनाओ का आरम्भ काल हिन्दी साहित्य का वह काल था जिस पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण प्रभाव व्याप्त था। तत्कालीन साहित्यकारो पर द्विवेदीजी का इतना आतक छाया हुआ था कि उनकी लेखनी प्रायः स्वच्छन्दता पूर्वक कल्पना-ससार मे विचरण करने से घबराती थी और वह एक सीमित क्षेत्र के अन्दर ही बचा-बचाकर डग भर रही थी। द्विवेदीजी की ओर से कविता को अधिक प्रोत्साहन भी नहीं मिला क्योकि उन्होने अपना अधिक से अधिक समय गद्य-परिष्कार मे ही लगाया। ऐसी स्थिति मे एक ऐसे कवि का साहित्यिक मूल्याकन करना, जो कि स्वतन्त्र रूप से अपनी नवीन शैली के साथ कल्पना ससार मे ही विचरण कर जीवन-ज्योति रूपी मोतियो की खोज कल्पना-सागर मे ही करना चाहता है, न तो सम्भव है और न लोग साधारणतः उसे समझने का प्रयत्न ही करना चाहेगे। यही कारण है कि आरम्भ मे उनकी कविताओ के सम्बन्ध मे विद्वानो ने जो मत प्रकट किए वे रचनाओ की आत्मा को छू नहीं पाए। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे व्यक्ति ने भी तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर यह कह डाला कि 'इनकी रहस्यवादी रचनाओ को देखकर चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यो कहे कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर मे कूदकर असीम पर जा रही है।'[1]

'शुक्लजी' द्वारा दिया गया उपर्युक्त मत कभी भी 'प्रसादजी' की शैली तथा काव्य की व्याख्या नही हो सकती क्योकि ऐसा लगता है कि पडितजी ने कवि की स्वतन्त्र भावनाओं तथा विचारो का सम्यक् मनन किये बिना ही उपर्युक्त निर्णय दे डाला है। प्रसादजी ऐसे मस्त और समाज की सकीर्ण विचार-धाराओ के व्यंग की कुछ भी परवाह न करने वाले स्पष्टभाषी थे जिन्होने अपने जीवन की अनुभूतियो को ही अपनी कविता तथा काव्य का आधार बनाया, अपने विचारो को व्यक्त करने के लिये रहस्यवाद का परदा लेते, तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता। इस प्रकार

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८२।

बच-बचकर चलने की भावना रखनेवाला कवि जैसा कि आचार्य 'शुक्ल' ने समझा है कभी ऐसा नही कह सकता, जैसा कि प्रसादजी ने 'निवेदन' किया है—

'डरो नही जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा॥

केवल एक चुम्बन पर सारी झझटो को टाल देनेवाला कवि रहस्यवाद का भी पर्दा ले सकता है, कुछ समझने की ही बात नही, सोचने की भी बात है। प्रसादजी की जिन रचनाओ को देखकर रहस्यवादी कविताओ का भ्रम होता है वे रहस्यवादी कविताएँ नही बल्कि धरातल पर रहनेवाले मास-पिण्डो से युक्त मानव-सम्बन्धी धरातल के लिए ही लिखी गई आन्तरिक अनुभूतियाँ है जिनमे चिन्तन की गहनता के कारण निखार अधिक है।

पथिक के पहले डग से ही उसकी मजिल का अनुमान लग जाता है। कवि की व्यापक दृष्टि का नवजात अकुर उसकी आरम्भिक रचनाएँ ही होती है। यदि हम 'प्रसाद जी' की आरम्भिक रचनाओ को देखे तो हमारी कठिनाई बहुत कुछ दूर हो सकती है क्योंकि उसके आधार पर हम कवि की विकास रेखा का अनुमान लगा सकते है—

'सरासर भूल करते है उन्हें जो प्यार करते है,
बुराई कर रहे हैं और अस्वीकार करते है।
उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का,
किसी से पूछ लेते है यहीं उपकार करते है।
जो ऊँचे चढ़के चलते हैं वो नीचे देखते हरदम,
प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते है।
न इतना फूलिए तरुवर सुफल कोरी कली लेकर,
बिना मकरंद के मधुकर नही गुंजार करते है।
'प्रसाद' उसको न भूलो तुम तुम्हारा जो कि प्रेमी है,
न सज्जन छोड़ते उसको जिसे 'स्वीकार करते है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि आरम्भ मे ही एक स्वाभिमानी प्रेमी की भाँति अपनी रचनाओ मे प्रकट हो जाता है। आरम्भ से ही किसी भी वस्तु को देखने का प्रसाद जी का अपना अलग दृष्टिकोण रहा है जिसमे किसी भी प्रकार की साहित्यिक सीमाएँ, चाहे वे शैलीगत रही हों अथवा विषयगत, उनके स्वतन्त्र विचारो को बाँध नही पाई है। महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित काव्य की इतिवृत्तात्मक काव्य-शैली

का उन्होने अपनी रचनाओ मे पूर्ण बहिष्कार किया तथा अपनी वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व को रचनाओ मे साक्षी रखकर भावाभिव्यक्ति की, जो तत्कालीन काव्य की वर्णनात्मक शैली से अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई।

'प्रसादजी' ने काव्य की जिस शैली को प्राथमिकता प्रदान की उसके लिये यद्यपि तत्कालीन भाव-भूमि उपयुक्त नही थी, उस समय हमारे बीच राष्ट्रीयता की एक ऐसी धारा प्रवाहित हा रही थी जिससे साहित्य को चिरस्थायी बनाने की प्रवृत्ति लोगो मे कम हो चली थी और नागरिको के सोए हुए राष्ट्रीय भावो को जगाने के लिए साहित्य-सर्जन की ओर कवियों की अधिक रुचि थी, किन्तु उन राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत कविताओं मे बात सीधे-सीधे कह दी जाती थी जिससे उनमे साहित्यिकता का अभाव रहता था। इस काव्यधारा के अग्रणी बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्रीय वाणी का जो सिंहनाद किया, सर्वप्रथम उसमे भी हमे कोई साहित्यिक निधि नही प्राप्त होती, यद्यपि उनकी 'भारत भारती' भारतीयों के गले की हार बन गई थी। उसमे आदर्श के साथ करुणा से परिपूर्ण राष्ट्रीयता का सन्देश था। स्वतन्त्रता-सग्राम की भयकरता इस सीमा तक पहुँच गई थी कि उसको दबाने के लिये अग्रेज प्रभुओ ने अपनी कोई कला शेष नही रखी और एक ऐसी भी स्थिति आ गई थी कि सीधे-सीधे राष्ट्रीयता का नाम लेना दुष्कर था। किन्तु युग की वह अमर धारा कला की ओट लेकर अभिधा के स्थान पर व्यंजना के रूप मे प्रवाहित होती ही रही। इस प्रकार की रचनाओ के सूत्रधार थे प० माखनलाल जी चतुर्वेदी जैसा कि उनके 'फूल की चाह' नामक कविता से प्रकट है, जिसमे वे एक कामना करते है—

'मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर तुम देना फेक,
मातृ भूमिपर शीश चढाने जिस पथ जावे वीर अनेक।'

इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओ मे कलात्मकता भी अधिक थी और उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी था। इस राष्ट्रीयता का प्रभाव 'प्रसाद' ने अपनी रचनाओं मे अन्य प्रकार से ग्रहण किया। जहाँ तक कविताओ का प्रश्न है वे पूर्णरूपेण खुलकर राष्ट्रीय कवि के रूप मे नही आ सके हैं क्योंकि उनका विचार था कि युग-जागरण का सबसे अधिक कार्य नाटकों के माध्यम से किया जा सकता है। देश की जागरूक जनता उपदेश और व्याख्यान नहीं चाहती बल्कि वह ऐसा नायक अथवा नेता चाहती है जिसके आदर्श को सामने रखकर वह पीछे-पीछे जय-युद्ध के लिये चल

सके। यह महत् कार्य नाटको द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है क्योंकि उनमें स्रष्टा को अवकाश रहता है कि वह नायक की सृष्टि कर सके। यही कारण है कि यदि हमे राष्ट्रीय 'प्रसाद' को देखना है तो हमे उसे उसके नाटको मे देखना होगा। उनके नाटको मे लिखित गीत राष्ट्रीयता के महामंत्र है, जिनकी प्रेरणा हमे स्वतन्त्रता की वेदी पर बलि देने को बाध्य सा कर देती है। कवि ने देश प्रेम को भावुकता मे देश की स्वतन्त्रता के लिये उद्बोधन गीत लिखा है जिसमे वह सम्पूर्ण बाधाओ को ताडकर आगे बढ़ चलने का सन्देश देता है—

'हिमाद्रि तुंग शृङ्ग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयं-प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती
'अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो, बढ़े चलो।

देश प्रेम पर लिखी प्रसाद की कविताएँ द्विवेदीयुगीन देश-प्रेम की कविताओ से भिन्न है। जहाँ पर द्विवेदी युग मे विशेषणो की संख्या गिनाई जाती थी वहीं प्रसाद जी ने उसके प्रभावकारी गुणों की चर्चा की है। मैथिलीशरण गुप्त की—

'नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
चन्द्र सूर्य युत मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन है,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयाद हैं, बलिहारी उस वेश की।
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सवेश की॥

ये पक्तियाँ उन्हीं प्राचीन विशेषणो का प्रतिनिधित्व करती हैं जिन्हें प्राचीन आचार्यों ने गिनाये थे, किन्तु प्रसाद जी का देश प्रेम इससे अधिक भावात्मक और व्यापक है—

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा॥
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर, नाच रही तरु-शिखा मनोहर।
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा॥

लघु सुरधनु से पंख पसारे, शीतल मलय समीर सहारे।
उडते खग जिम ओर मुँह किये समझ नीड निज प्यारा ॥
बरसाती आँखों के बादल, बनते जहाँ भरे करुणा जल।
लहरे टकराती अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा ॥'

इसमे कवि की दृष्टि की व्यापकता इतनी विशाल है कि वह क्षितिजि के किनारे तक की कल्पना कर लेता है। इनकी रचनाओ मे प्रकृति चित्रण पर-प्राचीनता का निर्मोक लक्षित नही होता, जिसमे उन्होने पुरातन प्रबन्ध परम्परा का पूर्ण बहिष्कार किया है। इनके अतिरिक्त प० श्रीधर पाठक आदि की रचनाओ मे प्रकृति का स्वतन्त्र चित्रण तो आ चुका था किन्तु इन्होने सर्वप्रथम काव्य मे प्रकृतिचित्रण द्वारा माधुर्य का चारु चाँद उगाया। 'प्रसाद जी' ने प्रेम पथिक मे रोमाटिक काव्य की सृष्टि की है जिसमे स्वयं प्रकृति वातावरण प्रस्तुत करती है। आँसू, जिसको हम गीतकाव्य की हिन्दी-साहित्य को देन कह सकते है और जिसकी गणना हिन्दी की कुछ ही उत्कृष्ट रचनाओ मे की जा सकती है, कवि की अनुपम भावनाओ की उडान का ही परिणाम है। 'आँसू' अपने थोडे से विरह गीतो के द्वारा ही सर्वोत्तम काव्यो की श्रेणी मे रखा जाने का अधिकारी है। इस काव्य को लेकर यह विवाद खडा होता रहता है कि इसे रहस्यवादी काव्य की श्रेणी मे रखे या इसे मानवीय विरह-वर्णन ही स्वीकार किया जाय। इसमे कवि ने बिना किसी भय के मानव के विलासमय जीवन का चित्रण किया है और उसके अभाव मे आँसू बहाया है, जिसमे वह आगे चलकर जीवन से समझौता कर लेता है। विलास की व्यापकता किस प्रकार मनुष्य को विवश किए रहती है उसकी महत्ता को प्रकट करने के लिये कवि ने उसी प्रकार के उपमानो का प्रयोग किया है। इसे तो हम प्रसाद जी की नि सकोच आत्माभिव्यक्ति कह सकते है, जिससे श्रेष्ठतर काव्योपयोगी वस्तु अन्य हो नही सकती। यह सब प्रकार से मानवीय काव्य है और प्रसाद जी मानवीय भावनाओं के कवि है। अपनी 'लहर' नामक रचना मे उन्होंने मनुष्यो के मन मे उठनेवाली स्वाभाविक स्वच्छन्द भावनाओ की लहरो का चित्रण किया है। इस प्रकार की कविताओ मे प्रसाद जी का व्यक्तित्व ही बोलता हुआ दिखाई पडता है—

हिन्दी का आधुनिक काल मुख्यत: मुक्तको और प्रगीतो का काल है किन्तु प्रसाद जी की 'कामायनी' ने प्रमाणित कर दिया कि आधुनिक युग मे भी अभिनव शैली के महाकाव्य लिखे जा सकते है। प्रसाद जी का यह महाकाव्य भी समस्त प्राचीन साहित्यिक शास्त्रीय रूढ़ियो को एक चुनौती है।

इस महाकाव्य को न तो हम विषयवस्तु की कसौटी पर कस सकते है और न अन्य विहित महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणो पर। यह प्राचीनता के विरोध मे बहुत कुछ सफल नवीन प्रयोग है। जब तक हम इसकी पूर्ण चर्चा नहीं करते तब तक हम प्रसाद-साहित्य की आत्मा को पहचान नही सकते क्योंकि यह ग्रन्थ एकमात्र कवि की बहुमुखी प्रतिभा का चरम विकास है। इसके अन्दर ही कवि ने विभिन्न साहित्यिक उपादानो को समेट कर अपने ढंग से रखा है और इसके पूर्व की उसकी सभी रचनाएँ वे आरम्भिक सीढियाँ है जिनपर होता हुआ वह इस शिखर तक पहुँच सका है। जिसमे सर्गों की व्यवस्थिति हो, शास्त्रकारो के मत से, वही महाकाव्य है। भामह ने इसके सम्बन्ध मे जो मत प्रकट किया है उसके अनुसार यह आकार मे बडा होता है, महान् व्यक्तियो का चित्रण करता है, ग्राम्य प्रयोगो से रहित रहता है, अलंकारो से युक्त होता है तथा सत् को आश्रय देने वाला होता है। इसमे मत्रणा-गृह, दूत, यात्रा, युद्ध और नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है तथा यह नाटक की पञ्च सधियो से युक्त और सुखान्त होता है। दण्डी ने भी 'काव्यादर्श' मे इन्ही का विस्तार किया है और 'साहित्य दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ के अनुसार एक देवता अथवा धीरोदात्त नायक के गुणो से समन्वित सद्व श क्षत्रिय इसका नायक होता है। कही एक ही वश के अनेक भूप नायक होते है। शृगार, शान्त और वीर मे से कोई एक रस अङ्गी होता है और अन्य रस गौण हुआ करते है। ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध कथा, नाटक की सभी सन्धियाँ, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष मे से एक उसका फल होता है। खलो की निन्दा, सज्जनो का गुणकथन, आठ से अधिक सर्ग, प्रत्येक मे एक ही छन्द, अन्तिम छन्द दूसरा जिससे अगली कथा का सूत्र चलता है, कही-कही अनेक छन्द भी मिलते है, सागोपाग युद्ध, विवाह आदि का वर्णन-ऐसे नियम हैं जिनका पालन करना महाकाव्यकार के लिए आवश्यक होता है। किन्तु उपर्युक्त किसी भी लक्षणकार की परिभाषा के अन्दर 'कामायनी' को नही रखा जा सकता और यह भी सम्भव नही है कि उसे महाकाव्यत्व की मर्यादा से उतार दिया जाय।

महाकाव्यो की सृष्टि पहले होती है और उनके लक्षण बाद मे उन्हींके आधार पर बनाये जाते है। किसी भी युग का महान प्रतिभासम्पन्न कवि अपनी रचना द्वारा लक्षणों का निर्माण करता है। कालिदास के 'रघुवश' को महाकाव्य के अन्दर लेने के लिए साहित्यदर्पणकार को एक नायक के स्थान पर वश को नायक के रूप मे स्वीकार करना पड़ा। यदि आठ सर्गों से

अधिक सर्गो के होने की व्यवस्था का कडाई से पालन किया जाय तो 'तुलसी' के 'रामचरित-मानस' को भी महाकाव्यो की श्रेणी से अलग रखना होगा। प्रसाद जी ऐसे ही प्रतिभावान् महाकवि है, काव्य के लक्षण जिसके पीछे दौडते है। एक सच्चे कवि के लिए शास्त्रीय बन्धनो का कोई मूल्य नही होता। उसके मन मे जिस प्रकार जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब वह उसे गीत-काव्य मे प्रकाशित किये बिना नही रह सकता, उसी प्रकार जब उसके मन मे एक महत् व्यक्ति अथवा आदश का उदय होता है, सहसा जब एक महान् पुरुष अथवा एक महान् आदर्श उसके कल्पना-राज्य पर आकर अधिकार जमाता है तब उसके उन्नत भावो से उद्दीप्त होकर, उन्हे स्वरूप प्रदान करने के लिये वह भाषा के भवन का निर्माण करता है और तब महाकाव्य की सृष्टि होती है। 'कामायनी' ऐसा ही आधुनिक युग का महाकाव्य है जिसके अन्दर वर्तमान युग की विषम समस्याओ का समाधान निहित है।

'कामायनी' के अन्दर वस्तुजगत् के अनेकमुखी दृश्यो और परिस्थितियों का चित्रण नही मिलता तथा प्रकृति-सौन्दर्य-वर्णन वस्तुरूप मे मिलता है, इसलिये कुछ लोग 'कामायनी' को महाकाव्य कहने मे हिचकते है। इसके अतिरिक्त इसमे युद्ध छायात्मक और प्रतीकात्मक है तथा सघर्ष अधिक प्रभावशाली नहीं है परन्तु आन्तरिक सघर्ष अद्भुत है। सारस्वत प्रदेश मे, बुद्धिवादी भौतिक विकास एव परम्परागत लक्षणो को पूरा न करने पर भी 'कामायनी' महाकाव्य है। 'कामायनी' कवि के व्याकुल मन की समाधानयुक्त वाणी का अनुपम कोष है। जब कवि अपने जीवन मे किसी आदर्श एव महान् चरित्र से अभिभूत होता है, तब अभिव्यक्ति के लिए उसकी वाणी बाहर आने के लिये अकुला उठती है, जिसे कहे बिना कवि रह नहीं सकता और वही वाणी महाकाव्य का रूप धारण कर लेती है। मानवीय भावनाओ के स्वच्छन्द गायक कवि 'प्रसाद' को अपनी भावनाओं को 'कामायनी' के रूप में जो एक समन्वित रूप देना पडा है उसके मूल मे कोई न कोई अवश्य ही बड़ी बात होगी। निश्चय ही उन्हे मानवता को एक महान् सन्देश देना था जिसके सहारे वे अपनी वतमान विषम परिस्थितियो से जूझते हुए सच्चे सुख का अनुभव कर सके। महाकाव्य को छोडकर यह महत् कार्य काव्य के अन्य रूपों द्वारा कभी भी सम्भव नही, जिससे कवि को अपने काव्य की स्वच्छन्द भाव-तरङ्गो से लहराती हुई 'कामायनी' को उस आनन्दवाद की मंजिल तक पहुँचाना पडा जिसकी उसने इच्छा की थी—

'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना।
चलना होगा उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं॥'

—प्रेमपथिक

जहाँ पहुँच कर जीवन की सारी विषमता तो समाप्त हो जाती है, किन्तु निस्सीमता और विशालता के कारण और कुछ अधिक जानने की जिज्ञासा बनी ही रहती है क्योकि प्रसाद जी की कल्पना कभी सीमा का बन्धन स्वीकार नही कर सकती। उनकी कल्पना की उडान की मञ्जिल ऐसी है जहाँ.

'बन गया तमस था अलक-जाल।
सर्वाङ्ग ज्योतिमय था विशाल॥
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित।
थी शून्य-भेदिनी-सत्ता चित्॥
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत।
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित॥
स्वर लय होकर दे रहे ताल।
थे लुप्त हो रहे दिशा काल॥'

(कामायनी, दर्शन सर्ग)

अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति 'प्रसाद' जी की कविताओं मे केवल कल्पनाओ की उडान नहीं है बल्कि उनमे उडान की अपेक्षा कल्पना की सूक्ष्मता अधिक है जिससे वर्ण्यवस्तु को प्रस्तुत करने मे अनोखापन आ गया है। वे सभी कारण जिन्होंने प्रसाद जी को कामायनी लिखने के लिये विवश किया, उनकी उन कविताओं के लिये भी उत्तरदायी हैं जिनमे मन की अभावजन्य आकुलता तो है किन्तु स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की अपेक्षा स्वर्णिम अतीत का यशोगान अधिक है। प्रसाद जी को जीवन मे यदि उपेक्षा मिली है तो उन्हे मनचाहा वरदान भी मिला है। जिस प्रिय के उपेक्षापूर्ण व्यवहारो पर वे रोते सिसकते है:

'रो रोकर सिसक-सिसककर कहता मैं करुण कहानी।
वे सुमन नोचते सुनते करते जानी अनजानी॥'

(आँसू)

उसके साहचर्य के सुख का गौरव भी उन्हे मिल चुका है :

'माना कि रूप सीमा है
सुंदर तव चिर यौवन में,
पर समा गए थे मेरे
मन के निस्सीम गगन मे।
थक जाती थी सुख रजनी
मुख-चन्द्र अङ्क में होता,
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता। (आँसू)

मिलन की मधुरिमा तथा विरह की कटुता दोनो का कवि ने अनुभव किया है। जीवन के क्षणिक सुख और अभाव के विषम दु:ख का उसे पूर्ण अनुभव है जिससे वह निरन्तर चिन्तन के बल से ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालने मे तत्पर जान पडता है जिसपर चलकर जीवन के वास्तविक सच्चे सुथ का स्थायी रूप मे अनुभव किया जा सके। यही कारण है कि हमे उनके काव्य मे निरन्तर विकास-क्रम लक्षित होता है जो कामायनी के 'आनन्दवाद' मे अपनी चरम अभिव्यक्ति पा सका है। जीवन के क्षणिक सुख एवं चिर-दु:ख तथा मिलन की मधुरिमा और विरह की कटुता के बीच शाति न पाने के कारण कवि की जो भावना सदैव किसी एक स्थायी स्थिति को अपने काव्यो के माध्यम से ढूँढ़ती रही है, वही स्थायी स्थिति, समरसता के सिद्वान्त के रूप मे, महाकाव्य 'कामायनी' के लिये अपूर्व वरदान सिद्ध हो गई है।

'कामायनी' मे प्राय: सभी प्रमुख स्थलों पर समरसता का आग्रह पाया जाता है। प्राय सभी महाकाव्यो मे एक न एक आग्रह अवश्य होता है। अपने काव्य के माध्यम से कवि एक न एक सन्देश देना चाहता है। 'प्रसाद' जी ने श्रद्धा के मुख से अपनी बात कहलाई है :

"नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा की नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।"
(कामायनी)

आगे चलकर 'दर्शन' खण्ड मे भी 'श्रद्धा' अपने पुत्र मानव को समरसता का उपदेश देती है :

'सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार ॥'

अन्त मे जहाँ सब मिल जाते है वहाँ भी और उपसंहार मे भी यही आग्रह है। बीच-बीच मे काम ने भी यही उपदेश दिया है :

'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह मे
कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी
अधिकार और अधिकारी की।'

(इड़ा सर्ग)

'प्रसाद' जी द्वैत की सत्ता को मानते है तथा इस पर विश्वास करते है कि यह द्वैत की सत्ता ही सघर्षो के मूल मे विद्यमान है :

द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव
शाश्वत रहता वह एक मन्त्र।

(इड़ा सर्ग)

संसार मे सभी चीजो के साथ द्वन्द्व लगा हुआ है जिनके मूल में द्वैत की सत्ता ही कार्य करती रहती है। इस द्वैत की सत्ता को प्रमाणित कर लेने के पश्चात् उन्होंने अद्वैत का खण्डन किया है। द्वैत की सत्ता तो प्रमाणित है ही, क्योकि अद्वैतवादी भी माया और ब्रह्म दो वस्तुएँ मानते है, परन्तु इन दोनो के बीच क्या होना चाहिए, यही झगडा है। भक्ति भाव के उपासक इस सम्बन्ध को सेवक और सेव्य-भाव मानते है और दास्य भाव के उपासक इसे अधिकार और अधिकारी मानते है। इस सम्बन्ध को प्रसाद जी ने सामरस्य का सिद्धान्त माना है जिस एक के बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। जहाँ विषमता है, वही वेदना है और जहाँ साम्य है वही आनन्द है। आरम्भ मे प्रकृति और पुरुष मे वैषम्य रहा जिससे प्रलय हुआ और केवल चिन्तित मनु बच रहे किंतु जब सामरस्य स्थापित हो गया तो वही आनन्द की सृष्टि हुई।

इसी प्रकार की वात भगवान् बुद्ध ने भी की थी। भगवान् बुद्ध के पूर्व लोग छोर (Extreem) पर ही थे। ज्ञान-पन्थी ज्ञान को और भक्त भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मान बैठे थे। भगवान् बुद्ध ने मध्यमा प्रतिपदा का मार्ग दिखाया, जिसे अरस्तू ने 'गोल्डेन मीन' कहा है। 'प्रसाद' जी ने इसी बीच के मार्ग यानी देवताओ की विलासिता और तपस्या के बीच प्रेम का सन्देश दिया .

> जिसकी लीला थी विकस चली
>
> वह मूल शक्ति थी प्रेम कला ,
>
> उसका सन्देश सुनाने को।
>
> संसृति में आई यह अमला।

इसके पूर्व देवता विलासी थे जिनका अन्त प्रलय मे हुआ और उनके बाद तपस्वी रूप मे आकर्षण से हीन मनु बच रहे जिस स्थिति मे भी सृष्टि और सर्जन की अबाध धारा आगे न बढ पाई ;

> अकेले तुम कैसे असहाय
>
> यजन कर सकते ? तुच्छ विचार ?
>
> तपस्वी ! आकर्षण से हीन
>
> कर सके नहीं आत्मा विस्तार। (कामायनी)

तपस्वी ठूँठा वृक्ष है और कर्मशील वटवृक्ष के समान हरा वृक्ष है जो प्रकृति के अन्य अङ्गो से सरलता के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, जो ठूँठ वृक्ष के लिये सम्भव नही। तपस्वी मनु शक्तिविहीन शिव रूप है जिसमे तपस् कला की प्रधानता है और शक्ति का, जो आनन्द कला है, सामरस्य नहीं हो पाया है, जिससे वह दुखी है। जिस प्रकार शिवाजी स्वेच्छा से अपने मे आकर्षण उत्पन्न करते है और तब शक्ति का आगमन होता है जिससे आनन्द की सृष्टि होती है, उसी प्रकार मनु के हृदय मे प्रेम की उत्पत्ति होने से श्रद्धा के साहचर्य द्वारा सृष्टि का विकास-क्रम आगे बढ़ता है। प्रसाद जी पूर्णत. आनन्दवादी हैं। उनका आनन्द कहीं-कहीं भोगवाद की सीमा तक भी पहुँच गया है। मानवजीवन को गतिमान बनानेवाली श्रद्धा के द्वारा उन्होंने जीवन को वास्तविकता प्रेम-कला का प्रतिपादन किया :

'तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।' (कामायनी)

बाद मे मनु तपस्या को छोडकर आँधी की भाँति विलास की ओर बढ़ते है तो वहाँ भी उन्हे हार मिलती है क्योकि वह भी मध्यम मार्ग न रहकर एक सीमा को पहुँच गया था। उन्होने देवताओं के प्रणय मार्ग को अपनाया जिसकी निस्सारता की ओर काम ने संकेत भी किया है :

तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके।
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके॥
(इड़ा सर्ग)

समरसता-सिद्वान्त का प्रेम-कला व्यावहारिक पक्ष है। इसमे अधिकार और अधिकारी की अवस्था नही होती। समरसता की अवस्था से ही आनन्द की सृष्टि होती है। आरम्भ से ही उनकी रचनाओं, आँसू आदि मे समरसता का आग्रह पाया जाता है परन्तु उसे सैद्धातिक रूप कामायनी मे मिला। कहानी, उपन्यास, नाटक आदि सब स्थानो पर उन्होंने समरसता की व्याख्या की है। प्रेम पथिक मे भी उन्होने हिमालय को आदर्श माना है, जिससे स्नेह की गंगा बहती है और विशाल मरुस्थल की अवहेलना की। इस प्रकार इनकी समस्त रचनाओं मे प्रायः व्यावहारिक पक्ष मे प्रेम और दार्शनिक पक्ष मे समरसता के सिद्धान्त का आग्रह है। 'कामायनी' मे तीन तत्त्वो मे समरसता की स्थापना की गई है जो बौद्धों से चला है। इसके पात्र ऐतिहासिक भूमिका मे मनावृत्तियो के भी प्रतीक हैं। इसमे मानवता का रसमय इतिहास तो वर्णित है ही, साथ ही मानव मनोवृत्तियो का सूक्ष्मतिसूक्ष्म विवेचन भी है। मनु मन के प्रतीक है और श्रद्धा हृदय की। इसके साथ ही इच्छा, कर्म और ज्ञान जो मानवमन की शाश्वत वृत्तियाँ हैं उनकी गति-विधियो का मनोवैज्ञानिक लेखा लिया गया है। इनका वैभिन्न्य ही दुख का कारण होना है और जब ये अभिन्नत्व प्राप्त करते हैं तब उस सामरस्य की स्थिति से आनन्द की प्राप्ति होती है :

ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की। (कामायनी)

स्वच्छन्दतावादी काव्यो की प्रमुख धारा प्रेमपरक रही है। 'प्रसाद जी' के सम्पूर्ण काव्य की आदि भूमिका प्रेमपरक है। वे पूर्णतः मानवीय भावनाओं के प्रेमी कवि हैं। कामायनी तो प्रेम का सन्देश देने के लिए लिखी ही गई है किन्तु उनकी अन्य रचनाओ मे भी इसी मूल वृत्ति को पकडा गया है। वे प्रेम को ही जीवन का सर्वस्व मानते है

> किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितना ही
> करे प्रशंसा, किन्तु हिमालय-सा ही जिसका हृदय रहे,
> और प्रेम - करुणा गंगा-यमुना की धारा बही नहीं,
> कौन कहेगा उसे महान् ? न मरु में उसमें अन्तर है।

रीतिकालीन शृगारी भावनाओं के स्थान पर काव्य मे प्रेम की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की देन है। प्रसाद जी के प्रेम की मुख्य तीन कोटियाँ है। उनके प्रेम की प्रथम श्रेणी तो वह है जिसके अन्दर उनकी विरह-वेदना मुखर हुई है। जिस प्रिय का अभाव कवि को असह्य हो गया है वह प्रिय महादेवी वर्मा के प्रेमी सा नही है जिसका कभी साक्षात्कार ही नहीं हुआ बल्कि ऐसा प्रिय है जिसके साहचर्य का लाभ उठाने का उन्हे गर्व है। प्रेम की दूसरी श्रेणी विरह की वह स्थिति है जिसमे आत्मतुष्टि के लिये वह पूर्व मिलन को महत्व देता जान पडता है, जिससे उसके अभाव के आँसू असमर्थता के आँसू नहीं रह जाते बल्कि वे गौरवपूर्ण बन जाते है। इसके अतिरिक्त प्रेम की तीसरी श्रेणी मे आनन्द की वह स्थिति है जब प्रिय का मिलन हो जाता है .

> मिल गए प्रियतम हमारे मिल गए,
> यह अलस जीवन सफल अब हो गया।
> कौन कहता है जगत है दुःखमय ?
> यह सरस संसार सुख का सिन्धु है।
> इस हमारे और प्रिय के मिलन से
> स्वर्ग आकर मेदिनी से मिल रहा।

किन्तु हम देखते है कि प्रसाद जी की जिज्ञासा अपना अन्त नहीं जानती। प्रिय से मिल जाना तथा उसका साहचर्य प्राप्त कर लेना ही उनके लिये सब कुछ नहीं है बल्कि उनका कुतूहल आगे बढता ही रहता है और यह जिज्ञासा उनके मन मे उठती रहती है कि अभी कुछ और शेष है जिसे जानना है। यही जिज्ञासा का भाव स्वच्छन्दतावादी कविताओं का प्राण है :

नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष;
गूढ़ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अन्त का आलोक,
सतत होता जा रहा हो नयन की गति रोक। (कामायनी)

प्रसाद जी ने अभावजन्य दुःख और मिलनोद्भूत सुख को समान महत्व दिया है:

मानव-जीवन-वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का।
सुख दुख दोनों नाचेंगे, है खेल आँख का, मन का॥

वे दुख से दूर नहीं भागना चाहते बल्कि उसे जीवन के लिये वरदान स्वरूप मानते है:

जिसे तुम समझे हो अभिशाप,
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान,
कभी मत इसको जाओ भूल।

(कामायनी)

सुख और दु ख की स्थिति जीवन मे दीर्घकाल तक बनी रहे—कवि इसका भी समर्थक नही है, बल्कि वह दोनो मे सामजस्य स्थापित करना चाहता है:

हो उदासीन दोनों से दुख-सुख से मेल कराएँ,
ममता की हानि उठाकर, दो रूठे हुए मनाएँ।

कवि का जीवन प्रेम की वृत्ति मे इतना रम गया है कि वह जीवन के सभी व्यावहारिक पक्षो को उसकी ही तुला पर तौलता जान पडता है। उसके काव्य के अन्य जितने उपादान है वे प्रेमाभिव्यक्ति के सहायक होकर आए है। विषय-वस्तु की दृष्टि से काव्य के लिये मानव के पश्चात् प्रकृति का स्थान है। संस्कृत-साहित्य के पश्चात् जो थोडी बहुत प्रकृति-चित्रण की परम्परा हिन्दी काव्यो मे चली आ रही थी वह भी रीतिकालीन कवियो के हाथो मे पडकर एकमात्र उद्दीपन रूप मे ही शेष रह गई जिसका पुनरुद्धार आधुनिक युग के स्वच्छन्दतावादी कवियो द्वारा हुआ। इन कवियों को नायिकाओ से अवकाश मिल गया है जिससे वे अपने आस-पास देख-भालकर प्रकृति का यथार्थ चित्रण करने लग गए है।

प्रसाद जी की रचनाओं मे प्रकृति प्रभूत मात्रा मे विद्यमान है। हमे इनके काव्यों मे प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनो रूप प्राप्त हो जाते है, जैसा कि अन्य हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी कवियो मे कम ही मिलता है। किन्तु इनकी जो सबसे बडी विशेषता है वह यह कि इन्होने प्रकृति चित्रण के लिये परम्परित रूढ़ियो को नहीं अपनाया है।

जयशकर प्रसाद ने प्रकृति के अन्य पक्षो के चित्रण मे जितनी तत्परता दिखाई है उतनी उसके स्वतन्त्र दर्शन मे नहीं। प्राकृतिक दृश्यो की अनुभूति उनके अन्तर मे इतनी अधिक है कि वे लुभावनी छटाओ को देखकर चमत्कृत हो उठते है :

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी,
न है उत्पात, छटा है छहरी।
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना,
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी॥

(झरना)

प्रकृति को उपमा और रूपक के रूप मे प्रस्तुत करने का कार्य कालिदास के पश्चात् 'प्रसाद' जी द्वारा भी हुआ। किसी वस्तु या व्यक्ति का वर्णन करने के लिये उपमाओ और रूपको की आवश्यकता होती है जिसका अक्षय कोष प्रकृति है। प्रकृति को इस रूप मे प्रस्तुत करनेवाले आधुनिक कवियो मे प्रसाद जी का स्थान बहुत ऊँचा है :

खेल खेलकर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ।
खिलता था नव प्रणयानिल से नन्दन-कानन का अरविंद॥
विमल हृदय आकाश-मार्ग में अरुण विभा दिखलाता था।
फैल रही थी नव-जीवन सी वसन्त की सुखमय सन्ध्या॥
खेल रही थी नव सरवर में तरी पवन अनुकूल लिए।
सम्मोहन वंशी बजती थी, नव तमाल के कुञ्जों में॥

(प्रेम पथिक)

किन्तु जब कभी प्रकृति का मादक प्रभाव हृदय को अत्यधिक अभिभूत कर देता है तब उसे भी सचाई के साथ स्वीकार कर लेते हैं।

छोटे छोटे कुञ्ज तलहटी गिरि कानन की शस्य भरी,
भर देती थी हरियाली ही हम दोनों के हृदयों में।

(प्रेम पथिक)

प्रसाद जी के काव्य मे प्रकृति-चित्रण की जो सबसे बडी सफलता रही है वह प्राकृतिक पदार्थों के मानवीकरण की। 'कामायनी' का सारा का सारा प्रकृति चित्रण ऐसे उदाहरणो से भरा पडा है। जहॉ पर कवि ने भावनाओ एवं मनोवृत्तियो को अद्भुत मानवी स्वरूप प्रदान किया है, वहीं उसने प्राकृतिक उपादानो का जीवन्त चित्र ही नही खीचा है बल्कि उसे ऐसा मानवी स्वरूप प्रदान किया है कि भ्रम हुए बिना नही रहता। यही उनकी काव्य-कला का सबसे बडा रहस्य है जिसमे न तो प्राचीन रूढियो का योग है और न तो शास्त्रीय नियमों का पालन, बल्कि कवि की अपनी उर्वर प्रतिभा एवं अद्भुत कल्पना का चमत्कार है। जब कवि कहता है—

बीती विभावरी जाग री।
अंबर पनघट में डुबो रही
तारा घट ऊषा नागरी।

तब एक सुकोमल-सुन्दर एवं मोहक नारी रूप सामने उपस्थित हो जाता है। इसके अतिरिक्त जहॉ कहीं भी उन्हे प्राकृतिक छटाओं का वर्णन करना पड़ा है। प्राय: उन्होने यही शैली अपनाई है। जहॉ कही भी उन्हे रात्रि का चित्र खीचना पडा है—कहीं भी उन्होंने उसे न तो द्रोपदी की चीर कहा है और न विषैली काली नागिन। उसे केवल मानवी स्वरूप ही नहीं प्रदान किया है बल्कि उसके आभूषणों आदि तक को मानवीय ढंग से प्रस्तुत किया है—

विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से,
आती चूम-चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।
× × × ×
पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अञ्चल;

देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा वेसुध चञ्चल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

(कामायनी, आशा सर्ग)

चिरन्तन काल से नारी काव्य की गति-विधि को आगे बढ़ाती रही है। प्रत्येक युग मे तत्कालीन सामाजिक मान्यता एवं आवश्यकता के आधार पर काव्यो मे नारी रूप का चित्रण होता रहा है। ईसा की यह बीसवी शताब्दी नारी जाति के इतिहास मे विशेष महत्व रखती है। नारी-जीवन मे परिवर्तन लाने की जितनी प्रबल क्रान्ति इस युग मे हुई है उतनी अनेक युगो मे मिल कर नही हो सकी। उसकी आँखो द्वारा खिडकियो से देखा हुआ ससार अब इतना विस्तृत हो गया है कि उसके अन्दर उसके लाज, सकोच तथा अवगुंठन के झीने पट आत्मसात् होते जा रहे है। अब वह पुरुषो की गुलाम नही रह गई है बल्कि उनसे समानता का दावा रखती है और घर की चहारदीवारी से निकलकर सभा-मञ्चो तक पहुँच चुकी है। इस नारी-आन्दोलन को जो इतनी तीव्रता मिली है उसमे आधुनिक युग के कवियों एवं साहित्यकारों का विशेष हाथ है। मुख्यत कवियो के मन मे यह प्रतिक्रिया रीतिकालीन कविता के विरोध मे हुई। नारी के सौन्दर्य, सामाजिक महत्व, व्यावहारिक पक्ष तथा गार्हस्थ्य जीवन आदि के सभी रूपो मे महान् परिवर्तन उपस्थित हुआ है। 'प्रसाद' जी का स्थान उन कवियो मे सर्व-प्रथम है जिन्होने नारी जाति के अधिकारो की वकालत की है। इन्होने अपने काव्य मे नारी के पत्नी, प्रेयसी, गृहिणी आदि रूपो का चित्रण तो किया ही है, उसके साथ ही साथ उसके सौन्दर्य की जो कल्पना की है वह निश्चित ही हिन्दी काव्य-शैली को एक अपूर्व देन है। इन्होने नारी-रूप का जो दृष्टिकोण अपनाया है उसमे उन रीतिकालीन सभी उपमानो का प्राय: बहिष्कार है जिसके लिये कदली-खम्भो, श्रीफलो तथा विषैली नागिनियो की आवश्यकता होती थी। इन्होने अत्यन्त अछूती उपमाओ के साथ नारी के रूप और उसकी विशेषताओ का चित्रण किया है:

उषा की पहली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद,
मद - भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति को गोद।
कुसुम-कानन अञ्चल में मन्द
पवन - प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।

(कामायनी, श्रद्धा सर्ग)

मङ्गल कुंकुम की श्री जिसनें
निखरी हो उषा की लाली,
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमें हरियाली।

(कामायनी, लज्जा)

रीतिकाल के कवियो ने नारी के जिस सौन्दर्य को ज्वालामय चित्रित किया था, 'प्रसाद' जी ने उसी सौन्दर्य को शान्ति और शीतलता प्रदान करनेवाला चित्रित किया है। इन्होने सौन्दर्य को अनिर्वचनीय सत्ता के रूप मे स्वीकार करते हुए उसे चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है जिसमें स्वप्नो की साकारता रहती है :

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं;
जिसमें अनन्त अभिलाषाओं के
सपने जगते रहते है।

(लज्जा सर्ग)

सौन्दर्य के लिए सम्भावित कल्पना भी उडान इन्होने की है किन्तु साथ ही साथ इन्हे उसकी सम्भावना मे बराबर सन्देह भी बना रहा है :

अम्बर-चुम्बी हिम-शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिए;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिए।

नारी की असमर्थता तथा पुरुष की उपेक्षा को 'प्रसाद' जी ने दोनों की समानता मे ही नहीं बदला है बल्कि नारी को कुछ अशो मे पुरुष से अधिक समर्थ चित्रित किया है। यही कारण है कि श्रद्धा के प्रेरक उपदेश ही हताश मनु को जीवन-यात्रा मे निरत करते है। 'प्रसाद' जी ने इसका पूर्ण अनुभव किया था कि पुरुष की उपेक्षा और वियोग मे नारी बहुत आँसू गिरा चुकी है अब उसे भी तिरस्कार का अवसर मिलना चाहिये :

यह तीव्र हृदय की मदिरा
जी भर कर छककर मेरी,
अब लाल आँख दिखला कर
मुझसे ही तुमने फेरी।

(आँसू)

इसके साथ ही वे नारी को भी उसके कर्तव्यों के प्रति जागरूक रखने के लिये आदेश सा देते जान पढते है :

आँसूसे भींगे अञ्चल पर
मन सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मिति रेखा से
यह सन्धि-पत्र लिखना होगा।

(कामायनी)

'प्रसाद' जी मानवतावादी कवि थे। यही कारण है कि इन्होने उन सभी थोथी मर्यादाओ तथा बन्धनो का तिरस्कार किया है जो मानवता के विकास मे विघ्न उपस्थित करते है और उन्होने अपने काव्य मे अपनी स्वच्छन्द कल्पना के बल से मानवता के भावी सुख का मार्ग भी दिखाया है।

कविवर 'प्रसाद' को कोमल भावों के कलाकार के रूप मे ही अधिक स्वीकार किया जाता है, पर कवि की महान् प्रतिभा को किसी सीमा विशेष मे आबद्ध कर देना समीचीन नही जान पडता, सो भी ऐसे कवि के लिए जिसने कविता की क्यारियो को अपने अन्तस्तल के आँसू से सीचा है, जिसका हृदय झरना बनकर लगातार माता के चरणो को धोता रहा है और जो प्रेम-पथिक के रूप मे कानन कुसुम चयन करता हुआ भाव-समुद्र मे

लहरों का उठना गिरना देखता रहा है। वह इतिहास के उन शुष्क मरुस्थलों और टूटे-फूटे श्मशानवत् ढूहों मे भी चक्कर काटता रहा है, जो अतीत को वर्तमान से मिलाते और हमारे अन्दर अनेक सुप्त स्मृतियों को जगाते हैं।"
इतिहास के ध्वसावशेषों मे भी समान मस्ती के साथ रमनेवाले कविवर 'प्रसाद' कवि दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिभा बनकर काव्य जगत् में उपस्थित है। उनकी काव्यसाधना का संपूर्ण आधार जीवन की एक श्रेष्ठ बौद्धिक धारणा पर आधारित है। 'प्रसाद' जी के हृदय में कवि का विकास ही प्राकृतिक भावोच्छ्वास को लेकर हुआ है। प्रकृति-प्रेम इनके काव्य मे एक जिज्ञासा के रूप मे आता है। वे प्रकृति की रमणीयता पर मुग्ध अवश्य है पर इस आकर्षण मे वे अपने को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हैं। भारत की प्राकृतिक सुषमा मे वे राष्ट्रीय चेतना का उद्बोधन कराना नहीं भूल पाते। द्रष्टा प्रसाद की आँखों मे प्रश्न की एक रेखा है जिससे वे जो कुछ भी देखते हैं उससे उनके हृदय मे रसोद्रेक होता अवश्य है पर उसकी मात्रा इतनी नहीं कि वह उनके मनःप्राण को डुबा दे। कवि का मस्तिष्क विद्रोह कर उठता है, वह पूछता है यह सब क्या है ? इसे कौन कर रहा है ? जिसके इन प्रश्नों का काई समाधान मिलता नहीं जान पडता। यह अतृप्त जिज्ञासा प्रकृति के साथ कवि-हृदय का मेल नहीं होने देती, जिससे वह उसकी शोभा और रमणीयता तक ही रह जाता है, दोनों के बीच जिज्ञासा की दीवार खडी है, सौ दर्य का भार विकसित और व्यापक नहीं होता। 'प्रसाद' का दार्शनिक और कवि रूप कहीं भी समन्वित नहीं हो पाता।

प्रकृति की गोद मे चलनेवाले कार्यव्यापारों को देखकर मानव जीवन की विषमता को समाधान का स्वर प्रदान करने के लिये 'प्रसाद' जी किसी एक निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा भी करते हैं। अस्थिर चित्त मानव की स्थिति मधुप की सी है :

मधुप कब एक कली का है।
पाया जिसमे प्रेम रस, सौरभ और सुहाग,
बेसुध हो उस कली से, मिलता भर अनुराग,
विहारी कुंज गली का है।
कुसुम धूल से धूसरित चलता है उस राह,
काँटो में उलझा तदपि रही लगन की चाह,
बावला रंग रली का है।

हो मल्लिका, सरोजिनी, या यूथी का पुंज
अलि को केवल चाहिए, सुखमय क्रीड़ाकुंज,
मधुप कब एक कली का है !

"इसमे सदेह नहीं कि अँग्रेजी के कवि वर्डस्वर्थ के समान प्रकृति के साथ उनका निसर्गसिद्ध तादात्म्य नही दीख पडता, प्रत्येक पुष्प मे उन्हे वह प्रीति नहीं जो वर्डस्वर्थ को थी। प्रत्येक पर्वत, प्रत्येक घाटी उनकी आत्मीया नहीं। वे प्रत्येक पक्षी को प्यार नही करते। उनका प्रेम रमणीयता से है, प्रकृति से नहीं। वे सुन्दरता मे रमणीयता देखते है, उस सुन्दरता के सम्बन्ध मे उनकी भावना रति की भी है और जिज्ञासा की भी। रति उनका हृदय-पक्ष है और जिज्ञासा मस्तिष्क पक्ष।"[1] पर इसी जिज्ञासा के कारण तो वे जड़ मे चेतन का आभास पाते है। सामाजिक बन्धनो की निरुपायता में जब 'प्रसाद' जी का कवि विह्वल हो उठता है तब वह स्वयं को तृप्ति देने के लिये अपनी अनुभूतियो को वाणी देने लग जाता है। उस समय प्रकृति के सहारे ही तो वह सामाजिक निस्सारता की चर्चा कर पाता है :

निकल मत बाहर दुर्बल आह !
लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद नीरद माला के बीच
तड़प ले चपला-सी भयभीत।

पड़ रहे पावन प्रेम फुहार
जलन कुछ कुछ है मीठी पीर
सँभाले चल कितनी है दूर
प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर।

अश्रुमय सुन्दर विरह निशीथ,
भरे तारे न ढुलकते आह !
न उफनाते आँसू हैं भरे,
इन्हीं आँखों में उनकी चाह।

काकली सी बनने की तुम्हें
लगन लग जाय न हे भगवान,
पपीहा का पी सुनता कभी ?
अरे कोकिल की देख दशा न।

१. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।

हृदय है पास साँस की राह
चले आना जाना चुपचाप,
अरे छाया बन छू मत उसे
भरा है तुझमें भीषण ताप ।।

हिलाकर धड़कन से अविनीत
जगा मत सोया है सुकुमार,
देखता है स्मृतियों का स्वप्न,
हृदय पर मत कर अत्याचार । (चन्द्रगुप्त)

ऐसे प्रसंगो से यदि प्रकृति को निकाल लिया जाय तो कलत्मकता के साथ-साथ भावगाभीर्य भी समाप्त हो जायगा और परिस्थितियो की जिन विकटताओं का चित्रण कवि करना चाहता है उसका भी रंग फीका पड जायगा। इस प्रकार 'प्रसाद' के कवि ने युग की माँगो को न तो अस्वीकारा है और न अभिव्यक्ति के लिए उन्होने परिस्थितियो से आँखें ही मूद ली है। आँसू मे पुराने रंग अधिक है पर झरना की अपेक्षा अधिक पुराना रंग लेकर भी आँसू काव्य मे प्रसाद की निकटतर अभिव्यक्ति है। इसमे रहस्य-वाद, छायावाद नहीं है और इसीलिए यह काव्य अधिकाधिक लोकप्रिय भी हो सका है। आँसू मे जहाँ यौवन के उद्दाम विलास के अवरुद्ध हो जाने का क्रन्दन है वहाँ उसके यौवन का उतना उभार नहीं है, पर इसमे सन्देह नहीं कि निर्माण की भूमिका मे प्रविष्ट होकर कवि ने अपने जीवन का सर्वग्राही प्रेम आत्मसात् कर लिया है जिसके कारण ही जन-जन का हृदय स्पर्श करने मे आँसू की पंक्तियाँ अधिक समर्थ हो सकी हैं। 'प्राचीन यौवन विलास मे वैभव की समाधि पर ही विरह का यह कलापूर्ण स्मारक खडा है। आँसू मे कविमानव की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।' 'प्रसाद' में ऐसी आकर्षक पीडा है जिसके गर्भ मे उषा की हलकी लज्जा झाँकती हुई ऐसी मनोरम दीखती है कि सहृदय पाठक के मन मे आशा का संचार हुए बिना नहीं रह पाता। इसमे मानस मे चलनेवाले युद्ध की छाया तो है ही पर उसके साथ ही साथ कवि का निहित सन्देश भी है। उसमे परिस्थिति के प्रति विद्रोह भी है और जीवन के साथ समझौता भी, आशा-निराशा, वियोग-सयोग तथा उत्थान और पतन आदि सबको प्रसाद-काव्य मे प्रति-निधित्व मिला। 'प्रसाद' जी मानव भावनाओ के कवि है। 'प्रसाद' मे कभी भी ऐसा व्यथा-चित्र नही मिलता जो एक अकिंचन का हो......यहाँ तो वियुक्त प्रेमी हृदय प्रियतम की याद मे ही नही, बल्कि मिलन सुख से

पूर्ण वह अतीत जिस वैभव से जगमग था उसको खोकर भी रोता है। मर्म बहुत कम स्थलो पर जीवन से उठ सका है। उनके काव्य पर उनके खोये हुए किन्तु कभी भी विस्मृत न होने वाले अतीत वैभव की छाया है। 'आँसू' मे कवि को सफलता इसलिए मिली है कि उसके विरह मे भी मिलन की स्मृति अधिक शक्तिमती है। 'आँसू विरह काव्य के साथ ही साथ स्मृति-काव्य भी है।'

यह स्वाभाविक है कि जब कवि जीवन से भागना चाहता है तब वह भावों की सघनता के कारण भागने मे असमर्थ हो जाता है। सुख-दुख, आशा-निराशा, छाया-प्रकाश तथा कथाओं के बीच गिरते-उठते, रोते-हँसते, उसे सामाजिक जीवन का निर्वाह करना ही पड़ता है। उसके मानस से अतुल शक्ति से पूरित हो उठने के लिए उमड़ते हुए विफल व्यक्तित्व का जो उल्लास है उसकी रेखाएँ स्मृति-पट पर अवश्य पड़ती हैं। विरहकाव्य तबतक अपूर्ण है जबतक वह हमे, हमारे दुखो और अभावों के बीच भी आशा और उल्लास का सन्देश न दे। 'आँसू' मे 'प्रसाद' जी ने मानव-जीवन का वह चिरन्तन सत्य देखा है जो वेदनाओं के बीच पड़कर ग्रन्थि के रूप मे नहीं परिणत होता बल्कि सबका पोषण प्राप्त कर और भी दृढ एवं जागरूक होता है। 'आँसू' के छन्द मानव-जीवन के प्रणय गीत है। भाषा के माधुर्य, भावो की बहुलता एव सुन्दर उपमाओं तथा कल्पना की कोमलता से पूर्ण आँसू की कतिपय पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

भाषा की मधुरता—

छिल छिलकर छाले फोड़े मल मलकर मृदुल चरण से।
धुल धुल कर बह रह जाते आँसू करुणा के कण से॥

उपमा-कल्पना—

शशि मुख पर घूँघट डाले अंचल मे दीप छिपाये।
जीवन की गोधूली मैं कौतूहल से तुम आये॥
काली आँखों मे कितनी यौवन के मद की लाली।
माणिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली॥
मुख-कमल समीप सजे थे दो किसलय दल पुरइन के।
जलबिन्दु सदृश ठहरे कब उन कानों मे दुख किनके॥

विरह का तत्वज्ञान—

छलना थी तब भी मेरा उसमे विश्वास घना था।
उस माया की छाया मे कुछ सच्चा स्वयं बना था॥

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के।
क्या कभी न थे तुम साथी कल्याण कलित इस मग के॥

उपरोक्त पद्यों मे रूप-वैभव एवं विलास का बडा ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन है। निराशा एवं व्यथा के तिमिर को काटकर आशा की कोमल शक्ति-दायिनी किरणें प्रसार पाती दीख पडती हैं। विरह-मिलन को जीवन के सामान्य क्रम मे ग्रहण करते हुए 'प्रसाद' जी ने अन्तिम पंक्तियो मे वेदना के बोझ से दबे हुए रहने पर भी ऊपर उठने को चेष्टा की है :

मानव जीवन-वेदी पर परिणय है विरह मिलन का।
सुख-दुख दोनों नाचेगे है खेल आँख का मन का॥
विस्मृति समाधि पर होगी, वर्षा कल्याण जलद की।
दुख सोया थका हुआ सा चिन्ता छुट जाय विपद की॥
चेतना लहर न उठेगी, जीवन समुद्र थिर होगा।
सध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा॥

प्रेम और आशा-निराशा की मंगल साधना मे ही काव्य और कवि की शक्ति की परीक्षा होती है जिसमे 'प्रसाद' का कवि खरा उतरा है। हम देखते है कि 'आँसू' के बाद उनके काव्य मे आशा का प्रबल स्वर सुनाई दे जाता है। उनकी रचनाओ को देखकर यह निश्चय हो जाता है कि स्रष्टा ने यौवन के क्षणों को जिन्दादिली के साथ केवल बिताया ही नहीं है बल्कि उसमे ओत-प्रोत भी रहा है। "प्रेम यौवन की कुजगली से निकल कर जीवन-यात्रा के रजत पथ पर वह आ गया है। उसने आशा और प्रकाश के साथ ही साथ अपनी मानवता की विजय-यात्रा भी आरभ कर दी है। मानवता की यह विजय-यात्रा 'कामायनी' मे जाकर पूर्ण होती है।"

कामायनी' मे 'प्रसाद' के कवि, दार्शनिक, चिन्तक और कलाकार सभी पक्ष साकार हो गए है। इस काव्य मे मानवता को कला का रूप दिया गया है। कवि जीवन के रहस्यात्मक तत्वो तक प्रविष्ट हो जाता है। 'प्रसाद' के इस काव्य मे दर्शन, चिन्तन, जीवन और कला का अद्भुत समन्वय मिलता है। 'लहर' मे तो कवि ने चिर आनन्द का सन्देश ही दिया है।

निराला

'निराला' जी वास्तव मे हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि है। उनकी कवि-ताओ मे उनकी परिस्थिति और जीवन अपने आप उतर कर चला आया है

क्योंकि समाज मे उसका कोई था नहीं जिसके लिये वह अपनी अनुभूतियो तथा भावों को छिपाकर रखता। जिसने जीवन भर समाज से विद्रोह ही पाया हो वह विद्रोही नहीं होगा तो और क्या होगा। जीवन के आरम्भ से ही उन्हे जूझना पडा। उन्होने युग के विष को नीलकण्ठ की भाँति पी लिया है और अपना सर्वस्व युग की रक्षा के लिये लगा दिया है। आदि से अन्त तक उनकी कविताओ मे प्राचीन रूढ़ियो के प्रति विद्रोह बना हुआ है। चाहे वे सामाजिक रूढ़ियाँ हो अथवा साहित्यिक, इनका विद्रोही व्यक्तित्व इनकी रचनाओं मे सर्वत्र अत्यन्त परुष रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। ये हिन्दी के पुरुष कवि है। व्यक्तित्व की जैसी निर्बाध अभिव्यक्ति इनकी कविताओ मे हुई है वैसी अन्य किसी आधुनिक कवि मे नही।

कुछ विद्वानो का कहना है कि निराला जी के विकास के मूल मे भावना की अपेक्षा बुद्धि-तत्व की प्रमुखता है और उनके गम्भीर दार्शनिक अध्ययन के कारण ही उनकी कविताओ मे बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। किन्तु नितान्त ऐसी बात नही जान पडती क्योकि इनके भावावेगो के कारण ही इनकी कविता के शास्त्रीय किनारे टूटते से जान पडते है। निराला जी अपने भावावेगो पर अंकुश नही रख पाए है जिससे उनके भावों की अविरल धारा बडे वेग से बहती है और इसी बहाव के कारण उनकी कविताओ मे कही कहीं ऐसे प्रसग छूट जाते है जिनके बिना ही वह दुर्बोध हो जाती है और साधारण पाठक की समझ से दूर की वस्तु बन जाती है। इनके प्रगीतो मे किसी न किसी प्रकार की कथा का आश्रय पाया जाता है। निराला जी का यह कथा-प्रेम प्राचीन मान्यताओं को नया रूप देने की अभिलाषा ही है। इन्होंने 'तुलसीदास' नामक कविता के द्वारा यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि नारी का सौन्दर्य केवल स्थूल उसकी शारीरिक मासलता मे ही नहीं है जो पुरुषो की वासना की तृप्ति के लिये बनी है बल्कि उसके अन्दर वह शक्ति भी है जो पुरुष की वासना को धक्का देकर उसमे किसी अतीन्द्रिय सौन्दर्य की अनुभूति भी उत्पन्न कर सकती है, वह यह दिखला सकती है कि नारी बेजबान प्रतिमा नही है बल्कि एक दिव्य रमणीय मूर्ति भी है और वह यह दिखला सकती है कि वह इतनी सीमित और संकुचित नही है जितना कि पुरुष उसे समझता आया है। तुलसी ने 'रत्नावली' का जब यह स्वरूप देखा तो उनकी आँखें सहसा खुल गईं और जिसे उन्होने अब तक बन्धन समझ रखा था वह ही मुक्त होने का एकमात्र साधन जान पड़ने लगी :

'जिस कलिका में कवि रहा बन्द ।
वह आज उसी में खुली मन्द ॥
भारती रूप में सुरभि छन्द निष्प्रश्रय ॥'

नारी को इस रूप मे देखने की निरालाजी की आधुनिक युग को एक बहुत बड़ी देन है। नारी-सौन्दर्य को आँकने के लिए जितनी कसौटियाँ पूर्ववर्ती युग के कवियों ने और मुख्यतया रीतिकालीन कवियों ने बना रखी थीं, इस कवि की उर्वर प्रतिभा ने उन्हे स्वीकार नहीं किया। नारी-सौन्दर्य के चित्राकन मे उसकी दृष्टि इतनी तटस्थ रहती है कि कहीं भी उसकी नायिका अमर्यादित ढग से हमारे सम्मुख नहीं आने पाती। वह सदैव एक लक्ष्मण-रेखा से घिरी रहती है। रात्रि जागरण से अलसाए नेत्रों वाली उसकी तन्द्रिल नायिका का यह रूप देखते ही बनता है—

हेर उर-पट, फेर मुख के बाल,
लख चतुर्दिक् चली मन्द मराल,
गेह में प्रिय-स्नेह की जयमाल
वासना की मुक्ति मुक्ता त्याग में तागी।

(गीतिका)

स्पष्ट है कि निराला का नारी-सौन्दर्य-चित्रण अतीन्द्रिय है और उसकी नारी ऐन्द्रिय वासनाओं से सर्वथा दूर रहती है।

'राम की शक्तिपूजा' को लेकर कवि लौकिकता की भूमि पर इसलिये उतर आया है कि वह सामाजिक आदर्शों को जन-साधारण के लिए अधिक सुलभ और विश्वस्त बना सके। निराला के 'राम' आदर्श मानव हैं जिससे उनके कार्य हमें अधिक आकर्षित करते हैं। प्रेम का जैसा सुन्दर प्रस्फुटन, सायंकाल युद्ध से लौटे हुए राम के हृदय मे, निराला जी दिखा सके हैं वैसा जनक-वाटिका मे आमने-सामने रखकर भी तुलसीदास जी नहीं कर पाए हैं। पावन प्रेम की जो प्रतिष्ठा स्वच्छन्दतावादी कवियों द्वारा हो सकी है वह हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्यों मे नहीं दिखाई पड़ती। जीवन मे प्रेम एक बार प्रथम दर्शन मे ही एक से होता है। राम को परिणीता सीता का स्मरण नहीं आता बल्कि कुमारी सीता की सलोनी मूर्ति ही कल्पना की आँखों मे आकर विह्वल कर देती है :

'याद आया उपवन।
विदेह का प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन

नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण--
पलकों का नवपलकों पर प्रथमोत्थान-पतन—
काँपते हुए किसलय, झरते पराग समुदय,
गाते खग नवजीवन-परिचय तरु मलय वलय—
ज्योति-प्रताप स्वर्गीय-ज्ञात छवि प्रथम स्वीय।
जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय॥

'सरोज-स्मृति' तो कवि के जीवन की करुण कहानी है। उन्होने इस कविता के माध्यम से अपने जीवन की सच्ची घटनाएँ कह डाली है। किस प्रकार प्राचीन अन्ध-विश्वासों मे पले हुए लोग नवीन जागरण का स्वागत नहीं कर पा रहे थे, स्वच्छन्द मुक्त-छन्द की कविताओं की किस प्रकार उपेक्षा की जाती थी, वे किस प्रकार सम्पादकों के द्वारा लौटा दी जाती थीं, आदि सभी आप-बीती घटनाओं को उन्होंने कह सुनाया है। समाज को प्राचीन परम्पराएँ उन्हे स्वय अमान्य थीं क्योंकि उन्होने स्वयं अपनी लड़की का ब्याह परम्परित रूढ़ियो की कुछ भी परवाह किये बिना अत्यन्त नवीन ढंग से किया था। अपनी बात को सचाई से कहनेवाला इस युग मे निराला के समान दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने गँवार दामाद का जो यथार्थ चित्र उरेहा है वह सच्चा और स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि उनकी घृणा और उपेक्षा का भी द्योतक है:

'वे जो यमुना के से कछार
पग फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों, पिये तेल
चमरौधे जूते से, सकेल
निकले, जो लेते, घोर-गन्ध
उन चरणो को मै यथा अन्ध
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ ऐसी नहीं शक्ति।

कथा की सूत्रता उनके उमड़ते हुए भावों पर अकुश का कार्य नहीं कर पाई है: साहस और सयम का जितना सुन्दर समन्वय तथा रूढ़ियों को खुलकर जितनी चुनौती देने की शक्ति निराला जी मे है उतनी न तो 'प्रसाद' में है और न तो 'पन्त' मे। यह 'निराला' जी का ही साहस था कि उन्होंने अपनी नव परिणीता पुत्री के सौन्दर्य का अत्यन्त मुक्त भावना से वर्णन किया है। यद्यपि इस चित्रण से मासलता के स्थान पर करुणा अधिक टपकती है फिर भी इससे कवि की निरपेक्षता तो स्पष्ट हो ही जाती है। जीवन

में जिन घटनाओं तथा वस्तुओं का जैसा प्रभाव इनके मस्तिष्क पर पड़ा है उसका उसी रूप मे चित्रण करना कवि को अभीष्ट रहा है ।

'निराला' जी के विकास की चार रेखाएँ हैं इनके विकास की प्रथम रेखा अनामिका मे मिलती है जो बुद्धिवाद से अत्यधिक प्रभावित है। इनकी कविताओं के बुद्धिवादी होने का एकमात्र कारण इनका गम्भीर दार्शनिक अध्ययन ही है जिससे बौद्धिक उत्कर्ष अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। इनपर बेदान्त की गहरी छाप तो है ही, बंगाल के रामकृष्ण मिशन और स्वामी विवेकानन्द के धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का भी इनपर प्रभाव पड़ा है। इनकी ऐसी अनेक कविताएँ है जिनमे अद्वैतवादी बुद्धितत्व की प्रधानता है और जो सूक्ष्म दार्शनिक आधार लेकर लिखी गयी है। निराला जी इस सम्पूर्ण जीवन और जगत को मिथ्या मानते है, सत्य केवल उस आनन्द-स्वरूप ब्रह्म को ही मानते है जो अदृश्य है किन्तु उसका विराट् स्वरूप सृष्टि के कण-कण मे रमा है जिसमे ही रमकर जीव आनन्द प्राप्त कर सकता है। इनका यह दार्शनिक अद्वैतवाद केवल बौद्धिक है क्योकि हृदय से वे भक्ति और प्रेम मे आस्था रखते है। वे शक्ति के उपासक है इसी लिये 'राम की शक्ति पूजा' मे कहते है 'केवल हनुमत् प्रबोध'। हनुमान की महिमा उनके यहाँ इसलिये नही है कि वे 'राम' के अनन्य भक्त है, बल्कि इसलिये कि वे अपार शक्ति रखते है। मस्तिष्क से निराकार अदृश्य एवं अनन्त ब्रह्म के उपासक होते हुए भी वे हृदय से साकार रूप के उपासक हैं। उनके मत्त हृदय की विह्वलता देखिये, 'डोलती नाव प्रखर है धार। सँभालो जीवन खेवनहार'। इतना अवश्य है कि उनकी आन्तरिक प्रेरणाएँ भक्तोचित भावुकता से पूर्ण है इसीलिये उनका रहस्यवाद उलझी हुई पहेली नही है वरन् सुलझा हुआ रहस्य है। उनकी वृत्तियाँ स्पष्ट नही होने पाई है। एक वाक्य मे कहा जा सकता है कि उनकी कविताओ मे दर्शन और भक्ति का समन्वय है। उनकी प्रतिभा स्वाभाविकता तथा युगानुरूपता के बीच दौड़ लगा रही है।

इनके प्रथम विकास के अन्दर ही स्वच्छन्द मुक्त छन्दो मे यदि एक ओर 'जुही की कली' जैसी कोमल शृंगारपूर्ण रचना है तो दूसरी और 'जागो फिर एक बार' जैसी ओजपूर्ण रचना। इनकी जुही की कली, प्रकृति के मानवीकरण की दृष्टि से हिन्दी की श्रेष्ठ रचना है। निराला ने प्रकृति को उद्दीपनरूप मे नही देखा और न विशेषकर उन्होंने आलम्बन रूप मे उसका सीधा-सादा वर्णन प्रस्तुत कर देना ही उचित समझा है, बल्कि उन्होने उसमें

भी मानव की सी चेतना देखी है। यही कारण है कि प्रायः उन्होंने प्रकृति में अपने भावो की छाया देखी है, उन्हे प्रकृति से भी वही सकेत मिलता है जो उनके मस्तिष्क मे गूँज रहा है। कृष्ण-काव्य का सम्पूर्ण साहित्य यमुना के कछारो, लता-कुजों के झुरमुटो तथा किनारे पर पाये जाने वाले कदम्ब आदि वृक्षो की डालो को लेकर लिखा गया है किन्तु इतने अपार साहित्य मे एक भी ऐसा विशाल जीवत चित्र नही आ सका है जो कि निराला जी ने अपनी 'यमुना के प्रति' नामक एक कविता मे ला दिया है। यमुना का प्रत्येक कल-कल स्वर कवि को अतीत का गान सुनाता है। वह उसके कछारों मे काम-क्रीडा के दर्शन नही करता बल्कि उसे उसमे भारत का अतीत दिखाई पडता है। "इसी प्रकार 'दिल्ली' नाम की कविता मे दिल्ली की भूमि पर दृष्टि डालते हुए 'क्या यह वही देश है' कहकर कवि अतीत की कुछ इतिहास-प्रसिद्ध बातो और व्यक्तियो को बडी सजीवता के साथ मन मे लाता है।"[1]

'निस्तब्ध मीनार
मौन है मकबरे—
भय से आशा को जहाँ मिलते थे समाचार।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओ में सच्चा प्यार।'

हमने पूर्व ही इसका सकेत कर दिया है कि निराला जी समाज की परम्परित रूढियो के दुर्वह भार को सहन नही करना चाहते थे। उन्होने समाज की प्राय: सभी दूषित मान्यताओं एव परम्पराओ को आमूल नष्ट कर देने की पूर्ण चेष्टा की है, इनका यह विद्रोह साहित्य, समाज और जीवन सभी दिशाओ मे हुआ है, हमे उनकी आरभिक कविताओ मे ही उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रकृति पूरे वेग पर मिलती है। 'पञ्चवटी' प्रसंग मे गतानुगतिक ढग से राम-कथा को नही चित्रित किया गया है, शूर्पणखा वहाँ शायद एक नये ढग से नारी के रूप मे उपस्थित की गई है, किसी बीभत्स राक्षसी के रूप मे नहीं। सच पूछा जाय तो निराला से बढ़कर स्वच्छन्दतावादी कवि हिन्दी मे कोई नही है। परिमल की जिन रचनाओ में वस्तु-व्यंजना की ओर कवि का ध्यान है उनमे उनका व्यक्तित्व स्पष्ट नही हुआ, किन्तु 'तुम और मैं', 'जुही की कली' जैसी कविताओ मे उनकी कल्पना उनके आवेगो के साथ होड करती है।'[2] भारतीय सस्कृति एवं

---

१. आ० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७१७

२. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० ४८६।

सभ्यता के अपूर्व समर्थक होते हुए भी निराला जी ने एडवर्ड अष्टम की अपनी कविता मे इसलिए प्रशंसा की कि उसने राजवश एवं इग्लैड की सभी सामाजिक व्यवस्थाओ एवं परम्पराओं को लात मारकर एक अमेरिकी महिला से परिणय-सम्बन्ध स्थापित किया। समाज को साहस के साथ चुनौती देने वाला व्यक्ति का निराला की कविताओ मे स्थान पा जाना स्वाभाविक है। जिस प्रकार निराला जी को सामाजिक बन्धन अरुचिकर है उसी प्रकार काव्य के छन्द-बन्धन भी। निराला जी हिन्दी कविता मे बाह्य-कला की स्वच्छन्दता के सूत्रधार है। इनमे कवित्व कम किन्तु भावों का उद्वेग अधिक है। उनकी स्वाभाविक स्वच्छन्द एव विद्रोही प्रकृति ने हिन्दी साहित्य मे मुक्त छन्दो की परम्परा चलाई।

इनके ये मुक्त छन्द दो प्रकार के है, तुकान्त और अतुकान्त। इन छन्दो मे लय है, गति है किन्तु कही-कहीं अधिक स्वच्छन्द होने के कारण वह गद्य सा हो गया है, और उसकी शृङ्खला भी ऐसी अस्त-व्यस्त हो जाती है कि वह साकेतिक भाषा सी जान पडने लगती है—

'राघव-लाघव-रावण-वारण गत युग्म-प्रहर,
उद्धत-लंकापति-मर्दित-कपिदल-बल विस्तर
अनिमेष-राम-विश्वजिद् दिव्य-शर-भंग-भाव।
विद्धाग-बद्ध कोदंड-मुष्टि-खर-रुधिर-स्राव।'

शुक्ल जी के अनुसार, सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यो मे चरणो की स्वच्छन्द विषमता है। कोई चरण बहुत लम्बा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग रबर छन्द, केंचुआ छन्द आदि कहने लगे थे। बेमेल चरण की आजमाइश इन्होने सबसे अधिक की है।' 'प्रगल्भ प्रेम' नाम की कविता मे अपनी प्रेयसी कल्पना या कविता का आह्वान करते हुए इन्होने कहा है—

आज नही है मुझे और कुछ चाह,
अर्द्ध-विकच इस हृदय कमल मे आ तू।
प्रिये! छोड़कर बन्धन-मय छन्दों की छोटी राह।
गज-गामिनि वह पथ तेरा संकीर्ण,
कंटकाकीर्ण।

इनकी कविता मे समासयुक्त लम्बी पदावली का बाहुल्य और क्रिया-पदों का लोप पाया जाता है। इनके एक-एक शब्द मे एक-एक वाक्य का

अर्थ एवं विस्तार रहता है। लाक्षणिक प्रयोग कम हैं, जितने भी स्वच्छन्द छन्द है उनमे अवधी शैली का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है। संगीतात्मकता, ओज, नाटकीयता, अनुप्रास-योजना और नवीन उपमाओं का प्रयोग इनकी शैलीगत कुछ अन्य विशेषताएँ हैं। निराला की शैली मे शृगार की मधुरिमा और वीर-रस या ओज, दोनो साथ-साथ पाए जाते है। इनके जैसा सयत शृंगार का वर्णन करने वाला आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे बिरला ही मिलेगा। इनके शृङ्गारिक काव्य मे भी एक दार्शनिक तटस्थता है। नंगे से नगे चित्र भी सयत और पवित्र है—

'पल्लव-पर्यंक पर सोती शेफाली के।
मूक- गाह्वान भरे लालसो कपोलों के व्याकुल विकास पर
झरते है शिशिर से चुम्बन गगन मे॥'

भाषा के सस्कृत-गर्भित होने के कारण जहाँ कविता मे बौद्धिकता आ गई है, वहाँ वह जटिल अवश्य है और जहाँ भावुकता के वेग मे कवि की विचारधारा आगे बढी है, वहाँ कोमलकान्त पदावली और सरस भाषा का प्रयोग हुआ है।

निराला को खडी बोली की क्रान्ति का सबसे बडा नेता माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। खडी बोली के सम्बन्ध मे हिन्दी-काव्यधारा मे उन्होने युगातकारी परिवर्तन किया। भाषा के साथ साथ हिन्दी काव्य मे मुक्त छन्दो की नवीन परम्परा के योगदान से उन्होने युगान्तर ला दिया। निराला जी को एक अर्थ मे प्रगतिशील नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रगतिवाद के लिए निश्चित की गई सीमाओ मे उनको आबद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु स्वाभाविक एव सत्य मानदण्डों की दृष्टि से उनके यथार्थ मे प्रगतिशील रूप का दर्शन किया जा सकता है। उनके काव्य मे दार्शनिक रूढियाँ अधिक मुखर हुई है, फिर भी विभिन्न वर्गों के जीवन की स्पष्ट झाँकी उनके काव्य मे देखी जा सकती है। कवि की चेष्टा यही रही है कि वह कहीं यथार्थ की भाव-भूमि से न उतरे, इस चेष्टा मे सत्य और यथार्थ के प्रति कवि का कट्टर अनुराग और असत्य तथा अयथार्थ के प्रति उसकी तीव्र घृणा अधिक भास्वर हो उठी है। इस प्रयास मे भौतिक पक्ष पर इनके बौद्धिक पक्ष की विजय भी दृष्टिगत होती है। युगवाणी और युग की पगध्वनि का अनुवर्द्धन करने के साथ ही साथ कवि अपने भावों और विचारों के प्रति भी पर्याप्त दृढ़ है। समाज की जर्जर और विकृत रूढ़ियाँ अवश्य परिहार्य है

लेकिन परिष्कृत रूप मे उन्हे ग्रहण भी किया जा सकता है, प्रगतिशीलता के सम्बन्ध मे कवि की मान्यता का यह दूसरा पहलू है। कवि की इस विचित्र प्रगतिशीलता का दर्शन 'कुकुरमुत्ता' नामक काव्य मे सरलता से किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अणिमा, बेला, नये पत्ते आदि की कविताएँ वास्तव मे विचार और भावनाओ के नए पत्ते और पुष्प लेकर सामने आती है।

निराला जी की कविताओ मे उस वर्ग का चित्रण मिलता है जिसकी स्थिति अभाव, शोषण, दुख-दमन और उपेक्षा पर ही है। समाजवादी भावनाओ का समर्थन करने वाली कुछ कविताएँ ऐसी भी मिल जाती है जो बुद्धिवाद से बिल्कुल पार्थक्य रखती है। अत्याचार और दमन के प्रति कवि की प्रतिक्रियात्मक भावना को निम्नलिखित पक्तियो मे वाणी और स्वर मिल गया है—

> जमीन्दार का सिपाही लट्ठ कन्धे पर डाले आया
> और लोगो की ओर देखकर कहा, डेरे पर थानेदार
> आए हैं, डिप्टी साहब ने चन्दा लगाया है।
> एक हफ्ते के अन्दर देना है, चलो बात दे
> आओ। कौडे से कुछ हटकर
> लोगो के साथ कुत्ता खेतिहर का बैठा था चलते
> सिपाही को देखकर खड़ा हुआ और भौकने लगा,
> करुणा से बन्धु खेतिहर को देखकर।

नये पत्ते, पृ० ५४

अपनी क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो के कारण 'निराला' आज भी काव्य-जगत् मे प्रासगिक और कवियों के प्रेरणा-स्रोत हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

हिन्दी साहित्य मे काव्य की स्वच्छन्दधारा के प्रवर्त्तको मे श्री सुमित्रानन्दन पन्त का नाम अग्रगण्य है। काव्य की स्वच्छन्दधारा का पूर्ण विस्तृत और सलिलमय रूप हमे सर्वप्रथम पन्त जी के ही काव्य मे दिखाई देता है। इनके पूर्व दो, एक कवियों ने रीति की दृढ आबद्ध शृंखलाओ को झनझनाने का प्रयत्न अवश्य किया था पर उन्हे यथोचित सफलता नहीं मिल सकी थी। समस्त रूढियों, समस्त बन्धनों एवं समस्त दूषित मान्यताओ को सहसा ठुकरा कर कल्पना के रेशमी कलेवर मे पंख फडफडाता हुआ यह कवि-विहग उन्नत

और उस विस्तृत फैले हुए लोक की ओर उड चला जहाँ चाँद और सितारों का देश है, जहाँ ठंढी-ठंढी हवा आत्मा तक को शीतल कर देती है, जहाँ सिर उठाए हुए विशाल पर्वत खडे हैं, जहाँ कल्पनालोक की परी आकर कवि के लम्बे घुँघराले बालों मे अपनी कोमल-कोमल शीतल अगुलियाँ डाल देती है। जिस युग मे यह बालविहग कवि पैदा हुआ उस युग को ऐसी उड़ान स्वीकार नहीं थी। अगर वह कुछ ऊपर उठना भी चाहता था तो केवल डोर को पतग की तरह जिसकी सीमाएँ निश्चित है। पण्डित महावीर-प्रसाद द्विवेदी, अयोध्या सिंह उपाध्याय ऐसे महारथी उस समय साहित्य की डोर पकडे हुए थे। काव्य की इस नई धारा के वे एक स्वर से विरोधी थे। पर इस काव्य मे एक जादू था, एक विह्वल आकर्षण था जो उनको भी खींच लेता था। स्वयं द्विवेदी जी के सम्पादकत्व मे 'सरस्वती' के मुखपृष्ठ पर 'पन्त' जी की कविताएँ छपा करती थीं।

पन्त जी की कविता की मूल प्रेरणा प्रकृति है। प्रकृति की गोद मे पला हुआ कवि उसे छोडने से मजबूर है। जीवन का कठिन कर्मक्षेत्र मजबूरन उसे अपनी ओर खींचता है। ऐसी खींचातानी मे कवि की आँखो मे आँसू आ जाते हैं। प्रकृति के साथ उनका प्राण भींग कर एक हो गया है। काव्य मे प्रकृति-चित्रण आधुनिक युग मे पं० श्रीधर पाठक से आरम्भ होता है। उन्होंने ही समझ लिया था कि स्वच्छन्दता का अर्थ प्रकृति का प्रागण है। इसे 'पन्त' जी ने एक नई दृष्टि से समझा। रोमाटिक कविताओ मे मनोभावो को उद्दीप्त करने की एक अपूर्व क्षमता होती है और यदि कहा जाय कि भूमिवत् प्रकृति को ही सारा का सारा श्रेय है, अत्युक्ति न होगी। प्रकृति के विविध रगीन दृश्य, झरने, नाले, नदी, पहाड, बादल, वृक्ष आदि अनजाने में ही मनुष्य के हृदय मे एक रूमानी भावना का प्रस्फुरण कर देते है। इन्हे देखकर मनुष्य अपने को खो बैठता है। उसे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है। उसकी अर्धचेतना मे पडी हुई सौन्दर्य भावना को खुलकर सामने आ जाने का अवकाश मिल जाता है। उस समय ऐसा जान पडता है कि इन्द्रियो के समस्त बन्धन ढीले पड गए है। इन्द्रियो मे एक अद्भुत प्रसार आ जाता है। कभी-कभी तो इन्द्रियो के कार्य भी बदल जाते है।

पन्त जी के समस्त काव्य मे प्रकृति आवरण बनकर छाई हुई है। उनकी कितनी ही रचनाएँ सर्वथा प्रकृति के ऊपर ही है। उसका विविध रूप उनके मन को मोह लेता है। उनका समस्त क्रियाकलाप प्रकृतिमय है।

'पल्लव' मे प्रकृति इतने उभार के साथ एवं रंजित रूप मे सामने आई है कि देखते ही बनता है। कवि चिर प्रकृति-सेवक और एकान्त भ्रमण-प्रेमी है। उसे निराशा तब होती है जब कोमल भावनाओ को जगाने वाला—

'न पत्रों का मर्मर संगीत
न पुष्पों का रस राग-पराग' (मिलता है।)

'पल्लव' की कविताएँ नवीन किसलय है, जो वासन्ती वायु के मीठे झोंके मे लहरा रहे है। इन्होंने अपनी सुध बुध खो दी है।

नारी समस्त काव्य की प्रेरणा है, पर कवि प्रकृति के सम्मुख नारी के रूपजाल मे भी उलझने से मजबूर है :

'छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।

मनुष्य की भाँति कवि को प्रकृति मे भी एक संवेदनशील हृदय मिला जो मनुष्य की भावुकता से खेलता है, उसे सजाता है

बाल काल में जिसे जलद से कुमुद कला ने किलकाया,
तारावलि ने जिसे रिझाया मृदु स्वप्नों से सहलाया,
मारुत ने जिसकी अलकों में चंचल चुम्बन उलझाया।

प्रकृति के कोमल पक्ष में कवि का मन अधिक रमता है। 'परिवर्तन' आदि कविताएँ केवल खानापूरी है जो कवि के कौशल से चमक उठी हैं। प्रकृति के रुक्ष रूप से रूमानी भावनाओं का जागरण होना तनिक कठिन है। रोमास और भय का सामञ्जस्य अधिक उपयुक्त नहीं बैठता। इसीलिए 'पन्त' जी कोमल रूप को ही अधिक पकडते है। प्रकृति का प्रत्येक दृश्य पाठक के सामने नाचता है। ऐसा मालूम होता है जैसे उसने यह दृश्य अभी-अभी प्रत्यक्ष अपनी आँखो से देखा हो। अल्मोडे की घाटी का वह सुन्दर दृश्य ता सदा के लिये उनकी आँखो मे समा गया है। वहाँ क्षण-क्षण मे बदलने वाला सौन्दर्य है। बादलो की धूपछाँह मे कवि आँख-मिचौनी खेलना चाहता है। पावस ऋतु का यह पर्वत प्रदेश और इसका क्षण-क्षण मे बदलता हुआ वेश, मेखलाकार अपार पर्वतो की माला, नैनीताल की निर्मल शान्त एवं सुन्दर झील मे उसकी प्रतिक्रिया को अपने मे बाँध लेती है।

ऐसे मनोरम दृश्यो को देखकर कवि मे एक विस्मय की भावना का उदय होता है। इन सभी प्रकृति-व्यापारों एव उसके क्रिया-कलापो के प्रति उसका मन विस्मय से भर जाता है। स्वच्छन्दता की उडान विस्मय लोक को ही अपनी मजिल मानती है। एक रोमाटिक कवि इसी लोक मे पहुँच जाने की कामना करता है। पक्षियों की सुमधुर काकली और चहचहाहट पर उसे आश्चर्य होता है कि इतना सुमधुर गाना इन सबने किससे और कैसे सीखा है! कवि इस गान विद्या को सीखने के लिये आतुर हो जाता है :

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि,
मुझे भी अपने मीठे गान

× × ×

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि कैसे तुमने पहचाना।
कहाँ कहाँ हे बाल विहंगिनि पाया तुमने यह गाना॥

कवि को प्रकृति के विभिन्न उपकरणों से बुलवा आता है। काले मेघ मे रह-रहकर चमक उठनेवाली दामिनि उसे अपनी ओर सकेत से बुलाती है। अंग्रेजी की रोमान्टिक कविताओ मे इस बुलावे को लेकर अनेक रचनाएँ मिलती है। एक अंग्रेज कवि अपनी पत्नी से कहता है कि अब वह नहीं रुक सकता। दूर की पहाडियाँ उसे बुलाती है, चाँद-सितारे उसे बुलाते है। लम्बी निर्जन सडक उसे आमत्रित करती है। दिशाएँ उसे पुकारती है। वह नहीं रुक सकता। वह अपनी पत्नी से कहता है कि यदि लोग पूछे तो दोष इन चॉद सितारो को देना, इन फैली हुई दिशाओ को देना, इस लम्बी सड़क को देना। इस प्रकार की कविताओं का प्रभाव 'पन्त' जी पर अधिक है, पर वे एक दम चले जाने को तैयार नही है। उन्हे कुछ सामाजिक कर्त्तव्यों का भी ध्यान है।

'पन्त' जी रोमाटिक कवि होते हुए भी प्रकृति के कल्याणकारी रूप को नहीं भूलते। मानव-जीवन के निर्माण मे प्रकृति का बहुत कुछ योग है। प्रकृति और मानव मे परस्पर आदान-प्रदान हाता रहता है। कभी कवि मधुप-कुमारी से उसका मीठा गान सुनना चाहता है और कभी पुष्प-सुन्दर-बाला से मन्द मुस्कराना सीखता है। 'पन्त' जी प्रकृति को सुजीवन मानते है। उसके भिन्न-भिन्न रूपों मे अपने मन की भिन्न-भिन्न स्थितियों को मिलाने का प्रयास

करते हैं। अपने दुख मे प्रकृति दुखी और अपने सुख मे प्रकृति सुखी दिखाई देती है। ऐसी परम्परा हिन्दी के आधुनिक काव्य मे बहुत पाई जाती है।

चिनगियों सा तारों का जाल, आग सा अंगारा शशि लाल।
लटकता है फैला मणि बाल जगत को डसता है तम जाल॥

पर प्रकृति और मानव का लेन-देन ही कवि को अधिक रुचिकर लगता है। वह सदैव इन दोनो मे एक घनिष्ठता का भाव देखना चाहता है।

प्रकृति का मानवीकरण भी 'पन्त' जी मे बहुत हुआ है। वास्तव मे मानव ही रोमास को जड है। जहाँ कर्त्ता का अभाव होगा वहाँ आवरण आदि निष्फल हैं। मनुष्य-मनुष्य से इतना हिल-मिल गया है कि मनुष्य का त्याग उसके लिये असंभव हो गया है। 'पन्त' जी यद्यपि प्रकृति पर प्राण देते हैं पर मनुष्य को उससे भी ऊँचा दर्जा देते है। मानव की स्तुति वे इस प्रकार करते हैं—

तुम मेरे मन के मानव, मेरे गानों के गाने।
मेरे मानस के स्पन्दन प्राणों के चिर पहिचाने॥

और अन्त में यह कह देते हैं कि—

सुन्दर हैं विहग सुमन सुन्दर।
मानव तुम सबसे सुन्दरतम॥

मानव ने कवि को अपनी ओर इतना अधिक खींचा कि कवि पूर्णतया मानव का कवि हो गया। ऐसी स्थिति में प्रकृति चित्रण मे मानवीकरण बहुत कुछ स्वाभाविक है। बालुका राशि पर पडी हुई स्वच्छ गङ्गा की धारा उन्हें एक पर्यंक पर पड़ी हुई नारी के समान ज्ञात होती है, जो शान्त-क्लान्त-निश्चल लेटी हुई है। शरद की चाँदनी का रूप देखिए—

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि-मुख धर
नीरव अनिमिष एकाकिनि!

वास्तव मे नारी समस्त रोमास की जड है। रोमास जितने प्रकार के, जिन स्थितियों मे हो सकते हैं उन सभी मे नारी का कोई न कोई मनोहारी रूप अवश्य विद्यमान रहता है। यह रही पुरुषों के रोमास की बात। कवि पुरुष

है अत यत्र-तत्र नारी का अनेकानेक सुन्दर रूप दृष्टिगोचर होता है। युवक एवं रोमाटिक कवि के लिये नारी काव्य की मूल प्रेरक वस्तु है। उसके बिना कवि की समस्त कल्पना, सारी उडान, सारा नशा काफूर है। रोमास ही क्या काव्य के सभी रूपों मे आदिकाल से ही नारी-सौन्दर्य अपना प्रथम स्थान रखता आया है। 'पन्त' जी नारी को एक बहुत सुकुमार एवं कोमल भावना की दृष्टि से देखते हैं। नारी के अबोध बालापन के रूप से कवि अत्यधिक प्रभावित है :

इस अभिमानी अंचल में फिर चित्रित कर दो विधि अकलंक।
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अंक॥
उसी सरलता को स्याही से सदय इन्हें अङ्कित कर दो।
मेरे यौवन के प्यारों में फिर वह बालापन भर दो॥

बालिका सदैव अपना वही पुराना बालापन चाहती है। उसे डर है कि बडे होने पर वह प्यार कदाचित् वह खो बैठे। वह कहती है कि :

मैं सबसे छोटी हो जाऊँ।

पर कौन ऐसा कवि है जो नारी-कुसुम को पूर्ण विकसित रूप न देखना चाहे, कवि अपनी भावी पत्नी की कल्पना करता है। देखिए कैसा सुकुमार और मादक रूप उसकी कल्पना मे है :

अरुण अधरों का पल्लव प्रात।
मोतियों का हिलता हिम-हास॥
इन्द्रधनुषी पट से ढॅक गात।
बसा विद्युत का पावस लास॥
हृदय में खिल उठता तत्काल।
अधखिले अङ्गों का मधुमास॥
तुम्हारी छवि का कर अनुमान।
प्रिये प्राणों की प्राण॥

रोमांटिक कवि के लिये नारी का सबसे कोमल और सुन्दर रूप ही रुचिकर होता है। वह नारी को साथ लेकर घरबार की नहीं सोचता। नारी जीवन की कठोर सत्यता में साथ रहकर इस सुख और दुख भरे संसार मे अपना वह सुन्दरतम रूप नहीं दिखा सकती और न कवि की आत्मा को सन्तोष ही दे सकती है। वह प्रतिदिन के गृहकाज से ऊब जाता है और कहता है :

आज रहने दो यह गृहकाज।
प्राण! रहने दो यह गृहकाज॥

उसका मन इस मादक बेला मे पंख फैलाकर जोडे पक्षी की भाँति उडना चाहता है।

प्रकृति के कोमल हाथो से सँवारी हुई उसकी प्रेयसी सौन्दर्य-विषयक मान्यताओं की सीमा तोड देती हुई जान पड़ती है। 'ग्रन्थि' की ग्रामीण बाला का सौन्दर्य और उसका भावुक हृदय कविता के लिये कवि को आजीवन प्रेरणा प्रदान करता रहेगा:

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर।
शशि कला सी एक बाला व्यग्र सी॥
देखती थी म्लान मुख मेरा अचल।
सदय भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से॥

ऐसी बाला से नजरें चार होने का दृश्य देखिये:

एक पल मेरी प्रिया के दृग पलक, थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे।
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से दृढ़ किया मानों प्रणय संबंध था॥

'ग्रन्थि' मे नारी का जो सुन्दर रूप चित्रित है वह केवल कल्पना ग्राह्य ही है। नारी को पवित्रता का रूप कवि मानता है:

तुम्हारे छूने में था प्राण! सङ्ग में पावन गंगा-स्नान।
तुम्हारी वाणी में कल्याणि! त्रिवेणी की लहरों का गान॥

कवि की नारी-विषयक कोमल भावना एक छाया सी उसके समस्त काव्य पर मँडराया करती है। रोमांटिक और अनब्याही उमर मे एक भावुक किशोर की कल्पना का एक रसमय रूप पन्त जी की प्रारम्भिक कविताओं मे सर्वत्र विद्यमान है। गृहस्थी की कठोर परिस्थितियों का उसे अनुभव नहीं है, अत वह नारी के विभिन्न रूपों की कल्पना नहीं कर सकता। उसने नारी का बस एक मुग्ध विलासमय रूप ही देखा है, जिसे उसने सारी कोमलता और पवित्रता का आदर्श मान रखा है। उसे नारी का कठोर एवं निष्करुण रूप देखने का मौका नहीं मिला है। कीट्स यद्यपि सौन्दर्य और रोमांस का महान कवि माना जाता है फिर भी उसने नारी की उस छिपी हुई

निर्दयता का अनुभव किया है। 'पन्त' जी इस अनुभव से एकदम दूर हैं। नारी की प्रशंसा करना ही उनका लक्ष्य है :

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान, मृदुल दुर्बलता ध्यान।
तुम्हारी पावनता अभिमान शक्ति पूजन सम्मान॥

पुरुष के ऊपर नारी की प्रभुता इन्हे सदैव प्यारी लगती है।

नारी के विरहिणी रूप का जो चित्रण कवि ने किया है वह बहुत ही प्रभावशाली है। कुछ लोग रोमास को मस्तिष्क की असंतुलित स्थिति की उपज मानते है। जो हो, पर इस स्थिति का काव्य अपना एक अलग महत्व रखता है। इसमे एक अजीव भाव-प्रवणता होती है। हृदय को हिला देने की एक अद्भुत क्षमता होती है। ऐसी स्थिति मे कवि को बहुत दूर दूर की बाते सूझती है। कवि की दयार्द्र स्थिति देखते ही बनती है :

कहो कौन हो दमयन्ती सी तुम तरु के नीचे सोई।
हाय ? तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि नल सा निष्ठुर कोई॥

पीले पत्तों की शय्या पर पडी हुई विजन की नायिका को देखकर कवि एकदम दयार्द्र हो उठता है।

यहाँ तक तो हो गई प्रकृति और नारी की बात। रोमाटिक काव्य की तीसरी विशेषता कल्पना की विशेषता है। कल्पना के बिना रोमास का मजा एकदम फीका है। जिस प्रकार कल्पना का रूप वायवी है उसी प्रकार कुछ रोमास का भी। अत इन दोनो मे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। कल्पना की ऊँची उडान रोमास की देन है। रोमान्टिक भावों की उपज बहुत कुछ कल्पना का सहारा लेकर चलती है। एक स्वच्छन्द कवि जब ससार की कठोरता से ऊब जाता है तो प्रत्यक्ष को छोडकर अप्रत्यक्ष की ओर जाने का प्रयास करता है। यहाँ कल्पना उसका साथ देती है। कल्पना उसे उड़ाकर एक ऐसे लोक मे पहुँचा देती है जहाँ न दुख है और न दर्द, जहाँ सदैव मीठी-मीठी हवा चलती रहती है, तारों से घिरा स्वच्छ आसमान है, सर्वत्र एक पवित्रता है, सर्वत्र एक कोमलता है। कवि के लिये कल्पना वहीं अधिक लाभकारी होती है जहाँ वह कल्पित वस्तु को एकदम सजीव पाठक के नेत्रों के आगे ले आकर उतार देता है। जब कवि की कल्पना और पाठक की कल्पना एक हो जाती है तभी काव्य सफल कहा जाता है। 'पत'

जी की प्रतिभा बहुत सूक्ष्मग्राहिणी है। हर चीज को वे बडी अच्छी तरह परखते है। उनका वस्तु विश्लेषण बहुत ही वैज्ञानिक है। ऐसी प्रतिभा जब काव्य मे आती है तो काव्य मूर्तिमान हो उठता है। इसी प्रतिभा को चित्रात्मक प्रतिभा कहते है। कीट्स इस कला मे बहुत निपुण था। जब 'पंत' जी कल्पना की अधिक ऊँची उडान पर पहुँच जाते है तब उनका अनुभूति-पक्ष कम होने लगता है। स्याही की बूँद' और 'नक्षत्र' आदि कविताएँ इसके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। कवि सन्ध्या का कैसा चित्र उपस्थित करता है :

ग्रीव तिर्य्यक, चम्पक द्युति मान,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

कवि की सूक्ष्म कल्पना ही काव्य के समस्त अलकारो की जननी है। इसी कल्पना का दूसरा नाम सूझ है। कवि प्रस्तुत को देखकर कल्पना के नेत्रों से अप्रस्तुत का विधान करता है। कल्पना के द्वारा अमूर्त को मूर्त रूप दे देना कवि के बाएँ हाथ का खेल है। छाया के लिए पन्त जी लिखते हैं ·

तरुवर के छायानुवाद सी।
अविदित भावाकुल भाषा सी॥
कटी छँटी नव कविता-सी।

चॉदनो का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

नीले नभ के शतदल पर,
वह बैठी शारद हासिनि।
मृदु करतल पर शशि मुख धर,
नीरव अनिमिष एकाकिनि॥

इसी प्रकार 'नौकाविहार' मे गगा को एक तापस बाला के रूप में चित्रित किया है। अब सन्ध्या को एक सुन्दरी के रूप मे कवि देखता है। समस्त मानवीकरण इसी कल्पना की उपज है। जहाँ पन्त जी कल्पना के पीछे हाथ धोकर पड़ जाते हैं वहॉ हृदयहीनता का आभास मिलने लगता

है। जहाँ कल्पना और अनुभूति बराबर मात्रा मे मिली होती हैं वहाॅ काव्य निखर उठता है :

मिला लालिमा में सन्ध्या का
दिया एक निर्मल संसार,
नयनों में निस्सीम व्योम औ,
उरोरुहों में सुरसरि धार।

प्रत्येक स्वच्छन्द कवि मे ऐन्द्रियता कुछ न कुछ मात्रा मे अवश्य विद्यमान रहती है। रोमान्स का सम्बन्ध ऐन्द्रियता से अधिक है। अंगरेजी के रोमान्टिक कवि कीट्स मे भी यही विशेषता पाई जाती है। पन्त जी के काव्य मे इसका अभाव नही है। पर पन्त जी के काव्य मे कही बीभत्स रूप नहीं मिलता। सर्वत्र एक शालीनता दृष्टिगोचर होती है। आवेग उठता है पर उसमे एक सयम है। जहॉ तक कवि की विभिन्न इन्द्रियों का प्रश्न है उनमे एक अपूर्व ग्राहिणी शक्ति है। इन्द्रियॉ इतनी तेज है कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अनुभव उन्हे प्राप्त हो जाता है। रंगों का ज्ञान 'पन्त' जी की अपनी विशेषता है। 'पन्त' जी की एक यही विशेषता चित्रकार की तूलिका तक को पकड सकती है। जो रूप, जो दृश्य एक चित्रकार अपनी तूलिका से उपस्थित कर सकता है उसे पन्त जी शब्दो के माध्यम से ही पाठको के सम्मुख ले आकर खड़ा कर देते है। आम्र मञ्जरी के रङ्ग की सूक्ष्म व्याख्या देखिए :

रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले और ताम्र भौर।

रङ्गो का एक और उदाहरण देखिये—

विद्रुम औ मरकत की छाया
सोने चॉदी का सूर्यातप,
हिम परिमल की रेशमी वायु
सतरॅग छाया, सँग चित्रित नभ।

रङ्गों के विश्लेषण मे पन्त जी को कमाल हासिल है। एक ही रङ्ग मे वे कई प्रकार के रङ्ग बना सकते हैं। काला, श्याम और श्यामल उनके लिये तीन रङ्ग है।

इसी प्रकार ध्वनि-चित्रण मे भी पन्त जी बड़ी ही कुशलता से काम लेते है। ठोंक-ठोंक कर ऐसे शब्दों को ले आते हैं जो उपयुक्त मनोभावों को सरलतापूर्वक स्पष्ट कर सके। स्वर और व्यञ्जनों की योजना मे भी ऐसी शक्ति होती है जिससे काव्य में अनुभव कराने की शक्ति बढ़ जाती है। 'परिवर्तन' नाम की कविता में जब समय की तुलना शेषनाग से करते हैं तो योजना से उत्पन्न ध्वनि एकदम सर्प की ध्वनि से मिलती हुई ज्ञात हंती है। जब पन्त जी 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरों मे', कहते हैं तो वास्तव में बादलों की गरज सी आवाज प्रतिध्वनित होती जान पडती है। भादों की सूनी अँधेरी रात मे जब झींगुर एक स्वर मे लगातार बोलने लगते हैं तो वह रात्रि की नीरवता को अधिक बढ़ा देता है। वह ध्वनि वातावरण को आन्दोलित नहीं करती वरन् उसकी नीरवता बढाने मे ही योग देती है। इसका पता ठीक-ठीक पन्त जी को है।

स्वच्छन्द कवियो मे वैयक्तिकता की भावना बहुत अधिक रहती है। यहॉ कवि अपनी भावनाओं को व्यक्त करना चाहता है। वह अपने दुख-सुख के प्रकटीकरण मे लीन रहता है। आत्मनिवेदन की इच्छा इस प्रकार से काव्य मे बलवती रहती है। अपनी रूमानी दुनियॉ को वह पाठक के सम्मुख ले आना चाहता है, यहॉ उसी के आवेश है। यहाँ उसी की भावनाएँ हैं, यहाँ उसी की आत्मा की पुकार है और उसी का अपना अनुभव है। पन्त जी ने सबसे पहले इस ओर ध्यान दिया। पहले यह लडकपन समझा जाता था, धीरे-धीरे लोगों को इसकी प्रभविष्णुता का पता चला और आज के काव्य मे तो सर्वत्र वैयक्तिकता ही वैयक्तिकता दिखाई पड रही है। पन्त जी का समस्त काव्य वैयक्तिक भावनाओं से भरा है। 'ग्रन्थि' तो उनकी अपनी एक कहानी ही है। यद्यपि कवि ने एकदम खुलकर आधुनिक कवियों की भॉति वैयक्तिकता पर जोर नहीं दिया है पर इसका श्रीगणेश उसी के हाथो से हुआ है। काव्य मे सर्वत्र उसके आत्मा की पुकार गूँजती सुनाई पडती है। निराश प्रेमी का रूप देखिए :

शैवलिनि! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर

× × ×

पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है
चल किसी निर्जन विपिन में बैठ रह।

रोमाटिक कविताओं मे गीत का अपना महत्व है। सुमधुर ध्वनि एक रोमाटिक मनोभाव को बहुत आसानी से उद्वेलित कर सकती है। रोमान्स और गीत मे बहुत सम्बन्ध है। गीत रोमास की भावना को उद्दीप्त करने का सुन्दर साधन है। अत स्वच्छन्द कवियो को गीत बहुत प्यारे लगते है। दुनियाँ के सभी रोमान्टिक कवि गीत लिखना अधिक पसन्द करते है। पन्त जी का समस्त काव्य एक गीतमयता लिये हुए है। हिन्दी साहित्य में गीत शैली पुरानी शैली है। सभी भक्त कवियो ने इसे अपनाया था। पर आधुनिक गीत उस शैली पर न चल कर पाश्चात्य विदेशी शैली पर चलते है। विदेशी शैली के जितने गुण है सभी पन्त जी की कविता मे विद्यमान हैं। भावात्मकता, हार्दिकता, स्फुरणशीलता, प्रवाहमयता आदि इस शैली के लक्षण है। इसमे एक तीव्र मनोवेग होता है जो समस्त काव्य पर छाया रहता है। प्राय. एक मनाभाव होने के कारण इसका आकार छोटा होता है। 'वीणा' के तुतले गीत बहुत प्यारे है। 'पल्लव' की कविताओ मे एक आवेग है, एक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति है। ज्यों-ज्या पत जी आगे बढ़ते जाते है उनकी कविताओ से गीत-तत्व निकलता जाता है। पर पहले की कविताओं मे इसका प्राधान्य है। उदाहरण देखिये :

अहो विश्वसृज! पुनः गुँजा दो
वह मेरा बिखरा सगीत,
माँ की गोदी की थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत।
× × ×
वह लेटा है तरु-छाया में
सन्ध्या विहार को आया मै।

यहाँ तक रही पन्त जी की रोमाटिक काव्य-साधना। जीवन के लम्बे दौरान मे आदि से अन्त तक रोमान्स को ही स्थान नहीं है। रोमास की एक निश्चित अवधि होती है और जहाँ पहुँच कर कल्पना लोक का पक्षी कठोर धरातल पर उतरने के लिए बाध्य होता है। यहाँ उसके जीवन का गम्भीर पहलू धीरे-धीरे उसकी समझ मे आने लगता है। शेली और कीट्स जीवन की उस अवस्था तक नहीं पहुँच पाए थे अतः गम्भीर और कठोर जीवन की समस्याओं का प्रश्न उनके सम्बन्ध मे उठता ही नहीं। अधेड़ उम्र प्रेम का राग अलापने की उम्र नहीं है। यहाँ एक परिवर्तन की

आवश्यकता है। सबके जीवन मे वह परिवर्तन उत्पन्न होता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य को स्थायित्व की ओर ले जाता है। पन्त जी के जीवन मे भी यही बात सत्य है। विपत्तियो और ऐहिक कष्टो की ठोकर खाकर उन्हें जीवन की नश्वरता और क्षणभगुरता का बोध हुआ। इस समय की 'परिवर्तन' नाम की उनकी कविता बहुत मार्मिक और महत्वपूर्ण है। यहाँ उसने कल्पना के विशाल महलों को ढहते हुए देखा, गुलाब के गालो को मुरझाते हुए देखा और देखा सर्वत्र एक विनाश की छाया। उसका कोमल काल्पनिक हृदय इसे देखकर रो पडा। उसके हृदय मे मानव-मात्र के प्रति एक सहानुभूति की भावना उत्पन्न हो गई। उसने कल्पना का लोक छोड दिया, वह मानव का कवि बनने लगा। उसने जीवन का एक दृश्य देखा और उसे पहिचाना। अब वह दार्शनिक सत्यो की ओर झुकने लगा। अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होने 'ज्योत्स्ना' नाटिका लिखी, इसमे उन्होने आधुनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ज्योत्स्ना जीवन की एक 'ज्योत्स्ना' है। पर यहाँ भी कवि अपनी रोमाटिक भावनाओ का त्याग नही कर सका है। वातावरण और पात्र सभी रोमाटिक है। पर वह भावना तक आदर्श की ओर उन्मुख है।

'युगान्त' तक पहुँचते-पहुँचते कवि का सौन्दर्ययुग समाप्तप्राय हो जाता है। यहाँ चिन्तन प्रधान हो उठता है। वह जीवन और जगत् के लिए प्रार्थना करता है और एक मंगलमय भविष्य की कामना करता है। संसार प्रगतिशील है। वह निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा है। पुराने दृश्य लुप्त होते है और नया उनका स्थान लेते हैं। अब कवि युग के सम्पर्क मे आने लगा जहाँ समाज की तत्कालीन स्थिति ने उसे उनके विषय मे सोचने को बाध्य किया। 'युगवाणी' मे वह एकदम प्रगतिवादी हो उठता है। यह है भारतीय साम्यवाद का रूप। उसने अनुभव किया कि अब गीत का युग समाप्त हो गया। यह गद्य का कठोर और प्रत्यक्ष युग है। 'युगवाणी' जीवन की समझ है और 'ग्राम्या' उसका एकदम व्यावहारिक रूप। ग्राम्या मे मानो कोई सिद्धान्त निकलने के लिये सामग्री इकट्ठा की गई हो। यहाँ उसने जन-जीवन की परख की है।

इसके पश्चात् पन्त जी के विचारों मे फिर एक परिवर्तन हुआ। यह था दार्शनिक परिवर्तन। कवि अब एकदम गम्भीर दर्शन की ओर झुक गया। 'स्वर्णकिरण' आदि आधुनिक रचनाएँ इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सौन्दर्य-विषयक काव्य छोडने के पश्चात् पन्त जी किसी

भी विषय पर रुक नहीं सके। सुन्दर कल्पना का लोक उन्होंने छोड दिया पर उसके अभाव मे अब उसका बूढा कवि-हृदय कहीं भी शान्ति पा नहीं सका। यह है एक सच्चे रोमाटिक कलाकार की पहिचान। उन्होने बहुत से ढाँचे अपनाने का प्रयत्न किया पर उनके मस्तिष्क की बनावट उनके अनुकूल है कि नहीं, यह सन्देहास्पद है।

वास्तव मे पन्त जी सौन्दर्य-द्रष्टा है। इन परिवर्तनो मे यद्यपि उनकी कविता का बाह्याकार बहुत बदल गया है, पर उसकी आत्मा सदैव ऊब कर उसी पुरानी राह पर जाने के लिये छटपटाया करती है। यह है उनके स्वभाव और सिद्धान्त का विरोध। वे अपना स्वभाव गढ़ने के फेर में लगे हैं, पर वह कभी नहीं बदलेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रकृति के क्रोड मे पलने वाले कवि पन्त मे प्रगतिशीलता को भावना लेकर एक महान् परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का सकेत पाठक को 'युगान्त' मे मिल जाता है, परन्तु ग्राम्या मे वे विशेष प्रगतिशील दिखाई पडे। कल्पना का लोभ पन्त जी कही भी सवरण नहीं कर सके है। धरती से दूर होने के कारण 'ग्राम्या' की आधार भूमि ठोस और दृढ़ नही है। उसे मिट्टी की गन्ध प्रिय नहीं है। उनकी पूर्व काव्य-प्रवृत्तियों मे साम्यवादी भावना की क्रियात्मक शक्ति भी दृष्टिगोचर होती रही है। उनमे रूसी समाजवाद की अपेक्षा भारतीय प्रवृत्तियाँ अधिक परिलक्षित होती है। 'गुंजन' की कुछ कविताएँ इसी आशय की पुष्टि करती है। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का भी प्रभाव इनकी रचनाओं पर पडा है, पर इतना अवश्य है कि यह प्रभाव प्रच्छन्नरूप मे ही रहा और यह सत्य है कि उसका उन्होने अनुकरण नहीं किया है। अध्ययन और अनुभव को अपने मे पचा कर उसे मौलिक रूप प्रदान करना 'पत' जी के काव्य की अपनी विशेषता है। जीवन और सत्य के प्रति उनमे उपेक्षा कही नहीं मिलती। ग्रामीणो, कामगरो या कृषक मजदूरो की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के निमित्त साम्यवाद-समाजवाद से प्रभावित समीक्षको ने उन्हे प्रगतिवाद के पोषको मे घोषित किया है। यथार्थ मे पतजी समाजवादी प्रगतिशील कवि होने से पहले स्वच्छन्दतावादी तथा रहस्यवादी कवि है। उनके काव्य मे नए छन्दो की, नई भावनाओ की की जहाँ सृष्टि हुई है, वहाँ वे सच्चे अर्थो मे प्रगतिशील कवि है। काव्यात्मक सौन्दर्य तथा कलात्मक अभिव्यक्ति की सृष्टि से भी 'पत' जी अपने युग के सच्चे प्रगतिशील कवि कहे जा सकते है। प्रगतिशीलता के अन्दर आने वाली सारी संक्षिप्त जीवन-शक्तियाँ उनकी इस प्रगतिशीलता मे नहीं मिलेगी।

उत्तेजक प्रवृत्तियाँ, पूँजीवाद के खिलाफ विद्रोह की हुकृति, व्यक्ति के प्रति अविश्वास की भावना और अधिकारयाचना के निमित्त क्रान्ति का आह्वान भी इस प्रगतिशीलता मे नहीं मिलेगा। परिवर्तन या विकास के अर्थ मे 'पंतजी' सच्चे प्रतिनिधि प्रगतिशील कवि कहे जा सकते है। ग्रामीण वातावरण का उन्होने निरीक्षण मात्र ही किया है और वह भी अत्यन्त निकट से नहीं, कुछ दूर से ही। इस निरीक्षण मे जहाँ तक के विस्तार को कवि ने देखा है उसके मर्म तक पहुँचा है। परिस्थिति के आग्रह से मानव किस प्रकार ह्रास को प्राप्त होता है, देखिए:

> ग्राम आज है पुष्ट जनों की करुण कथा का जीवित,
> युग-युग का इतिहास सभ्यताओं का इसमें संचित।
> घर-घर के बिखरे पन्नों में नग्न क्षुधार्त कहानी,
> जनमन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न बानी।
> मानव दुर्गति की गाथा से ओत-प्रोत मर्मान्तक,
> सदियों के अत्याचारों की सूची यह रोमांचक।
>
> —ग्राम्या, पृ० १४

सच्ची मनुष्यता तो गाँव मे ही निवास करती है, वहाँ दानवता कहाँ। मनुष्यता का मूल तत्व ग्रामीण केन्द्र मे ही अन्तर्निहित है। परन्तु जब कवि कहता है कि—देख रहा हूँ अखिल विश्व को मैं ग्रामीण नयन से—वहाँ वह सत्य से दूर चला जाता है क्योंकि कोरी बुद्धिवादिता से ग्राम्य वातावरण का यथार्थ चित्र नहीं खींचा जा सकता। अधिक स्वच्छता और सत्यता लाने के लिये भौतिकवाद के आधार से बौद्धिक-आधार ग्रहण करने मे अस्वाभाविकता आ जाती है क्योंकि ऐसी दशा मे कोई भी कवि यथार्थ की भूमि से च्युत हो सकता है। यथार्थ के डग भर ही गाँवों तक पहुँचा जा सकता है। बौद्धिक आँखो से गाँव और उसके निवासियों को नही देखा जा सकता। बौद्धिक प्रयास से खींचा गया चित्र मध्यवर्गीय जीवन को ही दिखला सकता है, पर कवि की दृष्टि मे जो उपेक्षित हैं उन्हे उपेक्षित कहना ही ठीक है क्योंकि उनका उपेक्षित और दलित होकर रहना भी परम्परा की एक कड़ी है:

> यहाँ खर्व नर (वानर) रहते युग युग से अभिशापित,
> अन्न वस्त्र पीड़ित असभ्य, निर्बुद्धि पंक में पालित।
> यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
> यह भारत का ग्राम सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।
>
> —ग्राम्या, पृ० १६

'ग्राम्या' का आधार बौद्धिक अधिक हो गया है तो भी वह अपने अर्थ मे वैशिष्टय रखती है। इससे कवि ग्रामचित्रण के अतिवाद तक पहुँच गया है। वह ग्रामीण नयन से ही सम्पूर्ण विश्व को देखता है। साम्यवादी भावनाओं का तो कवि वकील ही है इसलिये वह सबकी सामूहिक मगल कामना करता है। कवि किसान की ध्वंसात्मक शक्तियो और प्रक्रियाओ से भी खिन्न है यद्यपि उसकी निर्माण-प्रक्रिया कवि की दृष्टि मे वाछनीय है :

ललकार रहा जग को भौतिक विज्ञान आज,
मानव को निर्मित करना होगा नव समाज,
विद्युत औ बाष्प करेंगे जन-निर्माण काज,
सामूहिक हो मंगल समाज समदृष्टि राज।

ग्राम्या

सम्पूर्ण ग्राम्या मे कवि का आशावाद मुखरित है। आशावाद के साथ ही साथ कवि ने शिव पक्ष को भी प्रधानता दी है। आशावाद मे तो कवि बहुत आगे निकल जाता है :

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है भाती तट की चल जल-माली।
आएगी पुलिनों पर मेरे वह मोती की मछली सुन्दर,
मै लहरो के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर।

इस कृति से कवि प्रगतिवाद का झंडा अधिक से अधिक ऊँचा उठा सका है। "वास्तव में युगवाणी पन्त का सिद्धान्त वाक्य था और ग्राम्या उसका प्रयोग।"[१]

'पंतजी' की रचनाओं के क्रमिक विकास को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे कल्पना-लोक से उतर कर जीवन की यथार्थ भूमि पर आ रहे थे कि अरविन्द-दर्शन की चपेट मे आ गए और उनकी कल्पना-शक्ति अध्यात्मोन्मुखी हो उठी। स्वर्ण किरण (१९४७), स्वर्ण धूलि, उत्तरा, रजत शिखर, शिल्पी, सौवर्ण, अतिमा (१९५५) और वाणी (१९५८) आदि उनकी इसी कोटि की रचनाएँ है। उनकी यह दार्शनिकता सन्

१. सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २२४, प्रो० नगेन्द्र।

१९५६ ई० मे प्रकाशित होनेवाले उनके काव्य 'कला और बूढा चाँद' तक बनी रही जिसे देखकर लोगों को एक नवीन प्रयोग का भ्रम उत्पन्न हो गया था। इसमे सन्देह नहीं कि इस काव्य मे 'पतजी' काव्य के एक नए रूप (Form) की तलाश करते जान पडते है। मुक्त छंद लिखने का जो आग्रह इसमे दिखलाई पडता है उससे स्पष्ट हो जाता है कि गद्य की लोकप्रियता के दबाव की वास्तविकता का ये अनुभव करने लगे है। इसी बीच इन्होने 'लोकायतन' महाकाव्य की भी रचना की जो सन् १९६४ ई० मे प्रकाशित हुआ। कवि के शब्दो मे ही यह लोक-जीवन का महाकाव्य है जिसमे 'पत के चारो काव्य-चरणो की प्रवृत्तियाँ हमे एक साथ देखने को मिलती है—प्रकृति-वर्णन की क्षमता और स्वच्छन्दतावादी चेतना, प्रगतिशील सम्पर्क, आध्यात्मिक दार्शनिक चिन्तन तथा प्रयोगशील चेष्टा।'[1] इस प्रकार संख्या और विविधता, दोनो ही दृष्टियों से 'पत' की काव्य-कृतियाँ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियो को समझने मे सर्वाधिक सहायक हैं।

महादेवी

आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त' और 'महादेवी' चार ऐसे प्रकाश स्तम्भ हैं, जिनके आलोक से आधुनिक हिन्दी-साहित्य जगमगा रहा है। इन चारों का हिन्दी साहित्य मे अपना अलग व्यक्तित्व है। 'प्रसाद' मे मस्ती, 'निराला' मे विद्रोह, 'पन्त' मे कोमलता और महादेवी में पीड़ा है। 'पन्त', 'प्रसाद' तथा 'निराला' ने जिस काव्य-शैली को गौरवान्वित किया था उनके बाद की रचनाओं मे विकार आने लगा। जब 'छायावाद' के नाम पर परिकल्पित सीमा का भी अतिक्रमण होने लगा तो उसी स्थान से विकार का सूत्रपात भी हुआ। सुख के विरुद्ध दु ख का आकर्षण तो उपयुक्त है, परन्तु जब महादेवी ने आँसू को मिश्री से भी अधिक मीठा मान लिया तो वहीं उन्होंने सीमा पार कर दी। उनकी जितनी भी ऐसी रचनाएँ हैं वे सन् १९३२ के बाद की हैं। जिनमे 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' की ताजगी नहीं रह पाई थी, जहाँ तक भावों की सूक्ष्मता का प्रश्न है, महादेवी मे सबसे अधिक है। परिष्कार और मंडन आदि मे तो महादेवी जी सबसे आगे है किन्तु उनकी अभिव्यक्ति उतनी जीवन्त नहीं है जितनी कि उनके अन्य समकालीन कवियो की। कला की दृष्टि से सबसे आगे होते हुए भी उन्हे कवि की दृष्टि से वह स्थान नहीं

---

१. हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य—डा० प्रेमशंकर

दिया जा सकता जो स्थान 'पन्त' 'प्रसाद' और 'निराला' को दिया जा सकता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि 'छायावादी कहे जानेवाले कवियो मे महादेवी ही रहस्यवाद के भीतर आती है।' किन्तु इनकी कविताओं मे बौद्धिकतत्व इतना उभड आया है कि सरल हृदय की वह सरस अभिव्यक्ति नहीं रह पाई है जो कि एक रहस्यवादी रचना के लिये आवश्यक है। जिसने अलौकिक ब्रह्म के चरणों मे अपने को डाल दिया तथा उसे ही एकमात्र प्रियतम के रूप मे स्वीकार कर लिया, उसके लिये फिर ससार तथा उसकी माया कैसी। जब तक साधक के सामने ब्रह्म का ऐसा आलोक नहीं छा जाता जिससे कि संसार की सभी विकारयुक्त वस्तुएँ अन्धकार की भाँति विलीन हो जाती हैं तब तक यही मानना चाहिए कि साधक की भावना किसी लौकिक अभाव के कारण भटक रही है। 'महादेवी' जी की रचनाओं मे विरह की असह्य पीड़ा तो है, वेदना की विह्वल विवृति तो है, किन्तु स्वीकार करने का उतना साहस नहीं है जितना कि सकोच और झिकक। इनका प्रिय भी सब की आँख बचाकर, छिप कर आना पसन्द करता है, वह मीरा का नटनागर नहीं है कि जिसके लिये वे सभी लौकिक बन्धनों का त्याग कर सकेंगी। वे अपनी मर्यादा के हेतु प्रिय से दूर ही रहना चाहती है किन्तु मन पर काबू नहीं कर पातीं—'दूर रहकर खेलना, पर मन न मेरा मानता है।' इस मन और मर्यादा की दुविधा मे उनकी भावना चक्कर काटती रहती है। प्रकट तो ऐसा करना चाहती है कि उनका प्रेम निष्काम है, वे अपने प्रेम का प्रतिदान नहीं चाहती, केवल विरह के रूप मे ही जो कुछ उन्हे मिल गया है वह पर्याप्त है, किन्तु उसके मूल मे उनकी असमर्थता ही है क्योंकि उनकी यह इच्छा सदैव बनी ही रहती है कि साध्य देख ले कि मैं उसके लिये कितनी साधना कर रही हूँ। यह दिखाने की भावना स्पष्ट कर देती है कि वे प्रतिदान चाहती है क्योंकि उन्हे विश्वास है कि यदि उनकी तत्परता अथवा विह्वलता साध्य देख ले तो वह द्रवित अवश्य हो जायगा। कवयित्री का लौकिक प्रेम ही बौद्धिकता एवं स्वाभाविक संकोच के सहारे साधना की ऐसी ऊँची भूमि पर पहुँच गया है कि अलौकिक ज्ञान पड़ने लगता है। अन्यथा हमे उनकी कविताओं में वैयक्तिक अनुभूति एवं वेदना की पराकाष्ठा दिखलाई पड़ती है। महादेवी जी जो यह कहती हैं कि—

> **'मिलन का मत नाम ले**
> **मैं विरह में चिर हूँ।'**

से स्पष्ट जान पडता है कि कवयित्री को जीवन मे विरह ही मिला है और भविष्य में मिलन की आशा भी शेष नहीं रह गई है जिससे उन्होंने अपनी वर्तमान स्थिति के साथ समझौता कर लिया है। नहीं तो कभी भी घायल घाव नहीं चाहता। जो अभी घाव ही चाहता है, मालूम होता है उसकी गति घायल की है नहीं। महादेवी जी विरह और वियोग मे रस अधिक ढूँढ़ती है, इसका अर्थ है विकलता का उतना अनुभव नहीं करतीं। बुद्धि जानती है इसी कारण वेदना मे घुलने नही देती, यानी वह भक्ति से भिन्न है। भक्ति मे एक विह्वलता होती है। महादेवी के काव्य मे इतनी अधिक कविता है कि उसी के कारण हम जान लेते हैं कि विह्वलता नहीं है। विह्वलता मे भाषा के किनारे टूटे-फूटे बिना नहीं रह सकते किन्तु महादेवी जी की कविता सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण है। वेदना वह है जो बुद्धि को भिगो दे। बुद्धि अलग से जिसे थामे रह सकती है, वह पीडा शायद बुद्धिगत है, प्राणगत नहीं, जब कि वेदना का मूल प्राण मे है। इनकी कविताओं मे से यदि सकोच और झिझक को निकाल दिया जाय तो निःसन्देह ही ये कविताएँ अभावजन्य प्रणयी-हृदय के स्वाभाविक स्वच्छन्द लौकिक उद्‌गार है। उनका काव्य व्यक्तिगत, मानसिक सघर्ष अभाव और बौद्धिकता के दुःखवाद से ओत-प्रोत है।'[1] जिन कविताओं के अन्दर महादेवी जी प्रेयसी की भूमिका मे उतरी है उनमे लौकिकता की भूमि से जो वे अलौकिकता के आकाश पर भागती रहती हैं उनके लिए उनकी वैयक्तिक तथा सामाजिक परिस्थिति ही उत्तरदायी है और इसीलिए वे यह कह उठती हैं :

> 'प्रिय चिरन्तन है सजनि,
> क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं।'

पाडित्य और बौद्धिकता के कारण इनकी कविताओं मे साहित्यिकता अधिक भले आ गई हो :

> 'जब असीम से हो जावेगा
> मेरी लघु सीमा का मेल।'

जैसे गीतों मे एक कहीं कुछ दूर की पुकार, पवन का एक झोका, लहरों की एक करवट तथा तारों का कुछ मौन सन्देश भले लक्षित हो किन्तु निःसन्देह कवयित्री के मन में एक हूक उठी है जिससे वे गाने लगी है,

---

१. शची रानी तथा जैनेन्द्र कुमार—प्रश्नोत्तर।

उसे इससे कुछ मतलब नहीं कि वह क्या है। प्रिय की चिर खोज तथा चिर-अतृप्ति की प्यास से उनका काव्य आपूर्ण है। महादेवी जी की अभिव्यक्ति चाहे जैसी हो किन्तु वह वैयक्तिक तो अवश्य है। 'महादेवी' जी की कविताओं मे 'चिरन्तन' और 'असीम प्रिय' अत्यन्त कोमल, मोहन और उत्सुक प्रणयी के रूप मे चित्रित हुआ है।'[1] काव्यो मे वैयक्तिकता को जो महत्वपूर्ण स्थान मिला है उसका एकमात्र श्रेय हिन्दी साहित्य मे बढती हुई स्वच्छन्दधारा को है, जिसका अज्ञात प्रभाव महादेवी जी की रचनाओं पर भी है।

हिन्दी साहित्य के अन्दर कुछ विद्वान् ऐसे है जो स्वीकार करते है कि महादेवी जी के काव्यो मे वैराग्य भावना का प्राधान्य है। किन्तु इनके काव्य के सम्बन्ध मे इतनी सफलता से निर्णय दे देना उपयुक्त न होगा। एक ओर तो उनकी पीड़ा अन्तमुखी अधिक है जिसने कहीं भी अपने को उभाड कर सामने नहीं रखा है और दूसरी ओर सिवा अपने भावों के दूसरे किसी के भावों की बात भी नहीं करतीं। एक ओर तो वे प्रेममार्गी सूफी सन्तों की विचारधारा के निकट आती जान पडती हैं, तो दूसरा ओर अध्यात्म परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों से बहुत दूर दिखाई पड़ती है। इनके 'नीरजा' के गीत अनुभूति एवं चिन्तन के अमूल्य रत्न हैं जिनमे विरह, दुःख, वियोग और अद्वैतपरक भावनाओ की ऐसी चमक निहित है कि सारा मानस आलोकित हो उठा है। अनुचित न होगा यदि डा० रामविलास शर्मा के स्वर मे मिलाकर कहा जाय कि 'महादेवी' जी अपने गीतों मे देवी के रूप में नहीं एक 'मानवी' के रूप मे दर्शन देती है। वे अपनी भाव-व्यंजना मे इस धरती पर काम करने वाली मनुष्य नामक प्राणी ही नहीं, वरन् उसका एक भेद नारी भी है।' उनका नारीत्व सामाजिक सीमाओं के अन्दर विकास के लिये पख फडफड़ाता है, उसकी यह व्याकुलता अनेक साकेतिक रूपों मे उनकी कविताओं मे प्रकट होती है। महादेवी जी को नारी-प्रकृति की एक सरस विशेषता उनका हठ है। उनके प्राण पागल है तो हठीले भी है। अध्यात्मवादी महादेवी का अभिमान देखने योग्य है जो निजत्व देने मे असमर्थ होकर प्रिय से मिलने नहीं देता :

> 'मिलन मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुण्ठन,
> मै मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कण,
> सजनि मधुर निजत्व दे कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।'

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—हिन्दी साहित्य, पृ० सं० १७५।

'महादेवी' जी की कविताओं के अन्दर आधुनिक युगीन नारी की इच्छा और माँग निहित है। रीतिकालीन नारी के सामाजिक स्तर और आधुनिक नारी के सामाजिक स्तर के अन्तर को यदि जानना हो तो दोनों युग की कविताओ को सामने रखकर स्पष्ट किया जा सकता है। रीतिकाल की नारी का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था, वह पुरुष की केवल भोग्या थी, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं थी, उसे पुरुष की इच्छा पर निर्भर रहना था, वह सहचरी नहीं बल्कि दासी थी। इसके अतिरिक्त पुरुष ने कभी यदि उदार हो उसे अवसर भी देना चाहा तो वह अपने जकडे हुए संस्कारों के कारण अपना प्राप्य भी नही ले पाती थी, उसका ससार उतना ही बड़ा था जितना कि वह छिपकर खिडकियो से देख पाती थी। किन्तु आज की नारी को वे सभी बन्धन अस्वीकार है। वह समानता का दावा करती है तथा स्वच्छन्द वायु मे साँस लेना चाहती है। सामाजिक बन्धन उसके लिये इतने असह्य हो गए है कि वह उन्हे तोड़ डालने के लिए छटपटा रही है, तभी तो वह ऐसे साथी की खोज मे है जो वायवी उडान मे उसका साथ दे सके। प्रतिक्रिया के कारण उसका मन साधारण चचल नही। उसके मन की गति इतनी बढ़ गई है कि वह विश्व की सारी दूरी नापकर ही दम लेगी। वह कहती है :

द्रुत पंखों वाले मन को
तुम अन्तहीन नभ होना।'

उसके मन में यह भावना प्रबल हो गई है कि उसे स्वच्छन्द होना है चाहे मजिल मिले या न मिले। वर्तमान से भविष्य अच्छा होगा, उसने ऐसा सोच लिया है जिसके लिए वह आजीवन दौड लगाने के लिए तैयार है :

'आते जाते मिट जाऊँ
पाऊँ न पंथ की सीमा।'

वह वर्तमान दम-घुटनशील वातावरण से ऊब गई है जिसके प्रति विद्रोह करने के लिए तैयार है। उसका यह विद्रोह जीवन की प्रत्येक दिशा मे है। वह अपने प्रत्येक रूढ़िग्रस्त सम्बन्धों को तोड़ना चाहती है, वे चाहे सामाजिक हो अथवा पारस्परिक या दाम्पत्य सम्बन्धी।

महादेवी जी निजत्व को मिटा कर प्रियतम तक से भी नहीं मिलना चाहती। इसका कदापि अर्थ नहीं कि वे मिलना नहीं चाहतीं। यदि उनके

स्वाभिमान को ठेस न लगे तो प्रियतम का स्वागत करने को तैयार है। पुरुष अपनी प्राचीन थोथी मर्यादाओ के कारण झिझकता सा जान पड़ता है इसीलिए तो वह तम के पर्दे मे छिपकर आना चाहता है जिसे महादेवी जी भली-भाँति समझती है जिससे वे सिफारिश भी करती है—

'नभ की ओ दीपावलियो!

क्षण भर को तुम बुझ जाना।'

इस प्रकार हम देखते है कि जहाँ तक हो सका है 'महादेवी' जी ने अपनी कविताओ के द्वारा नारी अधिकारों की वकालत की है। इनकी सारी प्रणयानुभूति को अलौकिक मान लेना उनकी कविताओ के साथ अन्याय करना है। प्रेम का जो मधुर सम्बन्ध प्रेमी और प्रेमिका के बीच चलता है, वही सम्बन्ध हमे इनको कविताओ मे दिखाई पडता है। उसका जो सम्बन्ध उन्होने परम पुरुष से स्थापित करा लिया है वह एक आवरण मात्र है, सो भी इसलिए कि उन्हे विश्वास है कि अभी समाज इस स्तर पर नहीं पहुँच पाया है कि वह पवित्र लौकिक प्रेम को सम्मान की दृष्टि से देख सके, क्योंकि वह अब तक प्रेम का अर्थ स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध से ही लेता आया है। इस युग की सबसे बडी विशेषता यही रही है कि हिन्दी कविताओ के अन्दर पवित्र प्रेम की स्थापना हुई है। रीतिकाल की शृगारिक कविता मे जो स्थान रति और काम का था इस युग मे वही स्थान प्रेम को मिला है और रीतिकाल की नारी जो नायिका थी इस युग मे प्रेयसी बन गयी है। महादेवी जी के गीत उज्ज्वल प्रेम के गीत है, अत: उनका उच्चारण करते समय वासना की उष्ण गन्ध नहीं बल्कि पावन प्रेम की मादक गन्ध आती है। प्रेम पर लेखनी चलाने वाले प्राय: सभी कवियो मे कही न कहीं असंयम आ गया है किन्तु इन्होने अपने अन्तर की जिस सात्विकता और सयम-वृत्ति का परिचय दिया है वह इनके व्यक्तित्व की महानता ही नहीं है, बल्कि इनकी काव्य गरिमा का आधार स्तम्भ भी है।

'महादेवी' जी की कविताओ के साथ जो एक सबसे बडी समस्या है वह यह कि इन्हे एक विशेष पूर्वग्रह के साथ देखा जाता है, हठात् इनमे रहस्यवाद ढूढने का प्रयत्न किया जाता है। थोडी देर के लिए यदि हम इनकी कविताओं को रहस्यवाद के भीतर मान भी ले तो किस रहस्यवाद के भीतर मानें, कबीर के रहस्यवाद के भीतर अथवा जायसी और मीरा के? इनकी कविताओ मे निर्गुण सन्तों की वाणी ध्वनित अवश्य होती है

किन्तु उस ध्वनि मे इनकी जीवन-साधना की अनुभूति का कितना अंश है स्पष्ट नही हो पाता। सन्तो की भावना मे आत्मा और परमात्मा का इतना ऐक्य है कि द्वैत का भान ही नहीं हो पाता। कबीर कहते है—

'सुनु सखि पिउ महि जिउ बसे, जिउ महिं बसे कि पीउ।'

किन्तु 'महादेवी' जी के काव्य मे हम परोक्ष सत्ता की साक्षात् अनुभूति मे विश्वास करने मे इसलिए झिझकते है कि उसमे सन्तों के समान सघन एक स्वरता तथा सहज कातता नही है। उनका मन कभी अद्वैत की ओर ललक पडता है तो कभी द्वैत की ओर दौडता दिखाई पडता है और कभी-कभी तो स्थूल के प्रति इतना आकर्षण दिखाने लग जाता है कि सब पर पानी फिर जाता है।

स्थूल के प्रति राग—

'कह दे माँ क्या देखूँ।
देखूँ खिलती कलियाँ
या प्यासे सूखे अधरों को।
या मुरझाई पलकों से झरते
आँसू कन देखूँ।

इनके काव्य का प्रधान तत्व प्रेम तो अवश्य है, पर सूफियों के अन्दर जो आध्यात्मिक श्रेणियाँ है वे इनमे नहीं, जिससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि इनके काव्य पर सूफियों का प्रभाव है। मैंने पूर्व मे ही प्रकट कर दिया है कि ये मीरा जैसी भक्त भी नहीं कही जा सकतीं। यद्यपि दोनो ने ही अपनी साधना विरह से ही आरम्भ की है किन्तु दोनो के प्रियतम में महान् अन्तर है। 'मीरा' का गिरिधर नागर भगवान् अपनी लीला दिखा चुका है और वह साकार ब्रह्म है किन्तु महादेवी जी का ब्रह्म साकार नहीं है। महादेवी के अन्दर भक्ति भी नहीं है क्योकि उसके लिये दैन्य का होना अनिवार्य है जिसके स्थान पर इनमे स्वाभिमान है जिससे वैयक्तिकता की गन्ध आती है। इनका दुःखवाद, विरहवाद, वेदनावाद सब एक ही है जो बुद्धिगत होने के कारण भाषा और कला मे उलझ कर मानसिक व्यायाम बनकर रह गया है।

महादेवी जी की रचनाओं मे आधुनिक युग का नारीत्व मुखर हुआ है। जो नारी महलो की चहारदीवारो के भीतर पति के कठोर आलिंगनो मे जकडी रहती थी, वही अब स्वच्छन्द होकर प्रकृति के विशाल प्रागण मे आ गई है। उसे अब केवल पति या पुरुष का ही सहारा नहीं चाहिए, उसके लिए प्रकृति ने अपनी विशाल भुजाएँ फैला दी है। वह उसके दुख मे दुखी और सुख मे सुखी होती है। इससे बढकर उसका सम्मान और क्या हो सकता है कि इनकी रचनाओ मे प्रकृति पग-पग पर सहायता के लिए प्रस्तुत जान पड़ती है। यदि इनकी कविताओं से प्रकृति को अलग कर दिया जाय तो वे पगु हो जायँ। उनका कोमल और कल्पनाशील हृदय जब इस लोक के व्यवहार से सतुष्ट नही हो सका और जब ये उसे अपनी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण हृदय की बात न समझा सकी तो प्रकृति को उपयुक्त पात्र समझकर उसके लिए चुन लिया। महादेवी जी प्रकृति के अन्दर विराट् और अपनी दोनो की छाया देखती हैं जिसे हम प्रकृति से तादात्म्य की सज्ञा भी दे सकते है। वे सन्ध्या से अपनी तुलना करती है :

'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सो काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन॥

अग्रेजी साहित्य के प्रभाव से जो प्रकृति के मानवीकरण की परम्परा चली उसका भी प्रचुर प्रयोग इनकी कविताओ मे पाया जाता है। किन्तु उसे ये अग्रेजी साहित्य की देन नहीं मानती और उसकी परम्परा को वेद की ऋचाओ मे मरुत्, अग्नि आदि से जोडती है। इन्होने अपनी रचना—

'धीरे-धीरे उतर क्षितिज से आ वसन्त रजनी!
तारकमय नव वेणी बन्धन,
शीशफूल शशि का कर नूतन,
रश्मि वलय, सितघन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी।'

मैंने वसन्त रजनी को नारी रूप मे चित्रित किया है। कभी, कभी तो इनकी कल्पना का क्षेत्र इतना बढ जाता है कि विराट् प्रकृति भी उसकी लपेट मे आ जाती है

'लय गीत मदिर, गति ताल अमर।
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर॥
आलोक तिमिर सित असित चीर।
सागर गर्जन रुन-झुन मँजीर॥
.. ..
हिमकण बन झरते स्वेद निकर,
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर॥

यहाँ पर विराट सत्ता को अप्सरा के रूप मे चित्रित किया गया है।

आलम्बन रूप मे प्रकृति का जो मोहक रूप 'पंत' के 'पल्लव' मे आ सका है, वह महादेवी की कविताओं मे देखने को भी नहीं मिलता। महादेवी जी प्रकृति के एक-एक रूप को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती हुई उसके चेतन व्यापारो की कल्पना करती जान पडती है। काव्य मे कल्पना का बाहुल्य छायावाद युग की सबसे बडी विशेषता रही जो महादेवी जी में प्रभूत मात्रा मे मिल जाती है। अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों की भाँति महादेवी जी की कल्पना सीधी और वैयक्तिक अनुभूति का स्पष्ट प्रकटीकरण नहीं है, बल्कि उसमे बौद्धिकता के बाहुल्य के कारण कवयित्री का प्रत्यक्ष सहज आँखो के सामने से ओझल ही रहता है। "कहीं-कहीं तो वह काल्पनिक व्यापार हमारे सौदर्य संस्कारों के प्रतिकूल पड जाता है और कहीं-कही वह इतना क्लिष्ट पड जाता है कि हम ईप्सित सौदर्य की झाँकी नही पा सकते।" इन्हे उदाहरणों द्वारा देखा जा सकता है ·

रजनी ओढ़े जाती थी झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर जब रोती थी उजियाली।

प्रभात काल मे झिलमिल तारो की जाली ओढकर रजनी का जाना तो समझ मे आता है पर उसके बिखरे वैभव पर उजियाली का रोना समझ में नहीं आता। साधारणतः प्रभात को हँसते हुए ही आता माना गया है जिससे सहज विश्वासो को दबाकर प्रभातकालीन नमी अथवा आँसूरूपी ओस के

आधार पर ही उजियाली के रोने की क्लिष्ट कल्पना करनी पडती है। इसी प्रकार .

> विश्वासों का नीड़ निशा का बन जाता जब शयनागार
> लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार,
> तब बुझते तारों के नीरव नयनो का यह हाहाकार,
> आँसू से लिख लिख जाता है कितना सुन्दर है संसार ॥

ये कविताएँ इतनी अन्तर्मुखी है कि वे प्रकृति के प्रत्येक कंप और मर्मर संकेतो से अपना परिचय नही कर पाती। महादेवी जी कविता के प्रत्येक बंद को स्वतन्त्र चित्र के रूप मे प्रस्तुत करना चाहती है और उसके माध्यम से मानसिक वृत्तियो और वातावरणों को भी मुखरित करना चाहती है जिससे स्वाभाविक अभिव्यक्ति का कार्य उनके लिए अत्यन्त कठिन हो जाता है। महादेवी जी अपनी जिन कविताओ मे अपने आग्रह से ऊपर उठ सकी है, उनमे हमे सजीव कविता का स्रोत बहता दिखलाई पडता है

> स्वर्ग का था नीरव उच्छ्वास, देव वीणा का टूटा तार ,
> मृत्यु का क्षण-भंगुर उपहार, रत्न वह प्राणों का शृंगार ,
> नई आशाओं का उपवन, मधुर वह था मेरा जीवन ।

इसी प्रकार जहाँ वे अस्पष्ट एवं क्लिष्ट उपमानो को छोडकर सरल भाव-भूमि पर उतरी है उनके चित्र काफी सुलझे हुए चित्रित हुए है, यद्यपि ऐसे चित्रों का महादेवी जी की कविताओ मे अभाव है :

> जाग-जाग सुकेशिनी री !
> अनिल ने आ मृदुल हौले, शिथिल वेणी-बन्ध खोले,
> पर न तेरे पलक डोले, बिखरतीं अलकें झरे जाते सुमन,
> वरवेषिनी री !
>
> छाँह में अस्तित्व खोए अश्रु से सब रंग धोए,
> मन्दप्रभ दीपक सँजोए, पंथ किसका देखती तू
> अलस स्वप्न निवेशिनी री ।

✓करुणा की ओर महादेवी का झुकाव सर्वाधिक रहा है। अन्य स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों की भाँति इन्होंने व्यक्त प्रकृति के सौन्दर्य प्रतीकों को

न अपना कर उसकी अव्यक्त गतियों और छायाओं का संग्रह किया है। यही कारण है कि अपनी दुरूहता के कारण वे वर्णन पाठको को रहस्यात्मक जान पडते है यद्यपि उनमे वेदना की विवृति ही निहित है। उदाहरण के लिए हम रख सकते है ·

उच्छ्वासों की छाया मे पीडा के आलिंगन में,
विश्वासों के रोदन में, इच्छाओं के चुम्बन में,
उन थकी हुई सोती सी उजियाली सी पलकों में,
बिखरी उलझी हिलती थी मलयानिल की अलकों में।
× × ×
जो बिखर पड़े निर्जन में निर्झर सपनों के मोती
मैं ढूँढ रही थी लेकर धुँधली जीवन की ज्योती॥

वेदना के क्षेत्र मे व्यक्तिगत भावुकता से आरम्भ कर महादेवी जी क्रमश: भावना क्षेत्र मे बिखरती गई है। जिसे उनकी एक उडान मे देखा जा सकता है .

चाहता है यह पागल प्यार अनोखा एक नया संसार,
कलियों के उच्छ्वास शून्य में ताने एक वितान,
तुहिन कणों पर मृदु कंपन से सेज बिछा दे गान,
जहाँ सपने हों पहरेदार अनोखा एक नया संसार।

भावना जगत् मे विचरण करनेवाली महादेवी जी सयम की अधिकता के कारण जागरूक कलाकार के रूप मे ही पाठको के सम्मुख आती हैं। उनके काव्य मे प्रकृति घुली-मिली है, उसका प्रयोग भाव और कला दोनो पक्षो मे हुआ है किन्तु ऋतु आदि के वर्णनो को उन्होने कहीं पर भी आधार नही बनाया है जो स्वच्छन्दतावादी साहित्य का मूलाधार है। इन्होंने अभिव्यक्ति के प्रत्येक क्षेत्र मे अपनी वैयक्तिकता और नवीनता का परिचय दिया है। किसी भी प्रकार का अकुश इनकी कल्पनाओं को रोक नही सका है और न तो कहीं भी उनकी स्वच्छन्द भावनाओ का मार्ग ही अवरुद्ध हो पाया है, जो कुछ थोड़ा सा दुराव-छिपाव रह गया है उसके लिए उनका नारी व्यक्तित्व उत्तरदायी है।

●

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

श्री गुरुभक्तसिंह जी 'भक्त' का प्रवेश काव्य-जगत् मे निराला और पन्त के साथ ही होता है किन्तु उनकी प्रथम कविता-पुस्तक 'पन्त' के 'पल्लव' के बाद प्रकाशित हुई। भक्त जी के काव्य का दृष्टिकोण आध्यात्मिक पृष्ठभूमि और रहस्यात्मक अनुभूतियो से दूर मानववादी ही है। कवि ने उस समय जब कि पन्त और निराला अपनी आध्यात्मिक और प्रकृति-परक रहस्यात्मक रचनाएँ कर रहे थे, शुद्ध रूप से प्रकृति और मानव अनुभूतियो को अपना काव्य-विषय बनाया था। इस दृष्टि से कदाचित् 'भक्त' जी पर बहुत कम विचार हुआ और अपने समय मे उन्हे आरम्भ मे जो सम्मान मिला उसकी ऐतिहासिकता को नवीन आलोचना भूलती-सी जा रही है। वास्तव में प्रचार और प्रदर्शन से दूर रहने वाले इस सच्चे मानवतादी कवि ने एकान्त भाव से काव्य-सर्जन को ही अपना लक्ष्य बनाया, दल-वर्ग और शिविरों से अलग प्रेम और सौन्दर्य के गायक इस कवि ने सभी मचो और गद्य रचनाओ मे कुछ न कहकर अपने अरबी, फारसी, इतिहास और संस्कृत काव्यों के विस्तृत और गम्भीर अध्ययन को कवि की व्यापक और मानवीय सहानुभूति देते हुए जो कुछ कहा केवल कवि रूप मे ही। आरम्भ मे **कविवर प० अयोध्याप्रसाद उपाध्याय 'हरिऔध' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० भगतवतशरण उपाध्याय, पं० अमरनाथ झा** आदि द्वारा लिखे गए प्रशसात्मक निबन्ध 'भक्त' जी की लोकप्रियता और काव्यगत नवीनता के परिचायक रहे है। स्वयं निराला जी ने भी भक्त जी पर एक प्रशसात्मक लेख लिखा था। डा० भगवतशरण उपाध्याय ने तो सपूर्ण 'नूरजहाँ' की एक व्याख्यात्मक आलोचना ही लिख डाली है। स्वच्छन्दतावादी कवियो की भाँति इनके काव्य का प्रारम्भ भी स्फुट कविताओं के रूप मे हुआ।

सरससुमन, कुसुम-कुज, वंशीध्वनि और वनश्री उनके स्फुट काव्य संकलन है। प्रकृति के सामान्य रूप पर वर्डस्वर्थ की भाँति रीझने वाले इस कवि ने हिन्दी काव्य-साहित्य मे प्रकृति-वर्णन की एक नवीन परम्परा ही चलाई। प० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी के शब्दो मे, न उन्होंने किसी का अनुगमन किया और न कोई उनका अनुगमन कर सका। वैज्ञानिक दृष्टि से यह भक्त जी के स्वच्छन्दतावादी कवि के विषय मे एक विशिष्ट तथ्य है। न इस कवि ने किसी परंपरा के सूत्र के सहारे पदार्पण किया और न एक

व्यापक जीवन दृष्टि और विषय-विस्तार के अलावा किसी स्थूल परम्परा के स्थापित करने की चिन्ता ही की। 'वर्ड्स्वर्थ' ने प्रकृति मे एक स्वतंत्र आत्मा का दर्शन किया था और प्रकृति के प्रति वह एक धार्मिक विश्वासपूर्ण तीव्र भावना से देखता था, किन्तु भक्त जी ने ऐसा नहीं किया। अपने भावातिरेक मे वे 'वर्ड्स्वर्थ' की भाँति उस सीमान्त तक नही जा सके। एक प्रकृति-प्रेमी कवि की प्रकृति के सहज रूप के साथ कितनी सहज रागात्मक एव मानवीय सवेदना हो सकती है, 'भक्त जी' का प्रकृति-प्रेम उस भूमि पर पल्लवित और प्रसरित हुआ है। अनेक प्रकार की घासों, चिडियो और पौधो का उन्हे अत्यन्त सूक्ष्म परिचय था। कही-कहीं उनका यह परिचय नाम-गणना की लम्बी सूचियों मे प्रकट हो गया है किन्तु अधिकाश स्थलो पर जहाँ वह काव्य संतुलन को नहीं भूल सके हैं, रचना बडी मार्मिक और हृदयस्पर्शी हुई है। नगरो के जीवन से दूर ग्रामों, उसके चारागाहो, नदी के कछारों और वनो की प्राकृतिक विविधता 'भक्त जी' के काव्य मे बडी ताजगी के साथ प्रस्तुत हुई है। इसीलिये 'आचार्य शुक्ल-जी' ने 'अर्थ भूमि के सक.च', 'बँधी लकीर के वादों' एवं 'प्रेम गान की परिपाटी' से आगे बढकर 'प्रकृति प्रागण के सचराचर प्राणियो के रागपूर्ण परिचय' 'विविध विषयो पर आत्मीयता व्यजक दृष्टिपात' एव 'सुख-दु ख में उनके साहचर्य की भावना को' विकास देने वाले तत्कालीन कवियो मे भक्त जी को गौरव के साथ स्मरण किया है।

'नूरजहाँ' का कवि हठीली-सलोनी भोली बालिका के रूप पर ऐसा रीझा कि अपनी वैयक्तिक अनुभूतियो की गहराई मे उतर कर भी उसे न भूल सका। प्रकृति के मनोरम वातावरण मे कोयल की कूक के साथ ही किसी के साहचर्य के कारण कवि के हृदय मे भी अप्रकट हूक उठी थी जो अभावजन्य स्मृति के कारण सस्वर कविता की वाणी मे फूट पडी :

फिर बोल उठी कोयल कू! कू!
फिर बोल उठी कोयल कू! कू!

दिन थे हम दोनों होड़ लगा पंचम के स्वर में गाते थे।
दे मींड़ सरित की लहरों पर तारों से तार मिलाते थे॥
हम भी रसाल की डालों पर चढ़ आमों में छिप जाते थे।
हम तेरे आम चुराए बिन ही चोर बनाए जाते थे॥

तू दाँव न देकर चली गई जब गई हमारे हाथों छू।
फिर बोल उठी कोयल कू ! कू ? फिर · ·· ·   ·· · ···।।
जब चातक प्यासा चिल्लाता फूलों में ओस टपकती थी।
सरिता जल मे जुग जुग करते तारों की ज्योति चमकती थी।।
विरहाकुल की गति बरबस ही बढ़ती थी, कभी ठमकती थी।
आशा के स्वप्नों में विभोर जब मेरी आँख झपकती थी।।
अंगुली के बल आ दबे पाँव तब नयन किसी के पड़ते चू।
फिर बोल उठी कोयल कू ! कू ! फिर...···   ··· ·   ·· ।।

वेदनामय भावो की तीव्रता, स्मृति का वेग, सहज एव स्वाभाविक चित्राकन तथा प्रकृति के अतीत-वर्तमान भावात्मक एवं स्थूल मनोहारी दृश्यो का जो समन्वित रूप 'भक्त जी' की एक ही कविता मे सम्भव हो सका है उससे उनकी लेखनी की शक्ति का परिचय मिल जाता है। प्रत्यक्ष को सामने रखकर अप्रत्यक्ष की ओर देखना तथा वर्तमान के साथ ही साथ समानधर्मा चित्रो को स्मृति के माध्यम से चित्रित करते जाना 'भक्त जी' की अपनी विशेषता है। सूक्ष्म और स्थूल का यह समन्वय ऐसा ही मोहक है जैसा कि लहरो पर का तैरता हुआ सगीत। 'शरद पूनो' शीर्षक का एक अश कथन की सत्यता को प्रभाणित करने के लिए पर्याप्त है .

आज है शरद्पूर्णिमा रात।
आज है शरद्पूर्णिमा रात।
डूब गया राधा के रँग में श्याम गगन का गात।
श्याम सलोना कृष्ण अम्बुनिधि रसमय मधुबन करके,
निज हिय मे उतार नभ-शशि को मृदुल अंक में भरके,
विविध रूप धर लोल लहर मे शशि किरणों संग नचता,
स्वर वंशी पर हृदय-ताल पर आज रास है चलता।
रास देख यह याद आ गई कोई भूली बात।।
आज है शरद पूर्णिमा रात।

बिम्ब-ग्रहण की अद्भुत क्षमता 'भक्त' जी को मिली है जिसके लिये न तो उन्होंने काव्य के विहित सिद्धान्तो का अनुसरण किया है और न

शब्दजाल के निर्माण का द्रविण प्राणायाम ही। 'भक्त' जी मूलत' 'प्रकृति' के कवि है क्योकि उनका मानवीय प्यार भी तो उसी की गोद मे उत्फुल्ल हो पाता है। 'पत' जी की प्रकृति और 'बाले तेरे केशजाल' विषयक द्विविधा को 'भक्त जी' के यहाँ स्थान नहीं क्योंकि वे प्रकृति को सर्वोपरि समझते है और सबको प्रकृति सुषमा को दिल खोलकर अंकस्थ करने का सन्देश देते है। 'मधुऋतु' नामक अपनी कविता मे उन्होने धरती के अंक और सुन्दरता के आलम्बन रूप मे तो चित्रण किया ही है, साथ ही साथ मानव जीवन पर उसके पडनेवाले प्रभावों का भी सजीव भावुकतापूर्ण वर्णन किया है। कवि का विश्वास है कि कुसंस्कार अन्य सामाजिक दुराव-छिपाव को मिटाकर स्वस्थ एवं सुखद जीवन का निर्माण यदि कही हो सकता है तो प्रकृति की गोद मे ही·

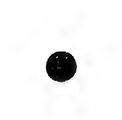
मिलो सब तोड़कर बन्धन यही तो प्यार के दिन है।
रसवंती ने करवट बदली मधुऋतु हँसती आई।
स्नेह भरे दीपक की बत्ती हिमकर ने उकसाई।
सकुच लाज लघु सीमा तजकर संयम से टकराया।
पोर-पोर रस भरी ऊख अब, नव यौवन गदराया।
इन्हीं खेतों की दुनियाँ में चलो अभिसार के दिन हैं।
मिलो सब तोड़कर बंधन यही तो प्यार के दिन हैं॥

... .

आज माँग लो हम से सब कुछ तन मन धन दे डालूँ।
जो कुछ भी मै करूँ याचना, चुपके से मैं पा लूँ॥
युग की स्वतंत्रता कहती बंधन सारे तोड़ो।
सरिता की बहती बाहों को, कूल बाँह में मोड़ो॥
यही दिन है समर्पण के हृदय की हार के दिन हैं।
मिलो सब तोड़कर बंधन यही तो प्यार के दिन है॥

विस्तृत अर्थ भूमि पर स्वाभाविक स्वच्छन्दता का मर्म पथ ग्रहण कर चलनेवाले कवियों मे भक्त जी का ऐतिहासिक महत्व है।

'भक्त' जी की भावधारा मे एक अगूरी मादकता है। स्वच्छन्द आवेग अपनी सहज उष्मा के साथ उनकी कविताओं मे अभिव्यक्त हुए है। इस सहज भाव विस्तार मे कहीं भी दर्शन और विचार रूढ़ियो की गाँठ नहीं है। समस्त भाव-विस्तार के पीछे कवि का एक फड़कता हुआ स्वच्छन्द व्यक्तित्व विद्यमान है। उनके विक्रमादित्य नामक प्रबन्ध काव्य मे भी उपर्युक्त विशेषताएँ देखी जा सकती हैं।



द्वितीय उत्थान

स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान के कवियों में डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री भगवतीचरण वर्मा, 'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा के नाम प्रमुख हैं। इन कवियों ने स्वच्छन्दतावाद के प्रथम उत्थान के कवियों मे आए हुए रहस्यात्मक तत्व और अस्पष्ट भाव-वर्णन के विरुद्ध एक विद्रोह किया था। इन्होने मानव-सुलभ भावों और तीव्र अनुभूतियो को उन्मुक्त रूप से अपने काव्य मे स्थान दिया। मानव का प्रेम और उसकी वासना भी नि:संकोच भाव से इनकी कविताओं मे प्रकट हुई। नारी के प्रति सहज आकर्षण को इन्होंने लज्जा, गोपन अथवा सुसंस्कृत बनाकर व्यक्त करने की प्रणाली से भिन्न स्वच्छन्द रूप मे लिया। इसलिए इनके प्रेम मे अशरीरी वायवीयता और सूक्ष्म कल्पना के स्थान पर मासलता तथा शारीरिकता की प्रधानता भी है।

रामकुमार वर्मा

डा० रामकुमार वर्मा स्वच्छन्द काव्य के 'द्वितीय उत्थान' मे आते है। छायावादी कविनाओं के क्षेत्र मे उनका नाम जयशंकर प्रसाद, 'निराला', 'पन्त' और महादेवी जी के बाद सादर लिया जा सकता है। रहस्यवाद के कवियों मे ये महादेवी के बाद ही स्मरण किए जाएँगे। समीक्षण, अनुशीलन एवं चिन्तन उनकी काव्य-प्रवृत्ति की एक प्रमुख विशेषता है। 'वीर

हम्मीर', 'कुल-ललना', 'चितवन' प्रारभिक रचनाएँ है। 'चित्तौड़ की चिता' एक ऐतिहासिक कथानक वाला प्रबन्ध है। 'अभिशाप', 'अंजलि', 'रूप-राशि' 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' और 'आकाश गंगा' इनके स्फुट गीत-संग्रह एवं 'एकलव्य' इनका महाकाव्य है। 'चित्ररेखा' पर 'देव-पुरस्कार' तथा 'चन्द्रकिरण पर 'चक्रधर पुरस्कार' मिले है। इनके गीतों का कथ्य चिन्तन के आलोक से प्रोद्भासित होता है। लगता है, कवि ने मनन और अनुशीलन के साथ अपनी अनुभूतियो पर निदिध्यासन किया है, इसी से उनकी अनुभूतियो की रीढ-स्वरूप आदि से अन्त तक गीत के भीतर एक दार्शनिक चिन्तन का सूत्र विस्तृत होता है। यही कारण है कि उनके चित्रों मे क्लिष्ट चित्र-सकुलता न होकर स्पष्ट-बिम्बता होती है, उदाहरणार्थ निम्न पक्तियो की स्पष्ट-चित्रता प्रस्तुत है :

"मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
चरण में लिपटा हुआ करता रहूँ चिर वास।"

इस चिन्तन ने संसार की सुख-दुःख-मयी नश्वरता की ओर भी उन्हें प्रेरित किया है :

"दया कहाँ है ? द्वेषित उसको
करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोष।
धूल हाय ! बनने ही को
खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने
ही का पहला रूप।"

नश्वरता के साथ दुःखवाद और क्षण-वाद का विषादी स्वर ही नहीं, जीवन के विरह-मिलन के प्रति भी श्री 'वर्मा' का ध्यान केन्द्रित हुआ है, अत. वे एकागी नहीं है—

"आज तुम्हारे उर से मेरे उर का नव शृङ्गार है;
बाहु-पाश का स्पर्श कंठ पर मानो पुलकित हार है।
मेरे उर में आज तुम्हारी चितवन का अभिसार है;
यह जीवन मधु भार है।"

मिलन-वियोग की रचनाओ मे चिन्तन के साथ कल्पना और भावना का आलेप भी परिलक्ष्य है। 'ओस के प्रति', 'ये गजरे तारों वाले', 'एकान्त गान' एव 'अजलि' कविताओ मे कल्पना का सुन्दर विलास एव भावुकता का मनोहर नर्त्तन है।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी खडी बोली के रहस्यवादी कवियों मे भी ऊँचे स्थान के अधिकारी है। महादेवी जी के रहस्य गीत भावुकता और कल्पना के पखो पर उडते है तो डा० वर्मा के रहस्यात्मक गीत चिन्तन के आलोक से सप्रभ है। हृदय मे ही कोई अनजान रूप से छिपा है :

"एक वेदना विद्युत-सी खिंच-खिंचकर चुभ जाती है,
एक रागिनी चातक स्वर में सिहर-सिहर गाती है !
कौन समझे समझावे गान !
छिपा उर में कोई अनजान !"

डा० वर्मा के गीतो पर कबीर के रहस्यवाद और अद्वैतवाद का पर्याप्त प्रभाव पडा है। कवि की प्रेमसाधना इसी से विराट् की भूमिका पर झलक मारती हुई दिखलाई पड़ती है। वह सारी सृष्टि से भी अनुभूत है :

"रवि शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह ?
मैं भूल गया हूँ कठिन राह।"

अपने ही सा वियोगी वह प्रकृति के उपकरणो को भी मानता है :

"इतना विस्तृत होने पर भी क्यों रोता है नभ का शरीर !
वह कौन व्यथा, जिस कारण है सिसका करता तरु में समीर ?"

वर्मा जी ने अपने रहस्यवाद को आधुनिक युगीन मनोविज्ञान की उपलब्धियों की भूमि पर विस्तीर्ण किया है, अत: वह कबीर की उलटबाँसी से भिन्न मनोवैज्ञानिक हो गया है। कदाचित् दार्शनिक गुत्थियों की इन्हीं उद्धरणियो के अभाव मे पुरातनवादियों ने इसमे अविश्वास भी व्यक्त किया है, पर यह रहस्यवाद मनोविज्ञान-सम्मत है। कवि कभी 'जलद-जाल' बनकर विश्व को सींचने की अभिलाषा भी करता है :

"मै आज बनूँगा जलद-जाल !"

'वर्मा जी अपने गीतों मे छोटे-छोटे चित्रो के सजाने मे बडे निपुण है। कभी रात को जुही-सी खिली और कभी चुम्बन-सी मीठी कहकर एक ससीम चित्र मे ही अरूप और अत्यन्त व्यापक सौंदर्य को मर्म-केन्द्रित कर देते है। अधिक को थोडे मे कसकर स्पष्ट अप्रस्तुतो और प्रतीकों के चयन से प्रभाव-वृद्धि मे बडी सहायता मिलती है :

उषा अभी सुकुमार क्षणों में
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज;

× × ×

दिन को क्यों लपेट लेती है
श्याम वस्त्र में रात?
और काँच के टुकड़े बिखरा
कर क्यों पथ के बीच
भूले हुए पथिक शशि को दुख
देता है नभ नीच?

डा० वर्मा के गीतों पर अभिव्यक्ति-पक्ष मे उर्दू की विरोधात्मक एव सम-तुल्य युक्ति-विन्यास की शैली का भी प्रचुर उपयोग हुआ है। इससे अभि-व्यक्ति मे बल आया है। डा० वर्मा ने कवीन्द्र रवीन्द्र का भी अध्ययन किया है। काव्य के दर्शन पक्ष पर डा० वर्मा की अटूट निष्ठा है, इसीसे उनकी पंक्तियाँ भावुकता से लुंजपुज नहीं, वरन् विचारों से सतेज है। उनकी कल्पना उनके चिन्तन के वृत्त से विलग नहीं, उससे सदैव अनुशासित है। उनके गीतों के गीतात्मक तत्वों एव सम्यक् सन्तुलन मे निरन्तर विकास हुआ है। आरम्भ के गीतो की भाषा किंचित् शुष्क और गद्यवत् भी लगती है, पर धीरे-धीरे उनमे कल्पना की मसृणता एवं अनुभूति की मेदुरता से माधुर्य एवं रंग-मयता बढ़ती गई है। 'निराला' का दर्शन बौद्धिक, 'प्रसाद' का भाव सहगत, 'पन्त' का कल्पना-प्रेरित, महादेवी का अनुभूति अनुगत और डा० वर्मा का दर्शन-पक्ष चिन्तन-प्रणोदित है। उसमे नवीन उद्भावना तो नहीं, पर प्राप्त सरणि पर ही कवि का आलोक-मय चिन्तन प्रमुख होता है।

गीतकार के साथ ही डा० वर्मा प्रबन्धकार भी हैं। यह प्रबन्धात्मक रुचि आरम्भिक ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर नहीं है, जिनमे राजपूती इतिहास तथा मुगल इतिहास प्रमुख है। यही प्रवृत्ति 'एकलव्य' नामक महा-काव्य मे परिस्फुट हुई है।

पीड़ा, दुःख, विषाद, निराशा और उल्लास—जीवन के सभी पक्षों का 'वर्मा' जी के गीतों मे मार्मिक चित्रण हुआ है। 'वर्मा' जी के गीत भाव, कल्पना, विचार और कला, किसी भी दृष्टि से अभावग्रस्त नहीं है, फिर भी चिन्तन का प्रकाश उनके गीतों की विभाजक विशेषता है। भाषा की दृष्टि से वर्मा जी विशुद्धतावादी दिखलाई पडते है। अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग ('बच्चन की भाँति) उनमे विरलतम और न्यूनतम है। प्रकृति के उपकरणों को उन्होने अपने काव्य मे उपादान-रूप मे सुन्दरता से ग्रहण किया है। अधिकाशत. उनके गीतो का प्रकृति-वर्णन रहस्यात्मक, मानव-भाव-रंजित और उद्दीपन-रूप मे प्रयुक्त हुआ है। स्वतत्र प्रकृति पर उनकी उक्तियाँ बहुत कम अथवा नहीं के बराबर है।

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा की वे कविताएँ जिनमे उन्होंने वियोगावस्था का वर्णन किया है, मानवीयता की भूमि पर अत्यन्त मार्मिक और विषादमय है—

होंठों पर नाच रहा था
मेरे वैभव का प्याला,
मै बना हुआ था साकी,
मैं ही था पीने वाला।
कोई कहता था विष है,
कोई कहता था हाला,
मै हँसता था मस्ती में
मेरा था रंग निराला

(प्रेम संगीत)

अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियो की भाँति वर्मा जी ने भी प्रकृति को प्रत्येक क्षण की सहचारी बना लिया है :

देखो वियोग की शिशिर रात !
दिन का रक्तांचल छोड़ चली।
ज्योत्स्ना की वह ठंढी उदास।
आँसू का हिम जल छोड़ चली॥

(प्रेम संगीत)

प्रकृति कवि के जीवन मे इस प्रकार घुल-मिल गई है कि प्रकृति के स्थूल-सूक्ष्म उपकरण उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम बन गए हैं। इसके अतिरिक्त 'वर्मा जी' की कविताओ मे कहीं-कहीं ऐन्द्रिकता और अश्लीलता के वर्णन भी मिल जाते है

यह तन्मयता की बेला है
यह है सँयोग की रात प्रिये।
अधरों से कह ले आज अधर
जी भर कर अपनी बात प्रिये।
सुख से सुरभित इन श्वासों में
कितना मधुमय उच्छ्वास भरा,
इन अलस अधखुली आँखों में
कितना मादक उल्लास भरा,
प्राणों का होगा आज मिलन,
कम्पित है पुलकित गात प्रिये !
तुम सम्मोहिनि, मै विसुध स्वप्न,
यह है सँयोग की रात प्रिये !

मनोवेग की तीव्रता के साथ-साथ कवि का शील और संयम भी बिगड़ता गया है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह अश्लीलता के निकट होकर चलने लग जाता है

तुम आदि प्रकृति, मैं आदि पुरुष,
निशि-वेला शून्य अथाह प्रिये !
तुम रतिरत, मै मनसिज सकाम,
यह अन्धकार है चाह प्रिये !

हम-तुम मिलकर के चलो सृज
सुख का अपना संसार यहाँ,
क्रीड़ा के शत-शत रंगों में
हो अपना ही अभिसार यहाँ!
ढक ले पृथ्वी, ढक ले अम्बर
जीवन का मुक्त प्रवाह प्रिये!
तुम अक्षय छवि, मै अमिट साध
यह अन्धकार है चाह प्रिये!



हरिवशराय 'बच्चन,

आधुनिक स्वच्छन्द काव्य की गीतिधारा को बच्चन ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। उनके समसामयिक कवियो ने विषय एवं रूप—सभी दृष्टियों से उनके काव्य से प्रेरणा प्राप्त की है। प्रेम की जिस मस्ती का शंखनाद बच्चन जी ने किया और सौन्दर्य की जो आकर्षक मधुमय धारा उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से बहाई उसमे कवि एवं सहृदय जिन्दादिल पाठक डूब गए। स्वच्छन्दतावाद के नाम पर परम्पराओ के प्रति जो जेहाद हिन्दी कविताओ मे बोला गया 'बच्चन' का स्वर उसमे सबसे ऊँचा रहा। आधुनिक युग के प्रथम खेवे के स्वच्छन्दतावादी कवियों की कुछ कविताओं को छोड कर वैयक्तिक अनुभूति एव महत्वाकाक्षा के प्रकटीकरण के क्षेत्र मे एक सामाजिक सीमा एवं मर्यादा का पालन सर्वत्र दिखलाई पडता है, पर कविवर 'बच्चन' की दृष्टि मे वह केवल आत्मप्रवचना एवं एक सामाजिक धोखा है। वे जो कुछ है उसे छिपा कर रखना उचित नहीं समझते जब कि दूसरे छिपाते है और यदि यह दुराव-छिपाव अब भी बना रहा तो हम परम्परावादी कवियों से आगे कहाँ? उनका कवि इसका अनुभव करता है कि अब भी समाज मे ऐसे लोग विद्यमान है जिनके सम्मुख खुलकर आने की हिम्मत स्वच्छन्दतावादी कवियों की नही पड रही है, पर 'बच्चन' की विद्रोही भावनाएँ उस अवाछित नियंत्रण को अस्वीकार कर देने को तैयार हो गई है—

वृद्ध जग को क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी?
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता।
शत्रु मेरा बन गया है
निष्कपट व्यवहार मेरा!
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा!

(मधुकलश)

स्वाच्छन्दतावादी कवियो की प्रेमपरक वैयक्तिक अनुभूतियाँ वासनामय ही रहीं पर वे आभिजात्य शैलीकारो के हाथों पडकर अपना स्वरूप खो बैठीं अथवा उनका संस्कार कर लिया गया। जिसमे महादेवी वर्मा सबसे आगे रहीं। इस संस्कार और परिष्कार से कलात्मकता तो आई है पर वह ताजगी नहीं रह पाई है जो 'बच्चन' की कविताओं मे अक्षुण्ण है।

हिन्दी काव्य जगत् मे 'बच्चन' का प्रवेश उनके काव्य संग्रह 'मधुशाला' से हुआ जो उनकी प्रथम प्रकाशित रचना है। फारसी के प्रसिद्ध हालावादी कवि उमर खैयाम की रुबाइयो की ओर उत्तरोत्तर बढते हुए आकर्षणों के कारण हिन्दी कविता मे भी एक नए जीवन का अंकुर फूटा। अंग्रेजी साहित्य के माध्यम से अनूदित होकर सन् १९२७–२८ के आस-पास 'सरस्वती' पत्रिका के द्वारा 'खैयाम' की रुबाइयों का उल्लेख हुआ जिसमे इतनी मादकता थी कि भावप्रवण कविहृदय तत्काल उससे प्रभावित हुए। भारतीय इतिहास का यह एक ऐसा समय भी था जिसमे राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों मे घोर निराशा का वातावरण छाया हुआ था जिससे इस मस्तीवाद को प्रसार पाने की अनुकूल भूमि भी प्राप्त हो गई। जीवन से निराश मानव साकी की अंगूरी दुनियाँ मे ही अपने गम को डुबाने जाता है। अभिव्यक्ति के दृढ आधार के अभाव मे तथा टूटते हुए विश्वासो की आकुलता मे ही तो निराशा के गीत लिखे जाते है। फलत: पद्मकान्त मालवीय, हरिवंश राय 'बच्चन', हृदयनारायण पाण्डेय 'हृदयेश' एवं बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि प्रमुख कवियों का झुकाव इस हालावाद की ओर हुआ, जिनमे 'बच्चन' अग्रणी रहे। उन्होंने 'खैयाम'

की कविता का रूपान्तर किया, उसकी समता पर मधुशाला, मधुबाला और मधुकलश आदि संग्रहों मे संगृहीत कविताओं की सफल रचनाएँ कीं। इसके अतिरिक्त 'बच्चन' के अन्य संग्रहों मे प्राप्त कविताओं का आधार नारी-आकर्षण है जिसमे वायवीय उड़ान की अपेक्षा मासलता अधिक है और उससे वासना की तीव्र गध आती है। इन कविताओं मे मानसिक जगत् मे चलने वाले प्रेम पर अनास्था और स्थूल मासलता के प्रति आग्रह व्यक्त किया गया है। 'बच्चन जी' प्रेम को केवल भाव-भंगियों के आदान-प्रदान तक ही नहीं सीमित रखना चाहते और न मात्र कायिक चेष्टाओं से व्यक्त किए गए प्रेम से ही उन्हे तृप्ति मिल पाती है, वे तो उसका प्रतिदान 'अधर-रसपान' के रूप मे ही चाहते हैं—

तब तक समझूँ कैसे प्यार,
अधरों से जब तक न कराए
प्यारी उस मधु रस का पान,
जिसको पीकर मिटे सदा को
अपनी कटु संज्ञा का ज्ञान,
मिटे साथ में कटु संसार,
तब तक समझूँ कैसे प्यार।

(आकुल अंतर)

ज्ञानी, कवि और प्रेमी सभी सौदर्य के पारखी एवं उसके ग्राहक होते हैं। "बच्चन' की दृष्टि से नारी सौदर्य का केन्द्र बिन्दु है तभी तो वे अपनी भावनाओं के साथ उसके आस-पास चक्कर लगाते दिखलाई पड़ते है। नारी वह तत्व है जो पुरुष के लिए आनन्द की सृष्टि करती है और जिसके नैकट्य से आनन्द की सृष्टि हो वही सौन्दर्य तत्व है—

मूढ़ो, मैने अब तक उसको
कभी नहीं सुषमा समझा
जिसके निकट पहुँचते ही
आनन्द नहीं मैंने पाया ?

(मधु कलश)

नारी कवि 'बच्चन' के लिए वह अमृत तत्व है जिसके द्वारा ही विश्वनियन्ता ने विष-पूरित जगत्-घट को आकर्षक बनाया है। जगत् में व्याप्त दुःख, विषमता एव अतृप्ति से कवि व्याकुल हो उठा है, जिससे ससार मे उसके लिए अब कोई आकर्षण नहीं रह गया है और इतने पर भी यदि काई आकर्षण शेष है तो वह नारी-सौन्दर्य जिसके लिए ही वह जी रहा है—

जगत-घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार,
लगाया उसके मुख, पर नारि,
तुम्हारे अधरों का मधुसार;

नहीं तो कब का देता तोड़
पुरुष विष-घट यह ठोकर मार,
इसी मधु का लेने को स्वाद
हलाहल पी जाता संसार।

एक ओर तो कवि नारी को सृष्टि का सारभूत अमृततत्व स्वीकार करता है और दूसरी ओर उसके आकर्षण से उद्भूत वेदनाओ का भी उल्लेख करना नहीं भूलता जिससे उसकी नारी के प्रति अस्वस्थ मासल दृष्टि स्पष्ट हो जाती है, जिसके अनुसार नारी पुरुष के लिए एक समस्या है, जिससे वह आनन्द और वेदना एक साथ प्राप्त करता है—

अभी तो हो न सकी थी पूर्ण
अधर की अधरों से पहचान,
हुआ था केवल पहली बार
चुंबनों का आदान-प्रदान,

कि होठों पर की पहली चोट
गरल ने उठ ऊपर की ओर,
गई, मानो विद्युत की धार
हृदय-तन-मन मेरा झकझोर।

तृषातुर अधरों से जिस काल
किया था मदिरा का आह्वान,
मुझे इसका था पूरा ज्ञान
गरल भी करना होगा पान;
मधुर ले, कटु को दूँगा छोड़
समझता, क्या था मूर्ख-गँवार,
हलाहल के स्वागत को किंतु
न था इतनी जल्दी तैयार।

(हलाहल)

इस प्रकार हम देखते है कि भावों के अनुरूप भाषा का स्वाभाविक निर्वाह, अनुभूतियो की कलात्मक व्यंजना एवं सहज स्वाभाविक आकर्षणो के प्रति की गई ईमानदारी कविवर 'बच्चन' को अपनी विशेषता है जिसके कारण वे समस्त आधुनिक गीतकारो मे अलग रह कर विशिष्ट स्थान के भागी बने। 'बच्चन' की मौलिकता उनकी रचनाओं मे प्रमाणित है। उन्होने अपने लिये नये मार्ग का निर्माण भी किया और उस पर चलकर मंजिल भी मार ली। परवर्ती गीतकारो ने 'बच्चन' का अनुकरण करना चाहा है पर वे उनके काव्य से प्रेरणा ही प्राप्त कर सके है, उस काव्य-परम्परा को आगे बढा नहीं सके है।

नारी की अगूरी मादकता में 'बचन' इतने अधिक रम गये है कि अपने रोमानी गीतो मे वे काव्य के अन्य विधायक तत्वो का प्रभूत मात्रा मे समन्वय तो नही कर पाये है, पर जहॉ कहीं उन्होंने उनका स्पर्श किया, उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है, इसमे सन्देह नहीं। प्रकृति को निज भावो के अनुरूप देखना स्वच्छन्दतावादी कवियो की प्रमुख विशेषता रही है। 'बचन जी' का भी अन्तर जब आकुल होता है तो उन्हे सर्वत्र प्रकृति मे दु:ख ही दु ख व्याप्त दिखलाई पडता है :

लहर सागर का नहीं शृंगार,
उसकी ि-कलता है,
अनिल अम्बर का नहीं खिलवार,
उसकी विकलता है;

विविध रूपों में हुआ साकार,
रंगों से सुरंजित;
मृत्तिका का यह नहीं संसार,
उसकी विकलता है।

(आकुर अन्तर)

इस प्रकार उन्हे सर्वत्र विलकता ही विकलता दीख पडती है जो उनके ही अन्तर की छाया है। कुल मिलाकर 'बच्चन' का काव्य मिलन-काल मे बिछुड़न की आशंका और नारी के स्थूल एवं मासल सौदर्य की अतृप्ति से ओतप्रोत है। विचारों और भावों का समन्वय उन्होंने अत्यन्त कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है पर उनमे स्थूलता के दर्शन हो ही जाते हैं :

आज सजीव बना लो प्रेयसि !
अपने अधरों का प्याला।
भर लो-भर लो-भर लो इसमें,
यौवन मधुरस की हाला।
और लगा मेरे अधरों से
भूल हटाना तुम जाओ।
अथक बनूं मैं पीने वाला,
खुले प्रणय की मधुशाला।

(मधुशाला)

विषय एवं रूप को लेकर कविता के क्षेत्र मे इधर जो नये-नये प्रयोग किये जा रहे हैं उनका प्रभाव 'बच्चन' की बाद की लिखी जाने वाली कवित्ताओं पर भी पड़ा है।

नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा भाषा के क्षेत्र में सुमित्रानन्दन पन्त के अनुयायी होते हुए भी भावों के क्षेत्र मे 'पन्त' से अधिक स्पष्ट मानवीय और मासल हैं। "कर्णफूल', 'प्रवासी के गीत', 'प्रभात फेरी' आदि संकलनों की रचनाएँ

जहाँ एक ओर रहस्यात्मक सूक्ष्मता से भिन्न हैं वहीं दूसरी ओर नारी के सौंदर्य के प्रति सजग, संवेदनशील ऐंद्रिक भी :

प्रिये अभी मधुराधर चुम्बन गात-गात गूँथे आलिंगन।
सुने अभी अभिलाषी अन्तर मृदुल तरंगों का मृदुकंपन॥

(प्रभात फेरी)

नारी सौदर्य की स्थूलता के प्रति आग्रह तो नरेन्द्र शर्मा की कविताओं मे मिलता है पर उनमे उद्दाम वासना से उद्भूत पौरुष की उतनी छटपटाहट नहीं जितनी कि निराशा, हाहाकार और परवशता है :

आयगा मधुमास फिर भी,
आयगी श्यामल घटा घिर।
आँख भर कर देख लो,
यह मैं न आऊँगा कभी फिर॥
प्राण तन से बिछड़कर कैसे मिलेंगे।
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे॥

... ...

'कब मिलेंगे ?' पूछता जब विश्व से मैं विरह कातर,
'कब मिलेंगे ?' गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योमसागर,
कब मिलेंगे ? प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

(प्रवासी के गीत)

संध्याकालीन परिवर्तन के कारण प्रकृति जैसा रूप धारण करती है उसका एक सजीव चित्र 'शर्मा जी' ने तो खींचा ही है, साथ ही साथ उन्होंने विरही की अनुभूतियों की साकार प्रतिभा के रूप मे भी उसे देखा है। भावों के माध्यम से विराट् चित्रों के निर्माण मे द्वितीय उत्थान के कवियों में नरेन्द्र शर्मा को अपेक्षाकृत सफलता अधिक मिली है :

साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी ?
क्या किसी की याद आई, ओ विरह व्याकुल प्रवासी ?

... .

जल प्रिया की याद में जल, चिर-लगन बनकर प्रवासी।
स्नेह की बन ज्योति जग में, दूर कर उर की उदासी।

(प्रवासी के गीत)

रहस्यात्मकता से प्रभावित होकर जब 'शर्मा जी' चाँदनी को देखते है तो उनके मन मे एक जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वे अनुभव करते है कि विराट् सत्ता का अप्रकट सौदर्य ही आज चाँदनी मे बिखर पडा है, पर उनका यह भाव अधिक देर तक नही टिक पाता और उनमे वे किसी के दृगों को याद करने लग जाते है जिसके बिछोह का दुख उन्हे सहन करना पड रहा है :

बिम्ब किसका, ज्योति किसकी, आज रवि के शशि मुकुर में।
बहुत दिन के बाद फिर आह्लाद कवि के मौन सुर में।
कौन सी सम्मोहिनी, जिससे धरा चुपचाप सुनता—
आज छन-छन आ रही जो जीर्ण तरु-से भग्न उर में ?

. . ...

उन दृगों की याद क्यों आई मुझे इस चाँदनी में ?
थी कभी सुख-शान्ति जो, वह अब नहीं इस चाँदनी में।
विवशता की याद आई, लपट उट्ठी धुआँ उमड़ा,
आज जग में चाँदनी है, मै नही पर चाँदनी में।

(प्रवासी के गीत)

इस प्रकार ऐहिक सौदर्य की तीव्रानुभूति के कारण कवि प्राकृतिक सुषमा मे भाव-विभोर नही होने पाता। यहाँ आकर नरेन्द्र शर्मा की अभिव्यक्ति 'पंत' से अधिक स्पष्ट और ऐहिक हो जाती है।



तृतीय उत्थान

इसका सकेत ऊपर किया जा चुका है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य की छायावाद एक प्रमुख प्रवृत्ति है। द्विवेदीयुगीन स्थूल वस्तुपरकता, गद्यात्मक बाह्यात्मकता और रुक्ष नीतिमत्ता के विरुद्ध आधुनिक युग मे जो स्वच्छन्दतावादी चेतना प्रोद्भासित हुई, हिन्दी-साहित्य मे उसे छायावाद का नाम प्रदान किया गया। इस काव्य की अति सूक्ष्मता, आभ्यनतरिकता एव उपचार वक्रता ने उस समय के पाठकों को जिस छायात्मकता की अनुभूति का आभास दिया, उसने ही इस काव्य-प्रवृत्ति के छायावाद नाम को चरितार्थता प्रदान की थी। यही सूक्ष्मता गहनतर होकर रहस्यवाद के आध्यामिक स्तर पर पहुँची। **श्रीमती महादेवी वर्मा** एवं डा० **रामकुमार वर्मा** जिसके ज्वलत प्रतीक है। इस काव्य धारा के भीतर निहित लौकिक तथा मानववादी वर्मा के बाद **श्री भगवतीचरण वर्मा**, **श्री हरिवंश राय बच्चन** एव **नरेन्द्र शर्मा** के काव्यों मे अभिव्यक्ति पाई। किन्तु इन कवियों के भीतर छायावादी सकुल सूक्ष्मता के दूसरे छोर स्थूलता, नग्नता एवं अतिप्रत्यक्षता तक खिंच आए। अतिसूक्ष्मता एवं अतिप्रत्यक्षता के इन दोनो छोरों के बीच हिन्दी खड़ी बोली-गीतधारा की एक संतुलित एव सहज अभिव्यक्ति प्रकट हुई, जिसे आलोचको ने छायावाद के तृतीय उत्थान का नाम दिया है,[1] किन्तु मै इसे 'छायावादोत्तर मानववादी गीतधारा' अथवा 'नव्य स्वच्छन्दतावाद' का नाम देना अधिक

१—छायावाद की काव्य साधना—प्रो० क्षेम।

उपयुक्त समझता हूँ क्योंकि यह धारा छायावाद का क्षयकालीय रूप नहीं, उसका एक सहज-सतुलित अङ्ग-विकास है। छायावादी सर्जना के अंतिम छोर पर दो धाराएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं—पहला, छायावादोत्तर 'नव्य स्वच्छन्दतावादी गीतिकाव्य' और दूसरा 'प्रगतिवाद।' नव्य स्वच्छन्दतावादी गीति परम्परा छायावादी कविता की ही एक विशेष प्रकार की विकास यात्रा है जो अपने समस्त शिल्पगत चारुत्व वायविक मार्दव के बावजूद अपने कथ्य मे लगभग अमौलिक तथा अपनी पूर्ववर्ती परम्परा की अनुकृति मात्र है। यह धारा किसी न किसी रूप मे आजतक प्रवाहित है और इसमे इधर के दिनो मे कुछ एक अच्छी रचनाएँ भी सामने आई है। इस दिशा मे **रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन', भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्रशर्मा, रमानाथ अवस्थी, शम्भुननाथ सिह, गिरधरगोपाल, प्रो० क्षेम** के अतिरिक्त **उमाकान्त मालवीय, शिशुपाल सिंह 'शिशु', गोपाल सिंह 'नेपाली', 'नीरज', विद्यावती 'कोकिल', रामेश्वरीदेवी 'चकोरी'** आर **सुभद्राकुमारी चौहान** आदि के योगदान विशेष महत्व रखते है। स्वछन्द या छायावादी कविता से यह धारा कुछ अर्थों मे भिन्न है।

छायावाद अथवा स्वच्छन्दतावाद का अपना एक लक्ष्य था—'विराट् मानव का अन्वेषण।' इस काव्य धारा मे प्रस्तुत 'विराट् मानव' का स्वरूप उपनिषदों के 'अहं ब्रह्मास्मि', पौराणिक आदर्शवाद, बुद्धदेव की करुणा, प्लेटो के सत्यं-शिवं-सुन्दरं तथा प्रभाव-रूप मे अशत. पश्चिमी स्वच्छन्दतावादी कवियों की काव्य-चेतना से रचित था, जिसे कल्पना के नेत्रो से देखने, छाया की तूलिका से चित्रित करने की चेष्टा की गई थी। साथ ही, समकालीन दासता-जन्य विषम स्थितियों को चुनौती देने के भाव भी उस 'मानव' मे विद्यमान थे, पर बन्धन न तोड़ पाने की विवशता-जन्य यन्त्रणा-पीडा के स्वर भी बार-बार सुने जाते थे। नवता की इस प्रवृत्ति ने बंगाल को सर्वप्रथम आन्दोलित किया था और वहाँ से यह प्रवृत्ति हिन्दी काव्य मे आई थी। इस खेवे के कवियों के संकल्प मे तो समानता रही पर दृष्टि मे पर्याप्त भेद देखने को मिलता है। **जयशंकर प्रसाद** ने उस 'विराट् मानव' की खोज सुदूर अतीत के इतिहास मे की जिसे 'मनु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि चरित्रों में अभिव्यक्ति मिली है। 'निराला जी' का अन्वेषण 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' में पूर्ण हुआ। **महादेवी** ने प्राचीन भारतीय अध्यात्मवाद तथा दर्शन-ग्रन्थों मे उस व्यक्तित्व के दर्शन

किए। 'नीरजा', 'दीपशिखा' जैसी उनकी रचनाओं को प्रमाण-स्वरूप देखा जा सकता है। सुमित्रानन्दन पंत ने निसर्ग से उस 'विराट' का परिचय प्राप्त किया। छायावादी काव्यधारा की समाप्ति तक यह स्थिति बदलती जान पड़ती है। इन कवियों की चर्चा प्रथम उत्थान के अन्तर्गत की गई है जिससे इस स्थान पर उसे विस्तार देना मैं समीचीन नहीं समझता। नव्य स्वच्छन्दतावाद मे 'विराट्-मानव' के स्थान पर 'अह-ग्रस्त' मानव के सीमाबद्ध सवेदनो की अभिव्यक्ति हुई और किसी-किसी गीत-कार में वह 'निरंकुश होकर की और ही अग्रसर होती है। 'हाला', 'प्याला', 'मधुशाला' मे इसका साक्ष्य मिल सकता है।[1]

इस गीतधारा के उन्नायको मे डा० शम्भुनाथ सिंह, कविवर 'नेपाली' एवं प्रो 'क्षेम' प्रमुख है। इन्ही लोगों के साथ एक ओर जानकीवल्लभ शास्त्री एवं हंसकुमार तिवारी तथा दूसरी ओर सर्वश्री गिरधर गोपाल, रमानाथ अवस्थी एवं 'नीरज' आदि भी हैं। श्री शास्त्री जी मे रवीन्द्र एवं निराला का सूक्ष्म संगुम्फन अपेक्षाकृत अधिक है और गिरधर गोपाल, अवस्थी एवं नीरज मे बच्चन के काव्य के क्रमशः 'ज्वलन-वादी', 'सुखवादी' एवं 'मरणवादी' तत्वों का प्राधान्य है। इसी दृष्टि से इन पंक्तियों के लेखक ने छायावादोत्तर 'मानववादी गीतधारा' के विशिष्ट कवियों के विवेचन पर विशेष बल दिया है।

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के प्रथमोत्थान के कवियों के अन्तिम चरण काव्य मे चले आते विभिन्न वादो के बोझिल तत्वों के कारण डगमगाने लगे और उनमे परिवर्तन इतनी तेजी से उपस्थित होने लगे कि उनके एक निश्चित रूप की परख करना अत्यन्त कठिन हो गया। काव्य-धारा के पीछे सामाजिक और राजनीतिक चेतना जो शक्ति के रूप मे स्पन्दित रहती है, उसके कारण ही सामाजिक और राजनीतिक विश्वासों के परिवर्तन के साथ-साथ काव्य-विषयो एव रूपो मे भी परिवर्तन होता रहता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व का राष्ट्रीय आन्दोलन विदेशी शक्तियों से लोहा लेने की दिशा मे केन्द्रीभूत हो गया था और देश की अधिकाश जनता एकोन्मुख होकर एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही थी, पर स्वतत्रताप्राप्ति के पश्चात् की स्थिति वैसी नहीं रह पाई और वैसा रहना सभव भी नहीं था क्योंकि अब

१— हिन्दी साहित्य एक परिचय, द्वितीय संस्करण (लेखक की ही दूसरी कृति)।

त्याग का प्रश्न नहीं बल्कि भोग का सवाल था, जो थोड़े लोगों के बीच सुलझी हुई प्रश्नावली बनकर रह गया था। नव-निर्माण का एक नया राजनीतिक नारा अवश्य सामने आया पर उसके सम्बन्ध मे सभी एकमत नहीं हो सकते थे। शासक वर्ग ने उसे अपनी ढाल और विरोधियों ने उसे तलवार के रूप मे ग्रहण किया। अब इसकी उपयोगिता का निर्णय करना जनता अथवा तटस्थ लोगो पर आ पडा था। जिसके कान दलगत प्रचारो से भरे जा रहे थे जिसमे साहित्यकार पीछे नहीं रहे। जिस प्रकार असंतुष्ट काग्रेसी समाजवादी, प्रजासमाजवादी तथा साम्यवादी पार्टियो मे चले आए उसी प्रकार स्वच्छन्दतावादी कविगण भी समय की माँग के साथ-साथ प्रगतिवादी, प्रयोगवादी तथा नई कविता के नाम से चल पडी काव्य-धारा की ओर टूटते गए। कुछ ऐसे कवि भी मिल जाएँगे जिन्होने काव्य की लम्बी उम्र पाई है और वे उसके बदलते हुए मूल्यों के साथ स्वयं भी बदलते गए है। उदाहरण-स्वरूप **श्री सुमित्रानन्द पंत** का नाम लिया जा सकता है। इस प्रकार साहित्यिक वादों का ऐसा घाल-मेल मचा कि सहसा कविताओं का वर्गीकरण कर पाना कठिन हो गया। इस प्रकार तृतीय उत्थान मे आकर प्रयोगो की धूम मच गई और हम देखते है कि एक निश्चित काव्य परम्परा खडी भी नहीं हो पाई कि दूसरी ने उसका गला दबाकर उठ खडी होने की चेष्टा की। द्वितीय उत्थान प्रौढता की ओर बढ ही रहा था कि प्रगतिवाद ने उसे धर दबाया क्योकि प्रथम उत्थान की कोमलता में ही उसके अकुर कठोर हो चुके थे और वह भी पूर्ण रूपेण जवान नहीं होने पाया था कि प्रयोगवाद आ धमका। प्रयोगवाद कूडा-कर्कट इकट्ठा करके हरियाली का स्वप्न देखने का उपक्रम ही कर रहा था कि अनुकूल भूमि पाकर नई कविता का एक स्रोत बह निकला जिसमे अपेक्षाकृत स्वच्छन्दता के भाव उग्र रूप मे वर्तमान थे, यद्यपि बौद्धिकता की इसमे भी कमी नहीं थी। जिस प्रकार अभागा पिता जीवन काल मे ही पुत्र शोक को निरुपायता मे सहन करता ही है, उसी प्रकार इन कवियों और उनके समर्थको ने भी अपने जीवन काल मे ही अपनी प्रचारित कविताओ का निर्वाण हृदय थाम कर देखा है। इन विभिन्न वादों की शक्ति और उपयोगिता का निर्णय समय ने ही कर दिया। काव्य सौदर्य की स्थिरता और अस्थिरता का सच्चा निर्णायक काल ही होता है।

पिछले दो दशकों से जो कविता के पैर टिकने नही पा रहे थे और वह अपने स्थिर मूल्य निर्धारण के लिये अनुकूल भूमि की तलाश मे जो इतनी

भटक रही हैं, इसके लिये देश की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ ही उत्तरदायी है। सामाजिक विकास की गति के साथ ही साथ साहित्य का विकास होता है। आधुनिक काव्य का विकास जिस सामाजिक परिस्थिति मे हो रहा है, उसके विकास एवं परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत पर्याप्त तीव्र रही। नित्य नये परिवर्तन सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करते जा रहे हैं जिससे उसके अभिव्यक्ति के माध्यम—काव्य-रूपो मे भी परिवर्तन का आना स्वाभाविक ही है। "गतिमत्ता ही युग की विशेषताओं की परिचायिका है। हिन्दी कविता अपने उदय एवं विकास काल मे जिस समाज के बीच से होकर अपनी प्रगति के पथ पर बढ रही थी, वह युग अधिक से अधिक अश्व की पीठ पर बैठ कर दौड रहा था, पर आज का युग धरती का आँचल छोड चुका है और वह मन की गति की भाँति जेट विमानो से आगे बढ़ता हुआ नक्षत्रो की परिक्रमा करने चल पडा है। सभी भौतिकवादी दिशाओं मे प्रगति अत्यन्त तीव्र गति से हो रही है और किसी भी एक स्थिति का स्थिर रहना कठिन हो गया है जिससे मानव के ज्ञान-विज्ञान का परिवेश भी जल्दी-जल्दी आगे बढ़ता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे साहित्यकार युग की माँग को ठुकराकर अपने को पीछे कैसे छोड़ सकता है? साहित्यकार का अनुभव क्षेत्र भी युग की प्रगति के साथ उत्तरोत्तर बढता जा रहा है।"[1] ऐसा लगता है कि युग का वैविध्य काव्य की सीमा मे नहीं समा पा रहा है जिसके लिये गद्यकाव्य एक सुन्दर विकल्प रूप मे वर्तमान है। साहित्य की यह बीसवी शताब्दी विज्ञान की शताब्दी है जिसमे हृदय की अपेक्षा बुद्धि का प्राधान्य है, भावुकता एवं कल्पना की अपेक्षा तर्क और यथार्थ पर विशेष बल दिया जा रहा है। विज्ञान की प्रगति के कारण धरती छोटी हो गई है, प्रकृति-निर्मित अलघ्य सीमाएँ टूट चुकी है और किसी भी देश की राष्ट्रीयता अन्तरराष्ट्रीयता मे बदल चली है। विश्व के सभी नागरिक परस्पर एक दूसरे से प्रभावित हो रहे है। 'मार्क्स' और 'फ्रायड' ऐसे युगचिंतको ने लोगो को नए सिरे से सोचने के लिए विवश कर दिया है। सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन आने अनिवार्य थे। इस विषम परिस्थिति मे 'स्वान्त. सुखाय' को एक मात्र आदर्श मान लेना कवियो के लिये कठिन था। गद्य की बढती हुई शक्ति एव लोकप्रियता को दृष्टिपथ मे रखते हुए काव्य-रूपो मे परिवर्तन अनिवार्य हो गया क्यो कि यहाँ पहुँच कर उसके अस्तित्व पर भी प्रश्नवाची चिह्न लगने लग गया था। प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, एवं नई कविता के प्रति आग्रह इन्ही सामाजिक एवं राजनीतिक

---

१ हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद—तृ० स० पृ० ३८८

परिस्थितियों की देन है, परिवर्तन की भावना जिनके मूल मे विद्यमान है, चाहे वह विषयगत हो अथवा स्वात्मगत। स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के मूल मे भी परिवर्तन की ही भावना कार्य करती है। अतः किसी न किसी रूप मे विभिन्न वादों के माध्यम से स्वच्छन्दतावादी काव्य धारा का विकास ही हुआ है। वर्गविशेष एव सिद्धान्त विशेष के आग्रह के कारण ही काव्य की ये नई प्रकृतियाँ अलग सी दिखाई पडती है पर वास्तव मे उनका आत्मा में कोई भेद नही है। यह भिन्नता ऊपरी शरीरगत है, जिसमे ढलकर उसे परिवर्तित होना पडता है। इसकी चर्चा सुविधानुसार आगे की जायगी।

छायावादोत्तर प्रगतिवादी काव्य-धारा

सन् १९३६ मे ही लखनऊ मे स्व० प्रेमचन्द के सभापतित्व एवं मुल्कराज आनन्द जैसी प्रतिभाओं के सहयोग से 'प्रगतिशील लेखक सघ' (प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन) की स्थापना हुई। मार्क्स का 'द्वन्द्वात्मक भौतिक दर्शन' एव उसके प्रकाश मे की गई समूची मानवता के सामाजिक विकास और इतिहास की आर्थिक व्याख्या (दि इकानामिक इन्टरप्रिटेशन आव हिस्ट्री) विश्व के विचार-चिन्तन की जगह एक अविस्मरणीय महत्व रखती है। मार्क्स ने हीगेल की अध्यात्म-मूलक सृष्टि-व्याख्या के आदर्शवादी दर्शन को 'शिर के बल' से उलट कर 'पाँव के बल' पर खड़ा कर देने का दावा किया। सम्पूर्ण विश्व मानव-चिन्तन मे सामान्य जन-समूह, श्रमजीवी बहुमत समाज और शोषित 'सर्वहारा' मानवता का प्रथम बार विश्व-विकास की प्रक्रिया मे महत्तम साझीदार घोषित किया। उसने हीगेल जैसे पाश्चात्य दार्शनिको और उसके पूर्व पूर्वेशिया और भारत के आदर्शवादी आध्यात्मिक दर्शन और 'आत्मा' की सर्व-श्रेष्ठता अथवा अद्वैतता के दर्शन को अस्वीकार करते हुए कहा कि विश्व का विकास आत्म-तत्व या विचार (आइडिया) से न होकर 'रयी', 'द्रव्य' अथवा 'भूत (मैटर) से हुआ है। आदर्शवादी दार्शनिक मानता है कि सृष्टि का विश्व-रूप मूलतः और प्रथमत. 'आत्म-तत्व' से विकसित हुआ जो एक मात्र सत्य है तथा यह भौतिक जगत् उसके विकरण का विकृत परिणाम है, जबकि मार्क्स और उसके समानधर्मा ऐन्जेल्स ने कहा कि 'भूत' तत्व ही प्राथमिक तत्व है और 'आत्मा' (आइडिया) इसका पश्चाद्वर्त्ती परिणाम है। इस प्रकार आदर्शवादी विचारक व्यक्ति-विशेष, महापुरुष और महात्माओ की भूमिका को महत्व देते हुए ईश्वर, परमात्मा अथवा ब्रह्म को एकमात्र सत्य

और सर्व-कर्ता-धर्ता मानता है, जब कि भौतिकवादी मार्क्स का निष्कर्ष है कि विश्व की मूल रचनात्मकता का श्रेय उस जन-समूह (मॉस) को है जो अब तक उपेक्षित, शोषित, और पीड़ित ही रखा गया है और उसके श्रम-स्वेद से ही जीवन तथा संस्कार की समस्त विभूतियाँ साकार हुई और होती है। उसने 'श्रम' को एक मात्र 'मूल्य' (वैल्यू) माना और उसमे भी, शारीरिक श्रम को सर्वोपरि और मानसिक बौद्धिक श्रम को द्वितीयक (सेकेंडरी) स्थान दिया। मार्क्स अर्थ-शक्ति (इकॉनामिक पॉवर) को ही सर्व-सत्ता-निर्धारक और अर्थ शक्ति-सम्पन्न वर्ग को ही समाज मे वास्तविक सत्ता का प्रभु कहा। श्रम ही समस्त उत्पादनो का मूल है, किन्तु श्रमिक उसकी आर्थिक इतिहास-व्याख्या मे सर्वत्र और सदैव शोषित और दमित मिला। समाज का अर्थ-सत्ता-सूत्रधार वर्ग शोषक और शेष श्रम-वर्ग शोषित रहा। उसने अब तक के समाज के इस क्रम को बदलने का सुझाव दिया और कहा कि समाज मे मुट्ठीभर 'शोषक वर्ग' और बहुतायत के 'शोषित वर्ग' मे आदि-काल से सघर्ष चला आ रहा है। यह वर्ग-सघर्ष होते हुए भी सुषुप्त रहा है, क्योंकि सर्वहारा श्रमिक वर्ग अशिक्षित, अ-सजग और इतिहास विकास के इस मर्म से अनभिज्ञ रखा गया है, कि समाज उसके सर पर चल रहा है और वह नगण्य और अस्तित्व-हीन कर दिया जाता रहा है। जब सर्वहारा शोषित वर्ग अल्प-सख्यक शोषक-वर्ग के विरुद्ध वर्ग-सघर्ष की चेतना से कटिबद्ध होकर सघर्ष का जुझारू बाना लेगा, तभी उसकी सच्ची मुक्ति होगी, तभी यह शोषणाधृत समाज शोषण-मुक्त समाज होगा और विशाल मानवता सच्ची मुक्ति और जीवन-सुख की उपलब्धि मे समर्थ हो सकेगी।

अर्थशक्ति को उसने 'पूँजी' (कैपिटल) से प्रतीकायित किया है। शोषक पूँजीपति नि स्व श्रमिक से अस्थि-भंजक श्रम सस्ते मे लेकर बेचता है और इस प्रकार पूँजी-सचय द्वारा पूँजीपति बनकर अपने शोषण-यत्र को और मजबूत करता जाता है। पूँजी पूँजी को लाती है और श्रमिक निरन्तर दीन-हीनतर होता जाता है। शोषक-शोषित वर्गो के द्वन्द्व का समाज विकृत, सामन्ती और पूँजीवादी समाज रहा है। योजन-सत्ता और अर्थ-सत्ता के विस्तार की एक प्रक्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है, पर शोषक वर्ग अपने चातुर्य्य के छल-छद्म से उसे विफल करता रहता है। आदर्शवाद व्यक्तिवादी रहा है और मार्क्स-दर्शन शोषित सर्वहारा-वर्ग को महत्व देने के कारण 'समष्टिवादी' (कम्यूनिस्ट) रहा है। मार्क्स-वाद ईश्वर को सत्ता द्वारा उत्पादित भ्रम, भाग्यवाद को कुटिल दुष्चक्र,

धर्म को सामान्य जनता को छलने और अचेत करने वाला षड्यन्त्री मादक द्रव्य (अफीम) मानता है। उसने कहा कि 'धर्म जनता को बेहोश करने वाली अफीम है।' फलत मार्क्सवाद निरीश्वरवादी, भौतिकवादी, अर्थ-वादी, संघर्षवादी, समष्टिवादी अथवा जनवादी रहा। इसने श्रमिको द्वारा पूँजी-वाद और पूँजीपतियों के विरुद्ध अन्तिम युद्धाभियान छेड़ने का मत्र दिया, जिसका नेतृत्व क्षेत्र अथवा देश-विशेष का 'साम्यवादी दल' (कम्यूनिस्ट पार्टी और उसका नेता) करेगा। मार्क्स-दर्शन के आधार पर सन् १९१७ मे रूस मे लेनिन के नेतृत्व मे जारशाही हारी और जनवादी सरकार बनी। मार्क्सवाद भाग्यवादी तो नहीं, किन्तु वह एक अविचल 'भविष्य-वादी' अवश्य है, क्योंकि उसकी दृढ मान्यता है कि जन का जनवाद और जन-शासन एक अटल सत्य है जो देर-सबेर आकर ही रहेगा। पूँजी-वाद अपने अन्तर्विरोधो से ही मरेगा और जनवाद अवश्यमेव विजयी होगा। उसकी व्याख्या के अनुसार इतिहास-विकास की प्रक्रिया और उसके निर्धारक शक्ति-तत्व जनवाद के ही पक्ष मे निश्चित है। रूस मे श्रमिक-शासन की स्थापना ने विश्व भर के श्रमिक विचारको, ससार के श्रमिकों और कम्यूनिस्टो को अतीव बल और आशावाद से भर दिया। आज के पूँजीवादी, व्यक्तिवादी, शोषक और अन्याय-मूलक समाज के विकल्प के रूप मे श्रमिको की समष्टिवादी, शोषण-विहीन, साम्य-मूलक, श्रम को सर्वा-धिक मूल्य देने वाली और न्याय-मूलक समाज-व्यवस्था का स्वप्न और उसको चरितार्थ करने वाली 'सर्वहारा-अधिनायकीय शासन-पद्धति' (डिक्टेटरशिप आव दि पोलेतैरिएत) ने जन-सामान्य को आकृष्ट किया।

भारत उस समय दास था। विदेशी अंग्रेजों के चंगुल मे कराहती जनता के प्रबुद्ध वर्ग को शोषण-विहीन, रोटी-पानी की व्यवस्था करने वाली, सर्व-कल्याणकारिणी व्यवस्था से युक्त विशेषाधिकारो और विशेषाधिकार-सम्पन्न निहित-स्वार्थो को उन्मूलित कर सबकी सुख-सुविधा का प्रबध करने-वाली यह नव-पद्धति पर्याप्त आकर्षक लगी। इस आकर्षण का मूल कारण मार्क्सवाद का आर्थिक कार्यक्रम और सामाजिक सास्कृतिक वैषम्यरूप को ध्वस्त कर सबके लिए समता-न्याय-मूलक विधान का स्वप्न रहा है। ऐसा नहीं था कि अध्यात्म और धर्म को प्रधानता देने वाले भारत के सभी आकृष्ट जन धर्म-विरोधी या अनीश्वरवादी हो गए हो या सब समता और न्याय के लिए उस वैषम्य को भी छोड़ने को तैयार हो गए हो, जिसका सुफल वे स्वय भोग रहे थे। सभी वर्गो मे विदेशी दासता के प्रति भरी वितृष्णा,

विदेशी अन्यायों के लिए प्रतिशोध की भावना, अपने आस-पास ही अपने ऊपर शासन और अत्याचार करने वाले देशी-समाज की विशिष्ट विधिक स्थिति और अपने से सम्पन्नतर के प्रति सहजात द्वेष ने 'साम्यवाद' के लिए काफी अनुकूल वातावरण बना दिया था। राष्ट्रीय परतन्त्रता के विरोधी मे, तब जाति-पाँति, धर्म, वर्ग आदि पर आने वाले भावी संकटों का बोध उतना जागरित नहीं हुआ था। खेतो पर श्रमिक, कल-कारखानों मे मजदूर और विदेशियों या उनके पिट्ठुओं के सामने आए दिन अपमानित-दलित होने वाली जनता तत्काल भले ही साम्यवादी न हो गई हो, पर सामन्तो के अत्याचार और महाजनों के अन्यायी शोषण से तो अधिकाश जन असन्तुष्ट और पीडित थे ही। इस तरह मार्क्सवाद पहले राजनीति के क्षेत्र मे आया। मार्क्सवाद साहित्य को सत्ताधारी वर्ग का शस्त्र और प्रचार-यन्त्र मानता था, अतः साहित्य के सशक्त प्रचार-माध्यम के प्रति उपेक्षाशील रहना बुद्धिमत्ता नहीं थी। उसने साहित्य मे भी 'प्रगतिशीलता' की चेतना का प्रचार किया और अपने प्रचार यन्त्र के रूप मे उपयुक्त और अनुकूल पडने वाले साहित्यकारों को प्रश्रय, प्रचार और मान्यता देना आरम्भ कर दिया। प्रेमचन्द जी जीवन भर गाधीवादी प्रभाव से ही सही, दीन-दुखी-समाज के लेखक रहे, अतः यह दर्शन उनके लिए प्रतिकूल नही था और प्रेमचन्द साम्यवादियों के लिए सबसे अधिक आवश्यक महान् व्यक्तित्व थे, जिनके माध्यम से वह व्यापक आकर्षण पैदा करने मे समर्थ हो सकता था। मार्क्सवाद निरीश्वरवादी, भौतिकवादी, धर्म-विरोधी और अधिनायकवादी भले ही रहा हो, पर यह तो आगे की बात थी, जो अभी साकार नहीं थी और न निकटतर भविष्य मे उसके साकार होने की कल्पना ही थी। उसका आर्थिक आदर्श बडा ही मनोमोहक था और उसके माध्यम से विदेशी शासन-सत्ता को कुत्सित करने और उखाडने की तात्कालिक प्रेरणा-शक्ति भी उसमे प्रचुर मात्रा मे वर्त्तमान थी। धीरे-धीरे ब्रिटिश शासन के विरोधी, सामाजिक वैषम्य से असन्तुष्ट, वस्तु-वादी यथार्थ और जन-कल्याण की दृष्टि से रचना करने वाले साहित्यकार-कवि इस 'संघ' से सम्बद्ध हो गए। 'सर्वहारा साहित्य', 'जनवादी साहित्य' और 'जन-कविता' तथा 'जन-हित' का नारा उठा और छायावादी काव्य की काल्पनिकता, वैयक्तिक भावुकता, रोमान और भाषिक दुरूहता से असन्तुष्ट साहित्यकार और चिन्तक 'प्रगतिशील साहित्य' का सिद्धान्त-शास्त्र और 'समीक्षकीय आचार-सहिता' के साथ 'कवि आचार-सहिता' रचने मे भी सलग्न हो गए। रागेय राघव, मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, शिव-

मगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन, शील, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा और शमशेर बहादुर सिंह-आदि कवियों ने इस प्रगतिवाद को अपनी कविताओ मे उतारना आरम्भ कर दिया। मजदूर, शोषण, कारखानो का जीवन, पूँजीपतियो के अन्याय, वर्ग-सघर्ष का आह्वान और एक बद्ध अभियान इनके मुख्य विषय बने। रूस का लाल झडा और साम्यवादी दल का हँसिया-हथौडा के प्रतीक वाला रक्तध्वज इनकी प्रेरणा का केन्द्र और दर्शन का प्रतीक रहा। लाल रग, उससे सयुक्त ध्वज एव नाना भाषिक विशेषण और प्रतीक 'रक्त क्रान्ति', 'सशस्त्र क्रान्ति' और 'हिसक क्रान्ति' को प्रतीकायित करने लगे। 'लाल मास्को', 'लाल सेना'. 'लाल अभियान' के जय-गान से प्रगति-साहित्य प्रतिध्वनित हो गया। विश्व-राजनीति मे यह साहित्य-वर्ग, रूस को अपना नेता, विचारो का मन्दिर और अप्रत्यक्ष 'पितृ भूमि' मान ले तो इसमे कोई संकोच नहीं था। इस साहित्य के अपने समीक्षक भी बन गए। डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त और आज डा० नामवर सिंह इस श्रेणी के आलोचको मे अग्रगण्य माने जाते हैं।

मार्क्सवाद और प्रगतिशील प्रगतिवाद मे साहित्य या काव्य, साध्य नहीं, 'साधन', प्रचार का एक मजबूत यत्र और शुद्ध उपयोगितावादी, सिद्धान्तवादी (सम्प्रदायवादी, इस अर्थ मे कि यहाँ शिविर-सम्प्रदाय की निष्ठा सर्वोच्च मानी जाती है।) और दर्शन-प्रतिबद्ध लेखन है, जिसकी एक मात्र कसौटी है जन-वाद और साम्यवाद का भावात्मक अथवा साहित्यिक प्रचार-प्रसार तथा समय-समय पर 'साम्यवादी दलों के तात्कालिक निर्देशों के अनुसार सुविधावादी एवं समयानुसारी नारे गढकर, उसे पूर्ण निष्ठा, तत्परता और एक-स्वरता के साथ लेखन मे उतारना। यहाँ साहित्य या काव्य सौंदर्य सर्जना, आनन्द दान या रस-प्रदान का लक्ष्यधर नही, वरन् वह मार्क्सवाद की एक रक्षा-पक्ति' होता है। यहाँ कला-शिल्प गौण एवं विशिष्ट कथ्य ही सर्वेसर्वा होता है। अन्यत्र किसी कथ्य के काव्य-कला बनने के लिए उसे कला-सौदर्य, अनुभूति, भाव अथवा सवेदना के प्रथम परीक्षण-निकष पर खरा उतरना होता है, पर यहाँ कविता और साहित्य को वैसा होने के लिए सर्व-प्रथम मार्क्सवाद की दर्शन-नीतियो की कसौटी पर खरा उतरना पडेगा। यहाँ कवि भी एक श्रमिक है और जैसे सभी प्रकार के श्रमिक है और उनमे भेद-भाव नहीं किया जाना चाहिए, उसी प्रकार साहित्यकार भी एक बौद्धिक श्रमिक है, उसकी लेखनी मार्क्सवादी

क्रान्ति के अभियान मे एक तलवार से कम कार्य करने के लिए स्वतन्त्र नहीं है। साहित्यकार भी 'साहित्यिक सैनिक' है, अन्य कुछ भी नहीं। रस, सौन्दर्य और आनन्द का, प्रगतिवाद के अनुसार, कोई स्वतन्त्र अस्तित्व या महत्व नही है। वह जीवन के मूल्यो की उस शिला पर हो प्रतिध्वनित और सच्चे अर्थों मे प्रतिफलित हो सकता है, जो मार्क्स दर्शन के अनुसार जीवन के विकास-इतिहास और जीवन धारण का मूल तत्व है। रस, आनन्द और सौन्दर्य के मूल्य, मार्क्सवादी लेखक के लिए, इस मूल दर्शन की धारणा से विलग एक काल्पनिकता, निस्तत्व स्वप्न अथवा भुलावा है। यही यथार्थ या सत्य (रियलिटी) है, और इससे इतर सब कुछ भ्रम (इल्युजन) मात्र। मार्क्स, लेनिन, ऐंजेल्स आदि मार्क्सवादो ही इस साहित्य के मान-निर्धारक, मूल्य-विधाता और पथ-प्रदर्शक रहे है। साहित्य-कला मे ये गुम्फन, जटिल प्रतीकात्मकता और भाषा औदात्त्य की अलकृतियों की अपेक्षा उसके सारल्य, सुबोधत्व और सामान्य जन-समूह के लिए प्रत्यक्ष प्रभावकारिता को पूर्ण महत्व प्रदान करते है। समष्टिवादी होने से ये अति-मनोवैज्ञानिकता, कल्पना-प्रवणता, सज्जा-शिल्प-मयता को वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिवाद का प्रच्छन्न मोह मानते है। साहित्य को स्वतन्त्र, अन्य विधाओ से विलग और अपने निजत्व मे एक विशिष्ट कलात्मक अस्तित्व न मानने के कारण, भावनाशीलता, कल्पना-प्रवाह और सूक्ष्म व्यंजकता को वैयक्तिक भटकाव, आत्म-मोह, आत्म-विशिष्टता की साम्य-विरोधी अन्तस्तृषा का आलोडन एव प्रतिक्रियावादी तत्व का ही आवृत व्यामोह मानना, इनके मूल निष्कर्ष रहे है। प्रत्यक्षता, जन-प्रभाव की तात्कालिकता और आर्थिक-राजनीतिक दर्शन की वैचारिक धारणाओ की सुस्पष्टता के आग्रह ने प्रगतिवादी काव्य को प्रधानत अभिधावादी, सैद्धान्तिक, विचाराक्रान्त, अति-उपयोगितावादी और अकलात्मक बना दिया है। सामाजिक चेतना और प्रगति के नाम पर शुष्क राजनीतिक सिद्धान्त-विज्ञापन और घृणा-प्रसार का, वर्ग-विद्वेष के अंधडों मे मानवीय औदात्त्य और उसकी भावात्मक-रागात्मक गरिमा के प्रद्योतन प्रकाशन के सन्दर्भ, गौणतम हो गए। घृणा, विद्वेष, विरोध और आघात ही इस काव्य-धारा के मूल लक्ष्य बने रहे। इस साहित्य ने मानव, मानवीय समस्याओ और सामाजिकता को एक दूसरे ही छोर से पकडा, अतः इसके मूल्य-मान परम्परा-विकसित काव्य-साहित्य से सर्वथा भिन्न हों यह स्वाभाविक ही है।

दीन-हीनों, श्रमिकों और शोषितों के प्रति एक बौद्धिक (रागात्मक कम) और सैद्धातिक सहानुभूति का प्रकाशन मूल आदर्श बन गया। ये

कवि मजदूर-श्रमिक वर्ग से तो आए नहीं थे, अत उन्हे निम्नवर्गीय जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं थी। इनका बोध पुस्तकीय, दार्शनिक और बुद्धि स्तरीय ही था। गहरी सवेदना, गहन भावात्मकता या रागात्मक आयाम की कविता-गत शर्त्त का यहाँ अधिकाश मे अभाव दिखलाई पड़ता है। छायावाद की प्रतिक्रिया ने उसे भावना-कल्पना से यो भी दूर कर दिया। आनुभूतिक गहनता उनके लिए वैयक्तिकता का चिह्न थी। इस धारा मे शिवमगल सिंह 'सुमन', नागार्जुन और केदारनाथअग्रवाल, जैसे कुछ ऐसे प्रतिभाशाली कवि कम ही हुए जो कथ्य को काव्य के वैशिष्ट्य से भी सम्पन्न बना सकते। प्रयोगवाद की भाषिक खोज के महत्व को भी न मानने के कारण, इनका भाषा-विधान सामान्य और वैचारिक ही बना रहा। उत्तर-छायावाद-काल मे छायावाद के दो महारथी 'निराला' और 'पन्त' भी प्रगतिवाद की ओर झुक गए। छायावाद के चूडान्त विकास तक भारत परतत्र ही था। दो महायुद्धो के बीच की सामान्यजन की मन स्थिति कुछ आशामय नही थी, जन-मानस सुख-शान्ति का कोई सुदृढ आधार नही पा सका था।[1] इस सन्दर्भ मे महादेवी वर्मा वास्तविकता को साथ पकडने की आवश्यकता पर अधिक बल दे रही थी। 'आधुनिक कवि' की भूमिका मे 'पन्त' ने भी यह स्वीकार कर लिया था कि स्थूल इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध प्रतिक्रियाशील होने के कारण छायावाद सूक्ष्मतम समष्टि-चेतना और सौन्दर्य सत्ता के पीछे चल कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो चुका था और अग्राह्य भी। 'रूपाभ', सन् १९३२ के प्रथम अंक से भी यह ध्वनि फूट चुकी थी कि जीवन के लिए कविता को जन-भावना और सघर्ष-रत जन-सघर्ष के साथ खडा होना होगा और जीवन का मत्र वास्तविकता की भूमि से ही मिलेगा। सूक्ष्मातिसूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना और अपार्थिव-वायवीय ऐन्द्रियता के स्थान पर स्थूल, पार्थिव, यथार्थ आदि को स्थापित करने की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप 'प्रगतिवाद' प्रतिष्ठापित किया गया। उसे मार्क्सवाद का भारतीय और हिन्दी सस्करण भी कहा जाने लगा और ऐतिहासिक चेतना का वह प्रोद्‌भास आर्थिक और राजनीतिक परिखाओ मे घिर कर, काव्य के शाश्वत और व्यावर्त्तक उदापानो से विलग-सा होने लगा। 'प्रगतिवादी समीक्षा—दृष्टि, कुछ मान्यताएँ', 'आधुनिक समीक्षा' मे डा० देवराज ने इसी से 'शाश्वत प्रगतिशील चेतना' एव 'विशेष राजनीतिक

---

१. 'आधुनिक हिन्दी कविता मे चित्र-विधान', डॉ० रामयतन सिंह 'भ्रमर', ने० प० हा०, दिल्ली, १९६५, पृ० २९७।

मतवाद के आग्रह' के आधार पर प्रगतिवादियों मे दो श्रेणियाँ की हैं। 'हंस' के 'प्रगति-अंक' मे श्री उदयशकरभट्ट ने प्रगतिवाद का भ्रम दूर करते हुए उसे 'जीवन मे गति' का नाम कहा। 'मिटी की ओर' नामक पुस्तक मे दिनकर ने भी अन्दर की मिट्टी प्रेम-भावना और मानवीय सद्भाव के पुनरुज्जीवन के लिए ही राजनीति के आधार का औचित्य माना और उसकी समकालीनता की समीचीनता स्वीकार की। रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' ने 'साहित्य मे प्रगतिवाद' नामक पुस्तक मे प्रगतिवाद की भूमिका का सम्बन्ध अतीत-विस्मरण के फल-स्वरूप जगी जातीय मुमूर्षा, एवं मरण-शील वृत्तियो के उन्मूलन, भौतिक उपलब्धियों की समाप्तप्राय सभावनाओ के पुनरानयन, आध्यात्मिक चिन्तन-मनन के नवीनीकरण और समाज की मूर्च्छा-मुक्ति से जोडा। वास्तविकता उसका सत्य और पराजय या समझौता के स्थान पर सघर्ष और सार्वजनीनता उसका लक्ष्य कही गयी। 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' के सम्पादक डा नगेन्द्र ने भी प्रगतिवाद को शुद्ध चेतना का सम्बन्ध सास्कृतिक उद्वार और जागरण से माना। स्वस्थ प्रगति-चेतना का सबध पारस्परिक ऐक्य, सहयोग, सकट के समकालीन बोध, समता-समृद्धि और मुक्ति के प्रसार, सामूहिक चेतना के जागरण, नव-मूल्याकन एवं सामाजिकता मे उनकी सही सहभागिता से ही सभव है और उसे जाग्रत जन-चेतना और युग-धर्म का प्रकृत उद्घोषक भी होना पडेगा।[1] 'आलोचना का मार्क्सवादी आधार' पर विचार करते हुए अमृतराय ने मार्क्सवाद के दर्शन से प्रगतिवाद की अन्तर्वर्ती धाराओ के सम्बन्धाधार को स्पष्ट करते हुए, मार्क्सवाद को गतिशील जीवन-दर्शन, साहित्य की खरी कसौटी, आर्थिक शक्ति की मौलिक सर्जकता, जनवाद की थाती, उद्दाम कर्म-प्रेरणा का अजस्र स्रोत, भविष्य-वरण मे मानवीय भूमिका की महत्ता, युग-समाज के प्रति पूर्ण सजगता, सत्यों की सापेक्षता मे ही पूर्ण सत्य की सभावना, मानवीय महत्ता, भाग्यवाद के विरोध[2], दमन की अस्वीकृति और शोषण से रहित समता-मूलक समाज का दर्शन कहा। नरेन्द्र शर्मा भी गीत से प्रगति की ओर आए।

डॉ० कन्हैयालाल सहल ने 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और प्रगतिवाद', डा० नगेन्द्र ने 'वादसमीक्षा (संपादन), अमृत राय ने 'नयी समीक्षा', हिन्दी मे 'जनवादी साहित्य मोर्चा' का प्रश्न उठाया। आचार्य नददुलारे

१. चन्द्रबली सिंह, 'नयी चेतना', अक ५, १९५१ (प्रगतिवादीकला)।
२ प्रकाशचन्द्र गुप्त, 'हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा', पृ० १४३।

वाजपेयी ने आधुनिक साहित्यिक प्रश्न का सन्तुलित मूल्याकन किया और धीरे-धीरे प्रगतिवाद का आरम्भिक प्रचार-ज्वार कम हुआ तथा प्रगतिवादी कवियों को भी सन्तुलन और साहित्यिकता के प्रश्नो पर सोचने को विवश होना पडा। 'सुमन', केदारनाथअग्रवाल, नागार्जुन, 'अंचल', त्रिलोचन, शील, रागेयराघव आदि इस विधा के प्रमुख कवि है।

डा० शिवमगल सिह 'सुमन'

डा० सुमन उन प्रगतिवादी कवियो मे है जो प्रगति को भारतीय परिवेश और अतीत सन्दर्भ से जोडकर समकालीनता मे उसे आगे रखने मे विश्वास करते है। 'जीवन के गान' उनकी प्रगतिशील रचनाओ का महत्त्वपूर्ण सकलन रहा है। वे भारतीय सास्कृतिक इतिहास से जोडकर और उसके वरीय तत्त्वो को पुराने प्रतीको की नवसन्दर्भिक व्याख्या द्वारा समकालीन सार्थकता देकर ही, जनवाद का समर्थन करते है। हिमालय उनकी दृष्टि मे भारतीय शान्ति-प्रियता का प्रतीक है।[1] 'विश्वास बढता ही गया' दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है। यहाँ प्रगति-भाव भारतीत पुराण-इतिहास की परम्परा मे भी अपनी खोज करता है। भगीरथ सरिता-धार मोड़ने वालों, राम रूढि-धनुषो के भजनो और सीता नये हल की नोको से जन्म लेनेवाली फसल-के प्रतीक बन गए है। 'जीवन के गान', 'विश्वास बढता ही गया', प्रलय-सृजन आदि 'सुमन' के प्रमुख सकलन हैं।

सुमन 'निराला' के अटूट भक्त रहे है। उन्हे आर्यो का मूर्तिमान पौरुष मानते हैं। इनका रचनाएँ प्रगतिवाद के सम्प्रदाय के आग्रह से उस प्रकार आग्रस्त नहीं रही है, जिस प्रकार अन्य प्रगतिवादी कवियो की रचनाएँ प्राय: रही है। इन्हे 'प्रगतिवाद' से अधिक 'प्रगति-शीलता' से सम्बद्ध कहा जा सकता है।' 'वाद' साम्प्रदायिक आग्रह का सकेतक है और 'शील' आन्तरिक आस्था और रचना-धर्मिता से सम्बद्ध होता है। इसी से 'सुमन' जी की रचनाओं मे काव्य की अनुभूति-शीलता और विषय-वस्तु के साथ सवेदनात्मक सहभागिता अधिक प्राप्त होती है। 'प्रगति' को 'वाद' के रूप मे मानकर चलने वाले कवि एक 'आन्दोलन' से बँधकर चलते है और आन्दोलन का प्रचारात्मक पक्ष उनमे प्रतिबद्धता का प्रश्न

---

१. 'शान्त की बाहें बढाये है हिमालय'—'विश्वास बढता ही गया', सुमन, पृ० १०१-२०।

बनकर बद्धमूल होता है। आन्दोलन विचार-प्रतिष्ठापना की भूमिका को लक्ष्य मे रखकर परिचालित होते है और उनसे काव्य-सर्जना मे नयी वैचारिक पीठिका का शिलारोपण हाता है, किन्तु उसी आन्दोलन के परिवेश में कुछ ऐसी प्रतिभाएँ भी होती है जो अपनी सर्जकता मे आन्दोलन से प्रभावित अवश्य होती है, किन्तु उनकी प्रतिबद्धता अपनी सृजन-शीलता से होती है। 'सुमन' जी ऐसी ही प्रतिभा है जिन्हे प्रगतिवादी अपने आन्दोलन के साथ रखते रहे है, किन्तु 'सुमन' स्वयं आन्दोलन से उतना ही सम्बद्ध होते है, जहाँ तक उनकी रचना-धर्मिता उसे स्वीकार कर सृजन मे परिणत करने को समुद्यत होती है। 'सुमन' स्वभावत· एक भावुक कवि रहे है, उनका व्यक्तित्व मूलत भाव-प्रधान रहा है और वे प्रगतिशील रचनाएँ इसलिए करते रहे है कि उसके कुछ पक्षो ने उन्हे भीतर से छुवा है। विचार-प्रतिपादन के आवेश और बौद्धिक तर्क-वितर्क के झमेले मे न पडकर वे स्थितियो-परिस्थितियो के साथ अपने आन्तर संवेदन और विश्वास को काव्यायित करते रहे है। यही कारण है कि उन्होने प्रगतिवाद के सिद्धान्त गत मुद्दो तक ही परिसीम न रहकर, मानवीय सवेदनाओं और मानवीय मूल्यो के रूपायन को भी प्रतिभा का सस्पर्श प्रदान किया है। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'मैं नही आया तुम्हारे द्वार, पथ ही मुड गया था' उनके इस वैशिष्ट्य का प्रमाण है। विचाराग्रह के आवेग मे वे भाव-शील की उपेक्षा नहीं कर सके है। अपने 'जीवन के गान' की भूमिका के पृ० ९ पर 'सुमन' ने प्रगतिवाद को 'जीवन और साहित्य का नया दृष्टिकोण' माना, (सम्पूर्ण दृष्टि नहीं)। 'सुमन' वाद और सिद्धान्तों को जीवन की रक्त-मज्जा और अस्थि-चर्म मे देखने की दृष्टि रखते है। उनका 'युग-पंथी' के प्रति सबोधन इस तथ्य को नही भूलता कि 'रूढ़ि-रीतिगत भीति-पलायन की भारी-भारी चट्टानें सीने की टक्कर से प्रतिपल मौन तोडते' युग-पंथी मे एक मानव-हृदय भी है, यह 'मात्र लोहे का पुर्जा या भाव-शून्य भौतिकवादी पशु' भर नही है। वे युग-पथी की साँसों मे चाँद और पुतलियो मे तारो की चमक तथा मोती लुटते भी अनुभव करते है। फिर भी वे पीडित मानवता के प्रतिनिधि की उस नियति से परिचित हैं कि वह सचमुच देव-दानव से विलग एक मानव ही है जिसे मानव होकर भी मानव की भाँति जीने का अधिकार नही मिल पाया है :

'तुम तो सचमुच मानव ही थे
देव न थे अथवा दानव ही,

किन्तु जिसे मानव होने का
सुख न मिल सका।'

यही नही वे उसके रीते यौवन-घट, सिकता के अंगारों पर उसकी जलन-तडपन और खुद अपनी प्यास ही पीने की विवशता की करुण-मार्मिक अनुभूति भी करते है :

'जो सिकता के अंगारों पर
चलता चलता
जलता जलता
खुद ही अपनी प्यास पी गया।'

वाद उन्हे जीवन की करुण-मार्मिक परिस्थितियो की ओर ले जाने की प्रेरणा बनता है, पर वहाँ जाकर वह बौद्धिक सिद्धान्त का तर्क-जाल न फैलाकर, जीवन-रस का उद्घाटन करता मानव की मानवीयता का आकलन करता है। उनकी कवि-प्रतिभा बौद्धिक प्रत्ययो से आगे बढकर, जीवन का सवेदनात्मक बिम्ब-विधान करती है और यही सवेदना-पूर्ण बिम्ब-विधान उनके प्रगतिशील कवि का लक्षण है।

इसी प्रकार उनकी रचनाओ मे मानववाद के साथ उसके भविष्य के प्रति एक दृढ आशावाद भी पाया जाता है। वे भारतीय प्रतीको के माध्यम से प्रगतिशीलता को अभिव्यक्ति देने मे नहीं हिचकते, जब कि अनेक सम्प्रदाय-बद्ध प्रगतिवादी कवि भारतीय पौराणिक एवं सास्कृतिक प्रतीको मे ही छत मानने तथा हसिया-हथौडे और लाल झंडे के प्रतीक को ही अपनी सैद्धान्तिक निष्ठा का प्रतीक मानते दिखलाई देते है। वे शोषण का दुष्परिणाम आर्थिक विपन्नता से अधिक मानवीयता-मनुष्यता की गिरावट मे अनुभव करते है—

'आज आसुरी बनी समस्त सभ्यता'

× × ×

'खो गयी कहीं मनुष्य की मनुष्यता।'

अपनी 'मै मनुष्य के भविष्य से नहीं निराश' कविता मे 'देश-जाति-धर्म-वर्ग-बॉध लॉघकर' समस्त 'विराट्' मे 'एक ही हृदय प्रकम्पमान'

अनुभव करते हैं। भारतीय अद्वैत-चिन्तन उन्हे मानव-मात्र की एकता और उसकी अजेयता की अनुभूति कराने में सहायक सिद्ध होता है—'एक बीज में निहित असख्य वन-वितान, एक बिन्दु मे निहित असख्य सिन्धु-गान।' जब 'सुर' (न्यायार्थी शोषितजन) और 'असुर' (न्याय-विरोधी शोषक-वर्ग) से मथित जलधि (समाज-सघर्ष-स्थल) गरल उगल रहा हो तो ऐसे समय मे इस गरल को पीने वाले नवीन 'नीलकण्ठ' की आवश्यकता है जो विषम तरल-गरल (संघर्ष तिक्तता) को पी, पचा और समाहित कर सके, ऐसा नेतृत्व जो नव-चिन्तन की नव-विधा को प्रतिष्ठापित कर, शोषकों की अपवंचना से अपहृता जन-तुष्टि की कामधेनु को द्वार-द्वार पहुँचा सके। इसी प्रकार 'प्यासों को प्रणाम' रचना मे जिस निर्झर से बहने, नदी बनने और चट्टानो से शतधा-सहस्रधा टकराने के उच्छ्वास का चित्रण हुआ है, वह कवि-व्यक्तित्व के रोम-रोम मे भिदा वह प्राणावेग है जो शतियो की परम्परा शृखलाओ की चिन्ता किये बिना केवल जन-जीवन को सिक्त करने, 'जीवन को मिलाने', 'खुद को पिलाने' और अपने 'अस्तित्व-सीकर को यत्र-तत्र, पत्र-पत्र बिखराने की' लालसा से विह्वल हो उठा है और जो 'सदियो की सत्ता' को 'कोरी बकवास' घोषित कर देता है। यहाँ जनवाद, समष्टि मे व्यष्टि को बिखेरने, पहाडों (बाधक शोषकों) की छाती तोडकर जन-मानस को सींचने और 'प्यासो' (शोषितों) को तृप्त बनाने वाले संघर्ष-दर्शन का आनुभूतिक स्वरूप है जो सिद्धान्त नहीं, मानववादी भाव-सवेदना के काव्य-स्तर और बिम्बमयी भाषा मे उच्छ्वसित हो उठा है:

'जीवन को जिलाने में
खुद को पिलाने में
गिरि के गुरुत्व को
साभार राम-राम है,
प्यासों को प्रणाम है।'

'सुमन' की 'जय हो' कविता मे सघर्ष-दर्शन का काव्यात्मक और बिम्बात्मक भाषा मे सुन्दर निरूपण हुआ है। गति-भरे चरणों के लिए कवि पैर देने वाले विधाता का आभार मानता है, ठोकरें निर्झर की भाँति उसे नई छलकन देती हैं—'समतल राहो मे चलने से क्या पाऊँगा?' कवि समतलीय (सामान्य व्यवस्था-बद्ध प्रणाली मे जिलाने वाले) भूमि

(मूल्य-विधान) मे वास्तविक जीवन नहीं मानता। जंगली पेड-फल-फूल यहाँ सभ्यता के बँधे मानो से अलग अपनी वास्तविकता मे जीने वाले जन-समाज का प्रतीक है। वह नहरों के बद्ध-नियोजित जीवन की अपेक्षा निर्बन्ध जीवन-वेग के साथ जुड जाना चाहता है :

'पर मुक्त प्रवाहों का सरगम
प्यारा-प्यारा
गाते-गाते
मिटने की साध नहीं जाती।'

इस प्रकार शिवमंगल सिह 'सुमन' प्रगतिवादी होते हुए भी मानववादी, गतिशील, जीवन की गेयता के समर्थक और स्वच्छन्द-मना कवि की भाँति अपनी मस्ती मे स्वच्छन्दतावादी भी है। यह स्वच्छन्द भावना सौन्दर्य-लोक की निरी कल्पना नही, जीवन की वास्तविक मानवीय धारा मे रस लेने, अपनाने, बाधाओं से टकराने और कल-कल गाने की अलमस्ती है। 'सुमन' ने प्रगति, संघर्ष और जनवाद को बुद्धि नहीं, भावानुभूति के स्तर पर ग्रहण किया है। उनकी भाषा बिम्बमयी, भावोच्छल और काव्य-भगिमा से सयुक्त है। अभिधेय कथनो, वैचारिक प्रत्ययो और नारो से आगे बढकर 'सुमन' का कवि सवेदन, चित्रण और जीवन-सम्पृक्त अभिव्यजना के सोपनो से हृदय-सवाद का मार्ग अपनाता है। उनके वर्णनो और प्रतीको मे आधुनिकत. और सैद्धान्तिकता के प्रदर्शन की अपेक्षा भावाभिव्यक्ति की प्रमुखता रही है, इसो से वे श्रोता-हृदय को छूकर लोकप्रिय भी रहे है।

केदारनाथ अग्रवाल

प्रगतिवाद की परिधि मे सहज कवि-प्रतिभा से दमकने वाले दूसरे कवि श्री केदारनाथ अग्रवाल है। इन्होने प्रगति-दर्शन को कवि-हृदय से ग्रहण किया है। वाद-विवाद और तर्कों की भाषा छोडकर 'अग्रवाल' जी बिम्ब-योजना और संवेदना-पूर्ण चित्रों के कवि के रूप मे सभी प्रगतिवादियों से विशिष्ट रहे है। 'सुमन' मे वर्णन की प्रधानता है तो 'अग्रवाल' मे बिम्बना की। उनके भाषा-विधान मे ताजगी और सरचना का प्रयोग

भी सुस्पष्ट रहा है, पर महानगरों की महानगरीयता के संस्कारी कवियों की श्रेणी मे न आने और काव्य को साधना के स्तर पर ग्रहण करने वाले रचनाकार के सरल-निश्छल किन्तु स्वाभिमानी स्वभाव के कारण वे 'अज्ञेय' के निकट नहीं हो सके या पसन्दीदा नही हो सके, यद्यपि भाषा-विधान मे प्रयोग, उपयुक्त शब्द-सधान और टटकेपन मे वे किसी प्रयोगशील कवि से पीछे नहीं, वरन् कुछ स्वस्थ अर्थों मे आगे भी रहे है। अच्छा ही हुआ, वे 'सप्तक'—बद्ध नही हुए, अन्यथा वे वह न दे पाते जो उनकी कविताओ ने प्रगतिशीलता को प्रदान किया है। प्रगतिवाद के प्रचारवाद से विलग, हथकण्डों के प्रति उदासीन और पत्र-पत्रिकाओ के शिविरवाद से अनासक्त रहने के कारण वे प्रयोगवाद से तो कटे ही रहे, प्रगतिवाद की दुन्दुभी के साथ भी प्रचारात्मक नही हो सके, अन्यथा वे उस अनुभूति को जीने के पात्र भी न रह सके होते जो 'माझी की वशी पर पोर-पोर टूटने लगता है' :

'माझी, न बजाओ वंशी पोर-पोर टूटता।'

उनके भाषा-बिम्ब मे सगीत-लय और संगीत-लय मे भाषा की बिम्बात्मकता कसमसाती रही है। यह आनुभूतिकता और लयात्मकता प्रगतिवाद के दर्शन मे भी उन्हे कवि अक्षुण्ण रख सकी है। उनकी अनुभूतियो मे न प्रदर्शन का घटाटोप है और न भाषा में अनावश्यक सज्जा, उनकी भाषा लोक-जीवन के रस और लोच से पूर्णत· सजीवित और प्रत्यग्र रही है। लोकात्मकता और लोक-माधुरी उनकी अभिव्यक्ति-गत निश्छलता मे चार-चॉद लगा देती है। परम्परित छन्दो-विधान के साथ वे मुक्त छन्द की लयात्मकता से भी शराबोर रहे है। भाषा मे लोक-भाषा की मिठास के साथ अकृत्रिमता का सहज जादू भी वर्तमान है। तत्सम-तद्भव शब्दावली का सम-स्वभावी विन्यास यह प्रकट करता है कि कवि सायास कविता के अभ्यास और अभिव्यक्ति की झूठी वर्चस्विता के मोह से मुक्त रहा है।

कवि 'अग्रवाल' भी मानव की मानवीयता और जीवन मे निरन्तर बढते सपाट रूखे-सूखेपन के प्रति सशंकित रहे है। 'कंकरीला मैदान' नामक रचना मे यह चित्र कितना प्रतिरूपक है :

'कंकरीला मैदान,
ज्ञान की तरह जठर-जड़ लम्बा-चौड़ा
गत वैभव की विकल याद में—
बड़ी दूर तक चला गया है खोया-खोया।'

वे परिवेश के बिम्बात्मक और सरल-सहज वर्णन को भी मर्ममय और तरल बना देते है, जिसमे लोक-जीवन का पुट उसे और उभारकर सॅवार देता है :

'हर बिरवे पर एक फूल है
अनुपम, मनहर
हर ऐसी मनहर मुँदरी को
मीनों ने चंचल आॅखों से
नीले सागर के रेशम के रश्मि-तार से
हर पत्ती पर बड़े चाव से-बड़े जतन से
अपने-अपने प्रेमी जन को देने की खातिर काढ़ा था
सदियों पहले।'

फूल को 'मनहर मुँदरी' कहने मे लोक-जीवन की मिठास दृश्य को अनोखी किन्तु सहज माधुरी से प्लावित कर देती है। 'यत्न' को लिए 'मनहर' तद्भव शब्द रूप कितना सवेदन-पूर्ण है! कवि की व्यथा 'मीनों के घर' के 'बडा मैदान' बन जाने के अमानवीय और नीरस परिवर्तन पर सिसक उठती है। यह मानवीय हृदयवाद और आन्तर सवाद 'अग्रवाल' की रचनाओ की एक ऐसी विशेषता है जो अपनी आत्मीयता मे पाठक को खींचकर अपनत्व की डोर से बाँध देती है। मानवीय सम्बन्धों के असुन्दर परिवर्त्तनों और शुष्क बौद्धिकता की जीवन-रहितता से कवि दु ख का अनुभव करता है। वे वर्णन की अपेक्षा अनुभूति-सवेदनों के लघु-लघु सस्पर्शी बिम्ब-चित्रों के कुशल और मर्मी चित्रकार है। उनके बिम्ब सहज प्रकृति-परक और प्रतीकात्मक, दोनो ही कोटियों के होते है। भाषा-बिम्ब अनुभूतियो से ऊष्म और तरल होते है। सचमुच बुद्धि के शुष्क, जड-जठर और गुमसुम मैदान की अपेक्षा, वे 'फूलो की मनहर मुँदरी को मीनों की चचल आँखों द्वारा काले, नीले सागर (आकाश) के रेशम के रश्मि-तार (तार-सरीखी

किरणें) से झलमल (ओस-बिन्दुओं से तरल मत्स्याकार सुमनों की शोभा) प्रेमोपहार को अधिक सुन्दर, वाछनीय और मोहक अनुभव करते है। 'मछलियो का कंकड बन जाना' कितना बोधक है !

> 'किन्तु नहीं वे प्रेमी आए
> और मछलियाँ सूख गई हैं—कंकड़ है अब !'

'कहाँ नहीं पडती है किस पर' कविता मे कवि सागर, पृथ्वी, आकाश और आग के प्रतीको के माध्यम से यह सकेत करता है कि जिस प्रकार इनमे भी परिवर्त्तन और सघर्ष की प्रक्रियाएँ उभरती है, पर इनका अस्तित्व समाप्त नहीं होता और ये अपने मूल धर्म मे प्रेरणा और सर्जना के स्रोत बने रहते है, उसी प्रकार विशाल जन-समूह, चोट खाकर और आलोडित-विलोडित होकर भी गति, उल्लास, उत्साह, छवि, प्रकाश और क्रान्ति की प्रेरणाओ का अजस्र स्रोत बना रहता है—उसकी सर्जकता नाना घात-प्रतिघातो से समाप्त नही होती। नवीनतर सायाएँ—प्रतिमाएँ उसी से उठती हैं —

> 'और अब भी लहराता है सायर भरपूर जवान,
> अब भी फल-फूल से भरी रहती है पृथ्वी छविमान,
> अब भी नये-नये चाँद और सूरज उगाया करता है आकाश,
> अब भी आग मशाल जलाया करती है आदमियों की,
> युग की,
> सत्य की टोह के लिए,
> विचार को शिक्षा देने के लिए।'

भाषा-विधान मे अज्ञेय-मार्गी शब्द-संयोजना की नवीनता और विचार-दीप्तता भी है, और साथ ही असम्बद्धता और आयासित जटिलता के स्थान पर एक निश्छल अभिव्यक्ति और समझने-समझाने की सहज भगिमा अकृत्रिम रूप मे उजागर है। भापा-विन्यास, व्याकरणिक ढाँचे की अपेक्षा, संलाप की सहजता के भाव-बद्ध क्रम से विहित होकर आई है। 'पत्थर' कविता मे शिल्प-प्रयोग और शब्द-चित्र की शैली का नयापन है, पर जहाँ कवि शिल्प-चेता हो जाता है, वहाँ बिम्ब तो सुन्दर उठते है, पर भाव-ऐक्य बिखरा-सा प्रतीत होने लगता है। जर्जर समाज-व्यवस्था की असार्थकता

और प्रतिकूल-प्रयोजनीयता यहाँ उभरकर व्यक्त हुई है। नदी अपने में बिम्बित आकाश को लिए बेसुध होकर गति-हीन हो गई है। उसमे चाँद-सितारे भी बिम्बित है, पर वह उनसे बेखबर है। दिन कौडियों सा पट्ट है, डूबते सूरज-सा सत्य दॉव हारे की भॉति, सत्य को दबा देने वाले वर्ग की हथेली मे छिप रहा है, पछता रहा है। सामाजिक विसंगति और अ—यथापन पर कवि व्यग्यशील हो उठा है। विवश-पीडित जनता 'चाकुओ को सदारत मे सलाम ठोकते हुए बकरे'—सी मजबूर खडी है—

'बकरे बोलते है, चाकुओं की सदारत में सलाम ठोंकते।
प्यासा आदमी कब्र से उठा, खून के इन्तजार में खड़ा है।'

इसी प्रकार 'ज्यामितिक जीवन' नामक कविता मे 'अग्रवाल' ने ज्यामितिशास्त्र के पारिभाषिको के माध्यम से समकालीन जीवन की निरर्थकता, विसगति, विद्रूपता, अर्थ-विपर्यस्तता को व्यगित किया है। शब्दों से फूटती श्लिष्टता राजनीतिक व्यग्य को सतेज करती हुई, एक शब्द क्रीड़ा का विनोद तो देती ही है, साथ ही गहराई मे उतर कर हमारी आँखे भी खोलने मे सफल हुई है—

'लकीर ने लकीर को निगल लिया
ग्रहण में केन्द्र और
वृत्त में अँधेरा है
—अमावस है
केन्द्र अब अन्धा है।'

× × ×

'वृत्त का स्वामी केन्द्र
नपुसक है
बिन्दुओं का वेद,
हिंसक है।'

। परम्परित बुझौवल और कूटोक्तियों की पद्धति का कवि ने नवीन सन्दर्भों और समकालीन प्रसंगों मे नूतन प्रयोग किया है। इस तरह श्री केदारनाथ अग्रवाल मे सामाजिक-सास्कृतिक परिबोध की तीव्र चेतना तो है, पर उन्होने

उसे शब्द कौशल, शब्द-क्रीड़ा, शब्द-चित्रण और प्रतीकता के माध्यम से व्यक्त कर पाठकों मे कथ्य के प्रति अपेक्षित कुतूहल उत्पन्न करने की कला को भी साथ रखा है। वे एक ऐसे प्रगतिशील कवि हैं जिसमें प्रगति-भाव के साथ-साथ प्रयोगशीलता का भी समानान्तर विकास हुआ है। संज्ञा पदों द्वारा अमूर्त्तन की विभा भी उनकी रचनाओं में समाविष्ट रही है तथा चित्रात्मक विशेषणों द्वारा अमूर्त्त को मूर्त्त बनाने की कला भी देदीप्यमान हुई है। 'कहाँ नहीं पडती है किस पर' कविता मे गद्यात्मक लय और अर्थ-चित्र देने वाले स्फुट विशेषणों के एकत्र प्रयोग की कला भी परिस्फुट हुई है।

'अग्रवाल' सिद्धान्त-ग्रस्तता से आगे बढ़कर जब कवि की भूमिका पर उतरते हैं तब वे लोक-जीवन से पूर्णत: सम्पृक्त होकर जन-जीवन की माधुरी पर मुग्ध होने लगते हैं। जहाँ 'पन्त' ने ग्राम्या मे जन-जीवन के चित्रण मे अश्लीलता और यौन भावना के चित्र उरेह दिये हैं और ग्राम-युवती के नमित दृष्टि से 'उरोजों के युग-घट' देखने को अपनी सौन्दर्यानुभूति का विषय बना लेते हैं, वहाँ अग्रवाल' ने खुरदुरेपन की गद्यात्मकता और वैचारिकता को छोड़कर जन-जीवन के कोमल-अनगढ़ उपकरणों को, मर्म-दृष्टि से चुनकर तद्भवात्मक भाषा की चाशनी मे समो दिया है। उपेक्षित मानवता के साथ उपेक्षित ग्रामीण प्रकृति के चित्र उनके यहाँ बड़े मीठे और मनोहर है। उनकी 'युग की गगा' कविता-पुस्तक इस दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। यहाँ जनवाद ग्राम-परम्परा से जुडकर भारतीय बना है—

> एक बीते के बराबर यह हरा ठिंगना चना
> बाँधे मुरेठा शीश पर छोटे गुलाबी फूल का
> सजकर खड़ा है।
>
> × × ×
>
> और सरसों की न पूछो हो गई सबसे सयानी
> हाथ पीले कर लिये हैं, ब्याह-मण्डप में पधारी।'[1]

यहाँ परम्परा के नाम पर परम्परा-विरोध का आग्रह नहीं है और जनवाद और उपेक्षित मानवता के प्रति प्रेम के नाते ग्राम-प्रकृति की छटा से भी

१. 'युग की गंगा', पृ० ९

प्रेम हो गया है। ग्रामीण मानव-समाज खेतों, फसलों और अपने प्रकृति-परिवेश मे प्रतिबिम्बित होकर मन मोहने लगता है। नयी आजादी का दर्शन परम्परित नई-नवोढ़ा के अवगुंठन के उठाए जाने के मधुर व्यापार से समतुलित हो उठता है—

'स्वस्थ नवोढा आज़ादी का घूँघट खोल दिखा देना है',[1]

एक अनगढ़ कलात्मकता जो उनके वर्ण्य के अनुकूल हो सकती थी, अग्रवाल की कविताओ मे सर्वत्र वर्त्तमान है। केदारनाथ अग्रवाल ने, ऐसा नहीं है कि प्रगति के सिद्धान्त-पक्ष की उपेक्षा की हो। जिस प्रकार शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने पुरा-पौराणिक एव सास्कृतिक प्रतीको को नये सन्दर्भों मे सार्थक बनाने का प्रयास किया है और प्रगति का गायन और अधिवक्तृत्व किया है, उसी प्रकार अग्रवाल ने भी ग्राम-प्रकृति, वन्य-जीवन आदि की मनोरमता के साथ प्रगति के सन्देश को भी भावोच्च किया। मार्क्सवादी क्रान्ति-चेतना की लहर का 'नींद के बादल' मे बडा ही भाव-परक चित्रण किया है—

'बड़ी सुन्दर लहर न जाने किस सागर की,
गहने पहने, सम्मुख आकर,
पुलकाकुल बाहों में भर कर,
गले लगा लेती है मुझको।

['नींद के बादल', पृ० २९-३०]

'युग की गंगा' मे पृ० ५२ पर श्वेत प्रसार खण्ड में नग्न-नारी की सुन्दर देह की चिर-प्रतीक्षा-भरी अपलक मूर्ति का भाव-भीना और हृदय-वेधक सौन्दर्य, उनकी रूप-लालसा और नारी-आकृष्टि की स्वस्थ भावनाओं की प्रमाणक रचना है। प्रगतिवादी कवियों मे जो भी भाव-शील और अनुभूति-परक रहे हैं, शरीर सौंदर्य का मुक्त और निर्निषेध चित्रण किया है। सुमन, केदार, अचल, प्रभाकर माचवे आदि के नारी-वर्णन उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है। ये भौतिकवादी रहे हैं, अतः सामन्ती विलास से विलग जीवन-जगत् के स्वस्थ भोग का इन्होंने नकार नहीं किया।

---

१ केदारनाथ अग्रवाल, 'हंस', जुलाई, १९४८ (कामधेनु-सी कांग्रेस अब)

नागार्जुन—

प्रगतिवादी कवियों मे नागार्जुन का स्थान भी महत्वशाली माना गया है। कथ्य और भाषा को अपनी अनुभूतियों और व्यंग्यविद्रूपों के अनुकूल गढ़ने-मोडने के कारण इन्हे प्रयोग की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण समझा जाता है, पर प्रगतिवाद और मार्क्स-दर्शन के प्रति अरुचि-विरुचि रखनेवाले 'अज्ञेय' जी ने अपनी दूरदर्शिता की दृष्टि से, डॉ० रामविलासशर्मा को ही 'सप्तक' के उपयुक्त समझा, नागार्जुन या अग्रवाल को नहीं। प्रयोग करते हुए भी, इन कवियों ने भाषा-संयोजना मे वैयक्तिकता को महत्वपूर्ण न मानकर सार्वजनिकता और सुबोध अर्थ-व्यंजकता को अपना आदर्श रखा। भाषा-भाव के क्षेत्र मे इनकी प्रयोगशीलता और नवीनता जनबोध की सहजता को ही अपना प्रतिमान मानती रही। वय क्रम मे नागार्जुन 'अज्ञेय' आदि से पूर्ववर्त्ती हैं। प्रगतिवाद उनके लिए न केवल बौद्धिक सिद्धान्त है, वरन् उनकी जीवन-परिस्थितियों और परिवेश-गत यथार्थ की माँग भी रहा है। वे मूलत. ग्राम के निवासी और कृषक-वर्गीय परिवार के प्रबुद्ध व्यक्ति रहे हैं, अतः असंगति, विसंगति ('नयी कविता' के आलोचनात्मक अर्थ मे नहीं), विद्रूप, अन्याय, असमानता, अत्याचार, शोषण, विभेद और उच्च-वित्तीय षड्यंत्रों से उनका प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा है और इसी से उनका कथ्य अधिकाशतः व्यंग्यात्मक, विडम्बनात्मक और विद्रूप के तीखेपन से युक्त रहा है। 'प्रेत का बयान' कविता में भुखमरी और उच्च-सत्ता-वर्ग की निष्ठुरता पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया गया है :

" 'ओ रे प्रेत—'
कड़ककर बोले नरक के मालिक यमराज—
सच-सच बतला !
कैसे मरा तू ? भूख से, अकाल से, बुखार, कालाज़ार से ?
पेचिश, बदहज़मी, प्लेग, महामारी से ?
कैसे मरा तू, सच सच बतला !"
कविता की अन्त की पक्तियॉ है—
'सुनकर दहाड़ स्वाधीन भारत के भुखमरे,
स्वाभिमानी, सुशिक्षक प्रेत की

रह गये निरुत्तर,
महामहिम नरकेश्वर।"

सामान्य जन-जीवन के प्रश्नों और विडम्बनों को, नागार्जुन अपनी कल्पना से उद्भूत हास्य-विनोद कर किन्तु गम्भीर आघात कर प्रसंगों के तार-तार धुनकर रूई-सा उडा देने की कला मे निष्णात हैं। उक्त कविता मे एक कायस्थ प्रायमरी अध्यापक की परिस्थितियों का मर्मोद्घाटन किया गया है। पाडित्य और गम्भीर अध्ययन होने से, कवि जहाँ स्वयं बोलता है, वहाँ 'तदनन्तर शान्त स्मित स्वर मे प्रेत बोला' जैसे पद-समुच्चय सहजता से आ जाया करते है। इनकी कविताओं की भाषा सामान्यतः पात्र और परिस्थिति के अनुसार है और उसमे सुपरिचित भाव-भंगिमाओं, उक्ति-प्रणालियों और मुहावरों का भी प्रवाहमय प्रयोग हुआ है। नागार्जुन की दृष्टि प्रमुखत व्यक्तिगत यथार्थ की अपेक्षा वर्ग-गत और सामाजिक यथार्थ पर धँसती रही है। वाक्य-विन्यास सीधा और जनात्मक होता है तथा अनावश्यक जटिलता और कलात्मक सगुफन उनकी मूल रुचि नहीं रही है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् शोषण की बढ़ोत्तरी तथा स्पष्ट दो वर्ग (शोषक-शोषित) बन जाने की बात दो-टूक कह दी गयी है:

'बात-बात पर नाक रगड़ना पड़ता है इंसानों को।
हरी फसल चरने को छुट्टा छोड़ दिया हैवानों को।'

× × ×

'पुलिस और पल्टन के हाथी कितना चारा खाते हैं।'

संस्कृत काव्य-परम्परा से निकटत: परिचय-प्रगाढ़ता के कारण, नागार्जुन की कुछ कविताएँ प्रगतिवादी वैचारिक भाषा-प्रयोजना से भिन्न, एक काव्यात्मक स्तर पर पूर्ण कला-सज्जा के साथ निरूपित हुई हैं। 'भस्माकुर' और 'बादल को घिरते देखा है' नामक कविताएँ इसके उदाहरण मे प्रस्तुत की जा सकती हैं। 'भस्माकुर' कविता पुराण-वृत्त पर आधृत मदन-दहन के प्रसंग को लेकर रचित हुई है। देवता चाहते हैं कि वीतराग शिव पार्वती से रागारुण होकर युगनद्ध हों और गौरीनदन स्वामी कार्तिकेय के सेनापतित्व मे भयानक राक्षस तारकासुर का वध हो। काम अपने को दूसरों के हित मे भस्म कर 'सार्थक-नाम' होना चाहता है। पर-कल्याण और लोक-हित के हेतु आत्म-बलिदान को वरण करने की सार्थक गरिमा को यहाँ पुराण-कथा के माध्यम से उभारा गया है और प्रगतिशील भावना

को अपनी संस्कृति की परम्परा मे भी ढूँढ़ने का सुन्दर प्रयास हुआ है। विचार-प्रेरणा प्रगतिवादी है, पर भाषा-विधान वृत्त की पौराणिक गरिमा के परिवेश से अनुरंजित है :

'अपनों के हित आऊँ यदि मै काम,
समझूँगा, सार्थक है अपना नाम।'

वसन्त की छटा का नितान्त सास्कृतिक भाषा और जीवन-परिवेश में चित्रण किया गया है। यहाँ कवि की सस्कृतज्ञता दर्शनीय है। प्रगतिवादी व्यंग्य-विद्रूप की रुक्ष भाषा एक अभिनव परिधान उठा लेती है :

'पग-पग पर ऋतुपति का छवि-संभार
दिशा-दिशा में किशलय-कुसुम-प्रसार
विविध गंध बंधुर समीर-संचार,
पिक-रव अलि-गुंजन झिल्ली-झंकार।'

संस्कृत के तत्सम पदों का चयन, समस्त योजना, नाद-प्रसृति और भाषा-भाव-लय की समरसता की यह खोज 'निराला' की भाषा-बंध-शैली का विकास समझा जाना चाहिए। दूसरी कविता 'बादल को घिरते देखा है' भी इसी भाव-भाषा-भूमि पर अपना रचना-श्रृंगार करती है। इसमें गिरि-शिखर पर बादलों के घिरने की छटा और उसके प्राकृत एवं मुक्त-मन से किये गये भोग का रमणीय चित्रण है। 'पन्त' की 'बादल' कविता में बादल के नाना रूपों का वैविध्य कल्पना की दूरस्थ कूँची से उरेहा गया है, पर यहाँ एक विशिष्ट पर्वतीय परिवेश मे बादल-सुषमा के आदिम रस का पान किया गया है :

'तुंग हिमालय के कंधों पर
छोट-बड़ी कई झीलें है,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर विस-तन्तु खोजते
हंसों को तिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।

यहाँ कल्पना मे खोज-खोज कर उतारे गये बादल के विविध चित्रों की अपेक्षा, उस पर्वतीय परिवेश मे मेघावतरण से समन्वित सारे रमणीय परिवेश और उसकी मार्मिक सुषमता को सहज भावोच्छ्वास की भाषा-लय मे खचित किया गया है। कवि ने वहाँ धनपति कुबेर, अलका और उसके विश्व-मोहक चितेरा कालिदास को भी स्मृति-तरल किया है। शृंगार-चित्रण की एक झाँकी अपनी भाव-मूर्च्छना मे अद्भुत रूप से कलात्मक हो उठी है :

नरम निदाग बाल-कस्तूरी
मृगछालों पर पलथी मारे
मदिरारुण आँखोंवाले उन
उन्मद किन्नर किन्नरियों को
वंशी पर फिरते देखा है
बादल को घिरते देखा है।'

ये रचनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि नागार्जुन कविता को केवल सैद्धान्तिक और साम्प्रदायिक विचार-परिधि का व्यायाम नहीं मानते। युग-धर्म, तात्कालिक आवश्यकता, समाज मुक्ति, अन्याय-अत्याचार के शोषण और नव्य मानवीय सम्बन्धों के प्रस्थापन की ऐतिहासिक माँग के नाते वे अधिकाशत. उन सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक व्यामोहों के निर्मोकों को तोडकर मानवता को शोषण—मुक्ति दिलाने हेतु अपने कवि-कर्म का सामाजिक-सामूहिक नियोजन भी करते है, किन्तु उनके लिए मानवीय चेतना के मूल रस-स्रोत उपेक्षणीय नहीं हैं जो उसके जीवन की सार्थकता के प्रमाण है।

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

'अंचल' प्रगतिवादी कवियों के बीच अपना एक व्यावर्तितव्य स्थान रखते हैं। उन्हे एक सुदीर्घ पिष्टपेपी गड्डलिका-प्रवाह से सहजतया अलग भी पहचाना जा सकता है। मार्क्स-दर्शन के वे विचारक-चिन्तक भी रहे हैं और रचनाधर्मी कवि भी। उनकी इसी रचना-धर्मिता को पहचान कर

आचार्य 'वाजपेयी' ने उनकी अलग से प्रवर्धना और अभिनन्दना की है। उनकी वाणी में प्रगतिवाद का ओजस और वर्चस्व अवश्य है, पर डा० सुमन की भाँति, उनमे भी एक कवि-सुलभ भावुकता और अन्तर्मुखीनता है जो उन्हें मन के सरस् कोणों और हृदय की अन्त रस-स्रोतस्विनियों तक ले जाती है। उनके मासल रोमास को प्रगतिवादी बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखते होंगे, पर उनकी वाद-प्रवण रचनाओ की शक्ति को देखकर उन्हे प्रगतिवाद की सूची से निकाल भी नहीं सकते थे। हर भौतिकवादी मार्क्सवादी, जब शृङ्गार, प्रेम-सौन्दर्य और जीवन-धर्मी रोमान तक जायगा तो वह छायावादी कवियों की भाँति सूक्ष्मतावादी, कल्पनानन्दी और वायवीयता का आस्वादक नहीं हो सकता। मासल सौन्दर्य की रसात्मकता का मादक चित्रण इनकी शृङ्गारी कविताओं एवं गीतों का मूल लक्षण है। इस मादकता पर अनेक कोणों से आक्षेप भी हुए हैं, पर 'अंचल' इस अभिव्यक्ति से विमुख नहीं हुए, यह उनकी रचना-धर्मिता का प्रमाण ही कहा जायगा 'किरण बेला', 'लाल-चूनर, 'मधूलिका' 'अपराजिता', 'विराम-चिह्न', 'वर्षान्त के बादल' आदि श्री 'अंचल' के महत्वपूर्ण काव्य-संकलन हैं, जिनमे मासल रोमानी मस्ती, प्रेमोन्माद, रूपसौन्दर्योच्छ्वास और हार्दिक तरलता के साथ, प्रगतिवादी क्रान्ति के मानवता-परक उद्गार अभिव्यक्त हुए हैं। श्री 'अंचल' न केवल प्रगतिवादी कवि, वरन् विचारक-समीक्षक भी रहे हैं। 'साहित्य मे प्रगतिवाद' नामक उनके समीक्षा-ग्रंथ में प्रगतिवादी दर्शन, प्रगति के साहित्य-दर्शन और प्रगति-काव्य की मूल मान्यताओं पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

'अंचल' ने रोमानी एव प्रेम-सौन्दर्य-परक रचनाओं मे मासलता के उद्गारक विशिष्ट संवेदक रगो और उनसे रचे विशेषणों का सुन्दर प्रयोग किया है जो इन स्थलों पर उन्हे 'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा के समानान्तर खड़ा कर देते है। कपूर, संगमर्मर, सिन्दूर, रक्त, चम्पा, हल्दी आदि के रंगों और उनके रूप-रग-व्यजक विशेषणों के तद्भव रूप बडे प्रभाव-पूर्ण ढंग से प्रयुक्त हुए हैं। छायावाद ने 'अप्रस्तुत' रूप मे पुष्पों और मणियों (मुक्ता, माणिक्य, नीलम, पुष्पराग, रजनीगधा, हरसिगार आदि) के सज्ञा प्रयोगों से 'द्विवेदी-युगीन' अप्रस्तुत-विधायक और रग-योजना मे नवीनता का द्वार खोला था। 'अचल' और नरेन्द्र शर्मा आदि ने उत्तर-छायावाद एवं छायावादोत्तर काल मे जीवन के निकट पदार्थों, पुष्पों और रंगों के तद्भवात्मक विशेषणों के ताजे प्रयोग किये हैं। नारी का रूप-सौन्दर्य

और रक्तगत आकर्षण-सवेदन इनमें तीव्रतर हुआ है। 'अचल' मे कपूरी, मर्मरी, सिन्दूरी, आवारा, रक्तिम, चम्पई आदि विशेषण बड़े सहज रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'गोती रात' चॉदनी और 'कर्पूरी शिखर' हिमोज्ज्वल चोटियों का रूप उभारने मे सुप्रयुक्त हैं। 'वर्षान्त के बादल' पृ० २१ पर 'सगमर्मरी झरना' पद निर्झर के उज्वल निर्माण को साकार कर देता है। वहीं पृ० ८८ पर 'सिन्दूरी स्नेह' शब्द आया है जो प्यार के साथ विवाहिता का तथ्य भी व्यजित कर देता है। 'लाज रक्तिम मान' लज्जा और रूप-गर्व तथा 'कसमसाती जाफरानी प्यार' पद रूप-प्रेम, लज्जान्त पलकों, मादक आकर्षण आदि के सन्दर्भ को साकार कर देते है। 'लाल चूनर' पृ० ७, ३३ एवं ३५ पर 'चम्पाई रेशमी पर्दा' 'मुस्कानों की गोरी प्याली,' 'गुल्लाल सी ऑखें', 'कनक-सी देह' आदि प्रयोग रूप, सुषमा, हाव, अनुभाव और अनुभूति भगिमा को भाव-भरी लक्षणाओं से उद्भासित करने मे अतीव सफल हुए हैं।

'अचल' ने प्रगतिवादी कथ्यों को भी अपनी कविताओ मे उकेरा है:

(१) 'किन्तु कहाँ वह उदर भरा रह जाता है सुख से दो दिन,
पीसा करते हैं पिशाच दे रोटी के टुकड़े गिन-गिन।'

('मधूलिका')

(२) मुट्ठी भर दानों की तृष्णा महाक्रान्ति को आग लगाती,
आज क्षुधा इन कंगालों की सोये ज्वालामुखी जगाती।'

('किरन-बेला')

भूखे शिशुओं की चीत्कारें, ऑसू से सूखे नेत्र, सूखी-मिचुड़ी-चुसी हड्डियाँ, मुट्ठीभर दाना, शोषको का पैशाची रूप, धनिको से गरीबीनियों की लज्जा की लूट, धनपतियों के अत्याचार, सूखे शिशु, अस्थिपजर, दलित शरीर, उदर मे आया अनाहूत शिशु-आदि तथ्यों के वितृष्णा, रोष, घृणा, विद्रोह, असन्तोष और आक्रामक प्रहार 'अंचल' मे भी उसी प्रकार आते रहे है जैसे अन्य ढर्रे पर चलने वाले प्रगतिवादी कवियों मे। अकाल, रोग, भुखमरी, जी तोड परिश्रम के बाद आधा भोजन, टूटता पाँजर, धँसी आँखें कुचैल-लदे शरीर, कल-कारखानों मे रिसते-तपते श्रमिक, गन्दी बस्तियाँ, धुमैले प्रात, धुँधली शामे, टूटे छप्पर, चूते घर, अंधी झोपड़ियाँ, दिया बिना उदास अँधेरे घर, बढ़ते त्रास, अन्नाभाव आदि घिसे पिटे दैनिक बहिर्दृश्य 'अचल' की प्रगतिवादी रचनाओं के परम्परित विषय हैं। यहाँ लक्षणाओं

से अधिक अभिहित कथनों का ही प्राधान्य है। भाषा बौद्धिक, वर्णनात्मक, सपाट, आक्षेपात्मक, चित्र-विहीन और विचारावेग से आन्दोलित रही है। इसमें कविता-तत्व और भाषा की सरचनात्मक अन्वेषणा तथा नये प्रयोग नहीं गृहीत हुए हैं। सच तो यह है कि 'अचल' के कवि के दो व्यक्तित्व है १. प्रगतिवादी २ रोमानी। प्रगतिवादी 'अंचल' पक्ति मे खडे उस साहित्यिक जुलूस में उसी प्रकार मुट्ठिया बाँध और बाहे तानकर कविता मे नारे देते चलते दिखाई पडते हैं जैसे अन्य शिविरबद्ध प्रगतिवादी कवि। रोमानी 'अंचल' अपने मानवीय, मन मानव-हृदय और रूप-सौन्दर्य की उस तृषा के आकलन में कविता को सहायिका बनाते है जो 'छायावाद' युग मे पनपी, 'उत्तर-छायावाद युग' मे फैली और 'छायावादोत्तर मानववादी गीत प्रगति धारा' में आगे सजाई सँवारी जाकर आज तक विकसित होती आ रही है, जिसमे प्रो० क्षेम, डॉ० शम्भुनाथ सिंह, रमानाथ अवस्थी, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, भारत भूषण और सोम ठाकुर आदि के गीत विकसित परिमार्जित हुए हैं।

शील—

प्रगतिवादी कवियों मे 'शील' का भी एक जाना-पहचाना स्थान रहा है और प्रगतिवादी आलोचको ने गम्भीर रूप से उनकी चर्चा भी की है। यह दूसरी बात है कि प्रगतिवादी घेरे के बाहर शुद्ध साहित्यिक समीक्षकों ने उनकी चर्चा न की हो या उनमे वे विशेष चर्चित न रहे हों, पर डा० रामविलास शर्मा और डा० प्रकाशचन्द्र गुप्त और श्री शिवदान सिंह चौहान आदि प्रगतिवादी समीक्षकों ने गम्भीरतापूर्वक उनका उल्लेख किया है। कुछ नये आलोचकों एवं काव्य-संपादकों ने उन्हे उस श्रेणी के रचनाकारों मे भी परिगणित किया है जो प्रगति या प्रयोग की परिधियों के भीतर रहते हुए और बाहर भी ऐसी रचनाएँ करते रहे है जो समकालीन काव्य-सृजन के क्षेत्र मे उच्चकोटि की रचनाएँ रही हैं।[1] प्रगतिवादी आलोचक भी यह मानते रहे हैं कि यद्यपि वर्ग-शोषण की प्रवृत्ति के विरोध के कारण प्रगतिवादी भारत की पारम्परिक सस्कृति का विरोधी है, पर अपनी समाजवादी साम्य-व्यवस्था के अनुकूल भारतीय संस्कृति के पुरा सन्दर्भों मे जो भी तत्व या प्रसग ऐसे है जो उसके पोषक हो सकते हैं,

---

१ द्रष्टव्य—'आयाम', सं० विश्वनाथ गौड, ललित शुक्ल, राज कमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६३,

प्रगतिवादी उनको समेट कर एवं नवीन के साथ सम्बद्ध कर उन्हें विकसमान बनाये।[1] पर ऐसा कम ही प्रगतिवादी कवियों ने किया है। शील ऐसे कवियों मे हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति के पौराणिक सन्दर्भों को वर्तमान और समकालीन के रेखाकन-अभिज्ञापन मे उपयोजित किया है

'कितना है यह सत्य भयानक मधुर स्वप्न में अग्नि-सिन्धु-सा,
आच्छादित अंगूर-बेलि से सूखे हुए बबूल वृक्ष-सा,
अर्जुन की छलना से दोहित एकलव्य-सा,
धर्म-भीरु कुलहन्तवर्ग की अन्तिम साँसो से आन्दोलित—
गोहत्या के सत्याग्रह-सा।'

['सत्य' शीर्षक कविता]

प्रगति-विश्वासी दृष्टि से देखा-पहचाना गया यह सत्य कितना भयानक है कि मानव-मात्र और संसार के कर्म-रत, सघर्ष-रत और श्रम-रत मजदूर सभी एक हैं, किन्तु इस सत्य को हर-कहीं झुठलाया जा रहा है। कवि का सन्देश है कि सुख-दु ख, भोग-विलास, नस-तोड मिहनत या साहित्य-रचना या और जहाँ कही भी मानव का पसीना बह रहा है, वह श्रम ही सबसे महत्व-पूर्ण है। कलाकार, चित्रकार, वयन-कला-कर्मी, मचान पर गाते किसान, साँचा चलाती उँगलियों वाले मजदूर, युद्ध-रत सैनिक, किस्सा कहती बुढ़िया और चीनी-रूसी-हिन्दुस्तानी या ईरानी सभी एक सा पवित्र श्रम करते मानव है, जिन्हे यह सत्य गाँठ बाँध लेना है :

'अपना सत्य मानवी ममता,
अपना सत्य साहसी ममता,
जहाँ कही भी हो तुम मित्रो!
जीवन-सुख की मधुर कल्पना के स्वामी हो।'

['सत्य' कविता]

समूची 'सत्य' शीर्षक कविता मे एक विचित्र प्रवाह, लय और आनुभूतिक सत्यता है जिसे कवि एक सास मे लगातार जैसे अगुलि-निर्देश करता जा रहा है। कविता का परिवेश बडा विराट् है। सम्पूर्ण विश्व और उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रसार मे कवि कुछ कोमल,

---

१. डॉ० राम विलास शर्मा, 'प्रगति और परम्परा', पृ० ६६–६७.

मधुर, कटु और मार्मिक संकेत-सन्दर्भों के माध्यम से उन्हें जोड़कर एक सत्याभास से सजीव करता चला जाता है। श्रम, युद्ध, ब्याह, कृषि, कला-सर्जना, प्रकृति की मनोरमता और भयावहता में सर्वत्र एक अन्तर्हित सत्य को उद्भासित कर देता है। ऐसी भाव-पूर्ण, मार्मिक और आनुभूतिक निष्ठा से लिखी गयी कम ही प्रगतिवादी रचनाएँ ढूँढ़ने पर मिल सकेंगी। शोषण, पीड़न और दोहन के व्यापार भी समानान्तर रूप से रेखाकित होते गये हैं।

शील की 'शरद पूर्णिमा की रात' रचना भी कई दृष्टियों से महत्व-पूर्ण है। कवि शरद-पूर्णिमा की प्रकृति छटा को सर्वप्रथम आदिम हृदय की भाँति पीता है :

'खोले नयन किंशुकी जुन्हाई में आत्मसात्
डूबी हुई कल्पना-परिधि रश्मि-सिन्धु में।'

कवि ने 'वेद-पाठी' के अप्रस्तुत से शीशम और बेल के समन्वित ससर्ग को सुन्दरता और मार्मिकता से उभारा है .

'शीशम पर घैली फैली बेल,
वेदपाठी की प्रतिभा-सी—
मौन पी रही है ज्ञान, शशि के सौन्दर्य का।'

कहीं कहीं लगता है प्रगतिवादी कवि छायावादी कवि के साथ एक हाकर क्षण भर प्रकृति की मोहक-मादक सुषमा मे डूबने लग जाता है :

'झॉक जाते तन्द्रिल, उनींदे दो प्यासे नयन,
हाँ या नहीं की प्रतीक्षा में।
पी लेता एक घूँट—
इस अनदेखी वेदना का।'

कवि सहसा अतीत की सुदूर वीथियों मे पहुँच जाता है जहाँ उसे क्रौंच की व्यथा वाले वाल्मीकि की स्मृति बेधने लगती है और उसे क्रौंच की व्यथा मे स्वयं वाल्मीकि की मानवी व्यथा की झकार सुनायी देने लगती है। फिर यह व्यथा-स्मृति उसे समकालीन व्यथा से जोड़ देती है, वह लहरों मे विद्रोह, दिशाओं मे आन्दोलन अनुभव करता हुआ, इस मुक्त चॉदनी मे स्वामी, दास-दासी की कुत्सित परम्परा के शूल से बिँध जाता है। इस 'ज्योति जीने की बेला' मे उसके कवि की अन्तवर्त्तिनी और भस्मावृता आग जग जाती है और वह वाल्मीकि-सा अपने युग की कथा

आँकने की कुरेद का अनुभव करने लगता है। 'मठों के देवता डोले' कविता में शील का कवि शोषण और अत्याचार को मौन सहने-देखने से ऊब कर युगों की मान्यता और युगों की सभ्यता की सचाई आँकने लगता है, कला की परम्परित परिभाषाओं को तोलने लगता है। उसे प्रगति-पथ की नयी रेखा कौंधती दिखाई पड़ने लगती है :

'प्रकंपित चकित होकर कुनमुनाई कला की व्याख्या,
मुड़ी जब वक्र-बिजली-सी प्रगति-पथ की नयी रेखा।'

उसे पीड़ा का एक सामूहिक स्वर सुनाई पडता है और उसके कवि का तिमिर-हन्ता कल्पना-आलोक उतर पडता है। इस प्रकार कवि अपनी कल्पना और चिन्तना के इस आलोक मे कवि का नया सत्य और युग-धर्म प्राप्त कर लेता है कि उसे इस जन-पीड़ा को समाप्त कर नये समाज के अवतरण मे कलम का सिपाही बनना चाहिए।

शोषक तत्वों के प्रति उसके हृदय मे गम्भीर आक्रोश और तृष्णा खौल उठती है। इसी प्रकार युद्ध उत्पन्न कर जन-समाज को भूनने और अपनी तिजोरी भरनेवालों के प्रति भी कवि आक्रुष्ट हो उठता है—

चिन्तित काल दस्यु के सहचर।
कोढ़-खाज की खेती करते।
कलह-कंगूरे उठा सजगता पर काँटों की मेंड़ बाँधते।
युद्ध तृषा मे जलते-भुनते,
श्मशान के पीपल तरु यह।

मार्क्स के अनुसार पूँजीवादी जन-जागरण को दबाने और उन्हे आपस मे विभाजित करने के षड्यन्त्र मे युद्धों की दुरभिसधियाँ रचते हैं। वह कहता है—

'जहाँ कहीं भी हो तुम मित्रो!
यह रहस्य जन-जन से कह दो!
यह अनर्थ सबको बतला दो!'

['सत्य कविता' से]

'शब्द-बीन' कविता में प्रगतिवादी कवि की कविता के अक्षरों को शील 'गर्भवती आशा की तह मे, फूट पड़नेवाले अकुर बतलाते हैं जो जन-समूह के पुत्रवत् सहायक बनेंगे।

यह रचना अपने तंत्र में किंचित् प्रयोगमुखी है। 'नदी', 'भँवर', 'धार', प्रमाद', 'लाठी' और 'तरंग' क्रमशः जन-प्रवाह, विघ्न, जन-समाज के अग्रतर विकास, प्रमादी पूँजीशाहों और साम्राज्यवादियों, अत्याचार और दमन से और बढ़ानेवाली नव-चेतना के उपलक्षण (अप्रस्तुत अथवा प्रतीक) बनकर प्रयुक्त हुए है। कुल आठ खण्डों में नियोजित यह रचना जनता के सर्व-वाहक अस्तित्व, जन के अनिवार्य उज्ज्वल भविष्य, सत्य और न्याय पर आधृत समाज के पथ की साध्यता, जन-मुक्ति के लिये परम्परित पथ को छोड नूतन पथ पकड़ने की आवश्यकता के प्रगतिवादी-मार्क्सवादी तत्व के प्रकाशक मंत्र-बीज के रूपों को एकत्र प्रस्तुत करती है।

'युग-पथ' शील की सशक्त कविताओं का संकलन है, जिसमे कवि देश की तत्कालीन प्रतिक्रियाओं और जनगण की सामान्य आकाक्षाओं को ऐतिहासिक सत्यों के माध्यम से भी प्रकट करता है।[1] आधुनिक तिकड़म-पंथी थैलीशाहों को वे नये अर्थ में 'चाणक्य' की भूमिका से जोड़ देते हैं :

'लगे फिर बाँधने, चाणक्य बन्धक-व्याज की सीमा।
बिछाकर-जाल,
माया द्वेष, विग्रह, छल-कपट का।
मठों के देवता डोले।

—['युग-पथ', १९४६]

'युग-पथ' मे जन-अभियान के बढ़ने का संकेत कवि अत्यन्त आशा-मयता के साथ करता है—

'संघर्षों के बीज फोड़कर, अंकुर-सी बढ़ चली जिन्दगी।
मनुष्यता की नयी सुबह में, सूरज-सी बढ़ चली जिन्दगी।

[युग-पथ, पृ० ७]

जन-क्रान्ति की हल चल 'पानी-सी प्रिय', 'आग सी स्वच्छ', 'पर्व-सी पावन', 'कृषक बाला-सी हँसती', 'उगते खेतों-सी मन भावन' 'खिलती हुई कली-सी पुलकित' और 'उडते हुए भ्रमर सी चचल', कही गयी है।[2] सारे

---

१. रामयतन सिंह 'भ्रमर', 'आधुनिक हिन्दी कविता में चित्र वि-धान', पृ० ३१६
२. 'युग-पथ' पृ० ८

अप्रस्तुत प्रकृति के सर्व दृश्य किन्तु स्थायी उपकरणों, जन-जीवन के दैनिक सन्दर्भो और सास्कृतिक प्रसगों से मार्मिकता से चुने गये हैं जिस कारण वे न केवल क्राति के प्रति जनास्था जगाते हैं' वरन् उसे जन-जीवन का आत्मीय भी बना देते है।

'उदय-पथ' उनका दूसरा सकलन है। इसमे 'नाविक-विद्रोह' के माध्यम से क्रान्ति की देश-व्यापिनी चिनगारियों को व्यापक बनाया गया है।[1] यहाँ कवि प्रचारात्मक और लाल पताका का यशोगायक बनकर अवतरित हो जाता है। अनेक रचनाओं मे मार्क्स-दर्शन के प्रकाश मे विश्व-क्रान्ति का भी सकेत किया गया है। कोरिया के पडोसी एशियायी देश की कसमसाहट पर भी कवि की दृष्टि जाती है।[2] प्रगतिवादी 'शोषित वर्ग' को 'वर्ग' के रूप मे महत्व देता है, व्यक्ति-व्यक्ति के रूप मे नहीं, व्यष्टि से समष्टि ही उसका मूल लक्ष्य होता है।[3] शील की रचनाओं में भी उनका व्यक्ति नही, समष्टि का प्रतिनिधि ही अधिक बोला है। फिर भी शील मे प्रगतिवाद का एक शील अवश्य है जो प्रचार से आगे मानव-मन के गहरे बिम्बों और चित्रों की ओर भी गया है, पर समकालीनता सर्वत्र उभर आती है और कवि तुरन्त समष्टि-मुखी हो जाता है। 'शरद पूर्णिमा की रात' जैसी भाव-सौन्दर्यमयी रचना मे भी कवि अन्ततः वाल्मीकि की स्मृति के साथ दास-दासी प्रथा की व्यथा को याद कर उठता है। शील की भाषा मे औरों की अपेक्षा अधिक गम्भीरता और शिल्प है।

डॉ० रांगेय राघव

प्रगतिवाद के आरम्भिक कवियों मे रागेय राघव का नाम भी बहु-चर्चित रहा है। उन्होंने भी पौराणिक आख्यानों और पुराख्यान-तत्वों (मिथ) को नये प्रसगों मे जोडने का प्रयास किया है। 'हंस', दिसम्बर, १९४५ मे प्रकाशित उनकी 'अरे ओ जल्लाद' कविता मे 'निर्वीर्य पापी इन्द्र', 'महान् दधीचि, 'धन कुबेर', 'पार्वती की उँगलियाँ', 'एकलव्य', 'धनुधारी अर्जुन' आदि के चरित्र-वृत्त अप्रस्तुत और प्रतीक रूप मे लिये हैं :

---

१. 'उदय-पथ', पृ० ४७

२. वही, पृ० ६३

३. 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा', शिवचन्द्र, पृ० १८५

'मैं वही हूँ एकलव्य—
कि धनुर्धारी वीर अर्जुन
डर गया था—
और तुमने ले लिया था अँगूठा
मेरा कि तेरे स्वार्थ की हो
सिद्धि ।'

इस प्रकार आज की शोषणा को पुरावृत्तों से तुलित कर उसकी संवेदना को बढ़ाने के साथ, शोषण की अनवरत परपरा को भी मार्क्स की व्याख्या के प्रकाश मे भारत के लिए सच सिद्ध किया जा सका। अत्याचार और जनता की अमरता को इतिहास के 'नादिरशाह' के प्रसग से उद्धृत किया गया है। कवि प्रगतिवादी कवियों की बृहत् सख्या का संकेत करते हुए जनता को बताता है कि पृथ्वीराज को एक चन्दवरदायी मिला था, पर जन को तो अनेक प्रगतिवादी सस्तोता प्राप्त हैं :

'चन्द का था एक पृथ्वीराज
किन्तु मेरे हो अनेकों आज !'

—['हंस', जनवरी, फरवरी, १९४७, 'यात्रा' कविता से]

देवपूजा की रूढ़ि का खण्डन करते हुए रांगेय राघव धर्म-पूजा के दुरुपयोग का भंडाफोड करते और जीवित मानव की उपेक्षा पर व्यंग्य करते हैं :

'हड्डियों की ठठरियों को देवता की कब्र कहकर
कफन हैं वे डर उढ़ाते
और मांसल जिन्दगी के ताप को
वे क्रीत दास बना उसे ही
त्याग, सत्य, सहिष्णुता कह
चूसते हैं ।'

—['हंस', नवम्बर, १९४७, 'मंजिल' कविता (पूर्वार्द्ध)]

कवि का युग-बोध इतना महत्वपूर्ण हो उठता है कि वह 'प्रस्तुत' की भूमिका से उठकर 'अप्रस्तुत' का प्रतिमान बन जाता है। रात 'कोयले की खान की मजदूरनी' तथा अंधकार 'बोझ' का उपमेय बन जाता है :

'कोयले की खान की मजदूरनी-सी रात
बोझ ढोती तिमिर की विश्रान्त-सी अनुदात।'

सामान्य श्रमिक-जन अपनी जिन्दगी को उसी पर बैठ कर गाड़ी की तरह हाँकता है। डॉ० रागेय राघव भारतीय धर्म और संस्कृति के इतिहास के अपने गहन बोध को अत्याचार के प्रसंग मे (युद्ध और आक्रमण की निन्दा मे) द्वैपायन और नागार्जुन को प्रतीक-रूप मे ग्रहण कर प्रभाव की वृद्धि करते दिखाई पड़ते है

'घहरता था सुनसान अबाध
जल गया था द्वैपापन शब्द
जल गया था नागार्जुन वाक्य
जल चुकी थी निर्ग्रन्थ पुकार।
—['पिघलते पत्थर' संकलन की 'आक्रमण' कविता]

'शम्बूक' 'एकलव्य' और 'ढाका का जुलाहा' के प्रतीक इस परम्परा को संकेतित करने के लिए सास्कृतिक इतिहास से लिये गये हैं जो अन्याय और शोषकवर्ग के अत्याचार की परम्परा का नैरन्तर्य सिद्ध करती है। 'पिघलते पत्थर' संकलन की 'आततायी' रचना उनकी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। क्रान्ति की अवश्यम्भाविता और अनश्वरता के लिए गगा और ज्वालामुखी के सास्कृतिक-भौगोलिक प्रतीक चुने गये हैं :

'गङ्गा न कभी सूखा करती
यह खून न अपना सूखा है
ज्वालामुखि को है शान्ति कहाँ
जाने वह किस क्षण फूटा है।'
—['पिघलते पत्थर' तूफान गरजता है—कविता]

कवि के अनुसार जनता मे क्रान्ति की चेतना सर्वदैव होती है .

'हर कगार के तले जल काटता फुँफकारता है।'
—['पिघलते पत्थर'-पग-चिह्न]

समाज के शोषक, मछली खानेवाले गृद्ध हैं। किन्तु कवि को विश्वास है कि वह एक दिन सूर्य-सा गिरेगा :

वहाँ उसे ऐसा विस्तार भी प्रिय है—

'तुम पुकारो हर पलक के प्यास से।
मै बहूँ हर नयन की जलधार से॥

(वही, पृ० २)

कवि एकपक्षीय विरह मे तडपा ही नही, अपर पक्ष को प्रबोधन भी देता है—

'क्षण भर हँमकर तम में बुझते तारों का भी व्यक्तित्व प्रिये
बनते-बनते मिटनेवाले सपनों का भी अस्तित्व प्रिये॥
याचना यही है जीवन की कुछ पूरी हो कुछ शेष रहे
हर एक प्यार का हासों से कब हो पाता है अनुरंजन!
जाने दो प्रेयसि जाने दो!!

(वही, पृ० ४)

विपत्तियो मे भी हँसते चलने का उद्‌बोधन 'जीवनतरी' के प्रथम गीत का प्राण है—'मनुज हूँ प्रिये, नागकी उर्मियो से अमर सर्जना की तरी मै बहाऊँ।' मिलन और रूप के ऐसे भाव-सजल, कल्पना-प्रेरक और मार्जित गीत इस पीढी मे बहुत कम लिखे गये। कहीं-कही ऐसा लगता है जैसे छाया का अतिरेक प्रवण प्रवाह कुछ क्षणो को एक सन्तुलन पर थरथरा उठा हो। अपनापन और मार्जित भावों की तन्मयता के साथ स्थितियो के मर्म भरे कान्त चित्र सरसता और मर्यादा के सगम है। इन गीतों की दूसरी प्रमुख विशेषता है, विचारों का भावीकरण और भावो का विचारीकरण। भावो के साथ विचारो का सगुम्फन जहाँ अधिक सप्रयत्न नहीं है, एक विचित्र तेज पैदा करता है। मयादा की रक्षा मे कार्य सदैव सचेष्ट है। सुहाग-रात पर लिखे गये गीत की अन्तिम पक्ति प्रमाण है। वह अश्लीलता की स्याही से चित्र-पट पर किस प्रकार निष्कलक निकल गया है :

'अलस सो रही पाशों में रस की रिमझिम बरसात।
अनंगिनि, आज मिलन की रात॥

'बीत चली लो रात', 'आज मिलन की रात', 'तुम जानो कि मै जानूँ' जैसे 'जीवनतरी' के और 'आकाश चाँदनी बरस रहा', 'बरसो सुषमा के घन

बरसो' आदि 'ज्योतितरी' के गीत इस कल्पना और कला से अत्यन्त सम्पन्न है। 'क्षेम' जी के गीतो का दूसरा प्रेमरूप दाम्पत्य प्रेम है। ये गीत मिलन-प्रधान और रूप, भोग तथा प्रणय से अत्यन्त सम्पन्न है। इनमें परिवारिक जीवन को सुखद बनने की शक्ति और हृदय को बल देने की क्षमता है। ये गीत रूप-प्रेम, आस्वाद एवं भोग से जहाँ ओत-प्रोत है, वही रूपातीत दृढता, आस्वादातीत त्याग और भोगातीत औदार्य से समृद्ध भी। सच्ची बात तो यह है कि रूप, भोग और प्रेम जहाँ स्वयं अपने लक्ष्य न होकर जीवन के साधन और आत्म-विस्तार के द्वार बनते है, वहाँ ये 'विष' से 'भस्म' बन जाते। स्वस्थ भाव तो वह है जहाँ इनसे मानवता का विकास और व्यक्तित्व का विस्तार हो। यह निसकोच कहा जा सकता है कि कल्पना और यथार्थ, विचार और भाव, भोग और त्याग तथा स्वप्न और सत्य का जो सन्तुलन हमे इन गीतो मे प्राप्त होता है, वह इस पीढी के अन्य कवियो मे अत्यन्त विरल है। शम्भुनाथ सिंह के रूप-प्रेम-गीत ऐन्द्रियता-प्रधान और तृष्णामय है। शास्त्री जी के प्रेम-गीत कला और आदर्श से एकागी है। हंस-कुमार जी के गीतो मे भाव-सघनता तो है, पर प्रवाह कम है। उन पर 'रवीन्द्र' का प्रभाव गाढ़ा है। 'भारती' के प्रेम-रूप के गीत स्वप्न और कल्पनामय है। 'क्षेम जी' के गीतो मे घरेलूपन और हार्दिकता के साथ-साथ उन्नयन की आकाक्षा सदाशयता और उदात्तता का व्यवहारिक सस्पर्श भी विद्यमान है। इनमे न बच्चन सी मासलता है और न भारती सी काल्पनिकता, न शम्भुनाथ सिंह सा ऐन्द्रियतातिरेक और न शास्त्री जी और हसकुमार तिवारी जी सा शास्त्रीय घटाटोप! वे परिचित और जीवन-सहज भाव सुसस्कारो और सदादर्शों की भूमि पर हृदय को छूनेवाले तो है ही, विचारो को सतेज करने-वाले भी है। धरती और आकाश की भाँति प्रिय-प्रिया मिलन कितना व्यंज-नामय है—

'प्रिये, इस धरा-सी हमारी रहो तुम,
प्रिये उस गगन-सा तुम्हारा रहूँ मै।
घिरेगी दुखों की घनी रात काली।

(जीवनतरी)

इन कवियो के अतिरिक्त अन्य कवियो के अन्दर हमे वैयक्तिक प्रेम-व्यापारो के आधार पर लिखी अनेक ऐसी कविताएँ मिलेंगी जिनमे उन्होने अपने प्रेमाभावो की मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस खेवे तक आते-आते हम देखते है कि प्रेमाख्यानक लघु काव्यो की परम्परा भी प्राय: समाप्त हो चली और उनका स्थान गीतो अथवा प्रगीतो ने ले लिया। गीतो और प्रगीतों के माध्यम से जिस प्रकार प्रेम की अभिव्यक्ति हो रही है उससे प्रेमानुभूतियो को व्यक्त करने की क्षमता इसने सिद्ध कर दी।

कवि-सम्मेलनो के बढते हुए प्रचार तथा जीवन की अत्यधिक व्यस्तता ने काव्यरूपो को प्रबन्ध तथा लघु काव्यो से हटाकर प्रगीत-मुक्तको तक पहुँचा दिया है। परिस्थितियो की माँग तथा गेय तत्वो के प्रति बढती हुई लोगो की रुचि ने हिन्दी-साहित्य को प्रेम गीतो के द्वारा धनी बनाया है। इस खेवे के कवियो ने अपनी रचनाओ द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि एक सुन्दर साहित्य की सृष्टि के लिए लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति से बढकर दूसरा कोई अन्य शाश्वत मानवीय तत्त्व नही है जो कभी न तो जूठा होता है और न इसका गान कभी बासी। कबीर से लेकर महादेवी तथा आज के कवियो तक का यह प्रिय विषय रहा है किन्तु इसमे नित्य नवीनता आती ही रही। आधुनिकतम प्रेम-गीतो की जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह कि इसका गायक न तो अपने को धोखा देता है और न सहृदय पाठक को ही। यदि वह किसी सुन्दरी के फीरोजी होंठो को देखकर आकर्षित हो जाता है और अपनी आकुलता को सँभाल नही पाता तो उसे जरा भी कहने मे हिचक नहीं रह गयी है—

'किसी के फिरोजी होंठों पर
बरबाद मेरी जिन्दगी है!' (धर्मवीर भारती)

यदि वह किसी सौन्दर्य से अपने को अभिभूत हुआ पाता है तो उसे उसकी महत्ता स्वीकार करने मे किसी प्रकार का सकोच नहीं है—

किसी के रूप के बादल
हमें सोने न देते है,
हमें रोने न देते है।
कभी पल एक भी अपना
हमें होने न देते हैं।
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल। (शम्भुनाथ सिंह)

इतना ही नहीं बल्कि अतृप्त प्रेम की वेदना से वह इतना परिचित हो गया है कि वह दूसरो को उस स्थिति मे देखना भी नहीं चाहता। वह समानधर्मा होने के नाते अन्य प्रेमियो को सजग भी करता जान पडता है, जिससे सहसा कह उठता है, 'टेर रही प्रिय तुम कहाँ' (शम्भुनाथ सिंह) उसका यह तुम 'सब' के लिये भी हो सकता है पर इस प्रकार के गीतो द्वारा एक उदात्त प्रेम का जो स्वरूप उपस्थित किया गया वह आरम्भ मे कम ही दिखाई पडता है। इस खेवे के कवियो मे प्रेम-पात्र के प्रति इतना सहज विश्वास है कि यह जानते हुए भी कि भविष्य मे मिलना कठिन ही है। वे अभाव मे आँसू बहाकर अमगल की सूचना नही देना चाहते। किन्तु हँसते इसलिए नही कि उन्हे विरह दु:खद नही है बल्कि उसकी सीमा तो इतनी बढ गई है कि सुख और दुख अलग रह ही नहीं गए है। हँसी तो ऐसी ही है जैसा कि एक शायर ने कहा है :

> 'यह दर्द ही है कि हँस रहा हूँ
> वरना आँखों में न कम है आँसू।'

परन्तु आज का कवि उससे भी दो कदम आगे है। यदि कोई परिस्थिति आई ही नहीं तो उससे छुटकारा पाना कठिन नही है किन्तु आई हुई परिस्थिति को बदल देना तो शौर्य और साहस का ही काम है। विलासजन्य कापुरुषता तथा दीनता उससे कोसो दूर है। उसकी आखो मे वैसे आँसू आते ही कम है, यदि कही दो बूँद आए तो उन्हे पीने का वह साहस भी रखता है—

> 'दूर सपनो का बसेरा था मुझे
> ज्ञात कुछ भी जब न मेरा था मुझे।
> मुस्करा दे जो निराशा के क्षितिज पर
> दूर आशा का सवेरा था मुझे।
> मिल गये मरु में मुझे दो बूँद आँसू
> पी रहा हूँ यह किसी का प्यार है।
>
> (क्षेम, जीवनतरी)



प्रकृति-चित्रण

प्रेम जीवन की प्रमुख वृत्ति है। चाहे 'प्लेटो' के आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखा जाय, चाहे 'फ्रायड' की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से या 'मार्क्स' की पदार्थवादी दृष्टि से, प्रेम की उपयोगिता जीवन मे अनिवारणीय है। भारतीय मनीषा ने तो इसलिए इसको आध्यात्मिक उपासना का माध्यम मानकर एक जन्म नही, जन्म-जन्मातर मे इसकी अमरता की घोषणा की। यदि इसका स्थूलतम रूप सृष्टि परम्परा की अक्षुण्णता का मूल है, तो इसका सूक्ष्मतम रूप जीवनमुक्त का परमोच्च साधन। इसलिए अनादिकाल से कलाकारो की कूँची और लेखनी ने इसे प्राणों के रस से सींचा, हृदय के फूलो से पूजा और अन्तर की लौ से जगमगाया है।

यही प्रेम जीवन के नाना सम्बन्धो मे, न केवल चेतन-चेतन के बीच वरन् चेतन और जड के बीच भी फैलकर जीवन की वाटिका को हरा-भरा किए हुए है। आधुनिक युगीन काव्य मे भी यह प्रेम भावना अनेक रूपों मे देखी जा सकती है। प्रकृति-प्रेम, नारी-प्रेम और दिव्य अथवा रहस्यवादी प्रेम इसकी प्रमुख कोटियाँ कही जा सकती हैं।

प्रकृति प्रेम का रूप 'स्वच्छन्द-युग' की कविताओ मे विशिष्ट महत्व रखता है। लगभग सभी कवियों के काव्य मे किसी न किसी रूप मे प्रकृति-सुषमा के प्रति प्रेम अथवा प्रकृति रूपो से आकर्षण उभरा हुआ दिखलाई पड़ता है। किसी न किसी रूप मे प्रकृति इस युग मे इतनी प्रमुख हो उठी है जिससे बहुत से विज्ञ आलोचको का यह विश्वास हो गया कि प्रकृति-प्रेम ही

स्वच्छन्द-युगीन काव्य का मुख्य विभेदक लक्षण है और प्रकृति के विभिन्न रूपो मे एक चेतन सत्ता की अनुभूति या व्यष्टि आत्मा का दर्शन छायावाद का दर्शन है।

प्रकृति चेतना के पूर्व ही विद्यमान थी या बाद मे आयी, इस विवाद मे न पडकर हम इतने सत्य को न निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार ही सकते है कि मानव प्रकृति के क्रोड मे ही आँखे खोलता और जीवन भर किसी न किसी प्रकार प्रकृति से सम्बद्ध रहकर अन्त मे प्रकृति मे ही पचत्व प्राप्त करता है। भारत की अद्वैतवादी मनीषा ने प्रकृति को भले ही माया या मिथ्याभास माना हो, पर बाद को अद्वैतवादियो के सम्प्रदायो ने प्रकृति को भी परम सत्ता मे अन्तर्भूत माना और प्रकृति मे भी भगवद्व्याप्ति की विज्ञप्ति की। प्रकृति मे चेतना का दर्शन करना भारत के लिए तो नया नहीं है।

प्रकृति का इतिहास मानवता के इतिहास से भी प्राचीन है। सृष्टि के बीच सर्वप्रथम जब मानवता की आँखे खुली अथवा मानव ने जब अस्तित्व ग्रहण किया तब सर्वप्रथम उसने अपने सामने प्रकृति की रमणीयता देखी तथा उसने अपने को उससे घिरा पाया। उसने प्रकृति के सहारे ही जीना सीखा तथा उससे सन्देश प्राप्त करके ही वह उद्बुद्ध हो पाया। संसार और मानव जीवन मे प्रकृति का स्थान अत्यन्त महत्व का है। प्रकृति का वर्णन कविता मे पुरातन-सनातन वस्तु है। व्यक्ति अपने जीवन मे प्रकृति की परिधि द्वारा घिरा रहने के कारण उससे अलग रहकर सोच ही नहीं सकता। उसके विचारो तथा उद्गारो पर प्रकृति का प्रभाव वाछनीय है। जिस काल और युग मे मानव का ज्ञान जिस अवस्था मे था उसने उसी रूप मे प्रकृति को अपनाया है तथा उसी रूप मे प्रकृति काव्यों मे अवतरित हो पाई है। सदैव से ही वह मानव-क्रियाकलापो की क्रीडास्थली रही है। प्रकृति के साहचर्य मे ही मानव चरित्र विकसित होता रहा है। प्रकृति की रचनात्मक शक्ति सुख मे हृदय को आह्लादित करती और दुख मे उसकी शान्ति-दायिनी गोद हृदय को सान्त्वना प्रदान करती है। इस प्रकार मानव और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसीलिये काव्य मे प्रकृति का प्रमुख स्थान है। व्यापक-रूप से काव्य मे चार प्रकार से प्रकृति का वर्णन मिलता है। प्रथम प्रकार को स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन कह सकते है। जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण कवि का साध्य और लक्ष्य होता है अथवा शास्त्रीय भाषा मे कहे तो वह कवि के भाव का आलम्बन होता है तो उसे प्रकृति का स्वतन्त्र वर्णन कहेगे। दूसरा प्रकार वह है जब प्रकृति का वर्णन या चित्रण

कवि का साध्य और लक्ष्य न होकर साधन और लक्ष्य (लक्षण) हो जाता है, शास्त्रीय भाषा मे जिसे उद्दीपन कहेगे। ऐसी स्थिति मे कवि प्रकृति का वर्णन नायक-नायिका के मनोवेगों से रजित करके करता है। यहाँ प्रकृति नायक-नायिका के मन के अनुकूल उनके सुख मे सुखी और दुख मे दुखी दिखलाई देती है। तीसरे प्रकार मे प्रकृति का उपयोग मनुष्यो के कार्यों या मनोवेगों की क्रीडास्थली के रूप मे किया जाता है। काव्यों मे प्रकृति का अन्तिम रूप अलकारो अथवा उदाहरण के रूप मे होता है। इनके अतिरिक्त प्रकृति का वर्णन कवि की मनोवृत्तियो, भावनाओ या विचारो पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। इस प्रकार प्रकृति के विभिन्न रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते है।

प्रकृति का आलम्बन रूप मे चित्रण संस्कृत और हिन्दी के महाकाव्यों की प्रमुख विशेषता रही है। प्रकृति के जिस स्वतन्त्र चित्रण के लिए हम वर्डस्वर्थ जैसे अंग्रेज कवियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तथा छायावादी युग को नया पथ-प्रदर्शक मानते है, वे सभी वर्णन अथवा चित्रण प्रभूत मात्रा मे सस्कृत ग्रन्थों मे उपलब्ध हैं। महाकवि कालिदास अपने प्रकृति-प्रेम के लिये प्रसिद्ध है। प्रकृति के कोमल रूपो का जितना सुन्दर चित्राकन इनके काव्यो मे मिलता है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। प्रातकालीन ओस-बिन्दुओ का एक चित्र देखिए—

ताम्रोदरेषु पतितं तरुपल्लवेषु
विद्योतहेर गुलिका विशदं हिमाम्भः।
आमातिलब्ध परभागतयाधरोष्ठे
लीलास्मितं सदशनार्चिरिव त्वदीयम् ॥

भवभूति प्रकृति के उग्र रूप का प्रेमी था, किन्तु कालिदास को प्रकृति का उग्र रूप प्रिय नही था। ये प्राय रम्य तथा शान्त तपोवन, नदी तट, उपवन, भ्रमर, कोकिल तथा सन्ध्या और प्रभात आदि का ही वर्णन करते पाए जाते है। महाकवि की 'शकुन्तला' तो मानो साक्षात् प्रकृति की कन्या है। आश्रम वृक्षों की मनोयोगपूर्वक सेवा करनेवाली शकुन्तला प्रत्येक वृक्ष को अनुरागपूर्वक सीचती है। वह बिना उन्हे जल पिलाए स्वय जल ग्रहण नहीं करती। आभूषण प्रेम होने पर भी उनके पुष्प नहीं तोडती। इसके अतिरिक्त 'कुमार सम्भव तो प्रकृति नटी के ललित लास्य की रमणीय रंग-शाला है। प्रथम सर्ग का हिमालय वर्णन विश्वसाहित्य मे बेजोड है।

'शकुन्तला' की भाँति 'पार्वती' भी प्रकृति की देवी जान पड़ती है। 'मेघदूत' की सजल कल्पना मे हमे कालिदास के प्रकृति के उद्दीपन-स्वरूप का चित्रण मिलता है। 'मेघ' के साथ महाकवि की जो वायवी कल्पना है वह आधुनिक युग मे मानवीकरण को चुनौती देने के लिए पर्याप्त है। कवि केवल 'घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा' कहकर ही नही सन्तुष्ट रह जाता वरन् हिन्दी के रीतिकालीन स्वच्छन्द कवि 'घनानन्द' की भाँति—

'कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन
मो अँसुवान को लै बरसौ।'

वह बादलों द्वारा विरही यक्ष का सन्देश अलकापुरी मे स्थित यक्षिणी के पास भेजता है। मेघदूत के बादलो मे कवि ने मानवात्मा का तादात्म्य कराया है। उसने बादलो को चेतनता की विशाल भूमि पर अंकित किया है। कालिदास ने प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो ही रूपो मे प्रकृति का चित्रण किया है। प्रकृति का इतना सुन्दर तथा सर्वव्यापी चित्रण हमे हिन्दी के किसी भी आरम्भिक महाकवि मे नहीं मिलता, चाहे वे युगनायक कवि सम्राट तुलसी हों अथवा महाकवि 'सूर'। रीतिकालीन हिन्दी कवियो ने तो प्रकृति को उसी प्रकार बन्दी कर लिया जैसा कि महिमामयी 'नारी' को। इस युग के कवियो मे प्रकृति का आलम्बन रूप प्रायः लुप्त हो गया और उसके उद्दीपन रूप की ही काव्यो मे प्रमुखता हो उठी। आरम्भ से ही हिन्दी-कवियो की प्रवृत्ति प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण की ओर नहीं थी। जहाँ कहीं भी उन लोगो ने प्रकृति को अपनी रचना मे स्थान दिया है वहाँ केवल वर्ण्य-विषय को सजाने तथा रंजकता लाने के लिये। इन लोगो का प्रेम सौंदर्य से रहा है न कि प्रकृति से। इन लोगो ने केवल सुन्दरता मे रमणीयता देखी है, सर्वत्र नही। प्रकृति जब तक कवि के लिये साध्य नही हो जाती तब तक वह स्वतन्त्र रूप से उसके सौंदर्य की परख नहीं कर पाता। जब वह प्राकृतिक सौन्दर्य का स्वतन्त्र दर्शन करता है तभी उसे उसकी पृथक् सत्ता का भान होता है और वह उसके निरलंकृत चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो पाता है। ऐसी स्थिति मे वह अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही उसे स्वरूप प्रदान करता है। उसकी मनोवृत्ति ही वैयक्तिक कल्पना, भावना और अनुभूति के बल पर प्रकृति को अनुरंजकत्व और भावकत्व तथा मानवत्व प्रदान करती है। हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्दतावादी विचार धारा ने जिस प्रकार साहित्य की अनेक रूढ़ियों पर प्रहार किया उसी प्रकार उसने प्रकृति को भी शास्त्रीय शृंखलाओं से मुक्त किया। इतना तो स्वीकार

करना ही पड़ेगा कि आधुनिक युग मे प्रकृति-प्रेम हमे वर्ड्स्वर्थ जैसे अंग्रेज कवियो से मिला और प० श्रीधर पाठक की स्वतन्त्र प्रकृति पर लिखी हुई कविताएँ इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

प्रकृति को देखने की दृष्टि मे जो महान् परिवर्तन स्वच्छन्दतावादी दृष्टि-कोण ने उपस्थित किया, उसके द्वारा ही हम यह जान सके कि प्रकृति का काव्य के लिये अपना अलग अस्तित्व है तथा वह स्वतन्त्र रूप से भी काव्य की विषय-वस्तु बन सकती है। हमने जाना कि 'प्रकृति अपने रूप व्यापार से कवि-मानस का अनुरजन करती है। अनुरजन से हमारा आशय कवि-मानस पर होने वाली विविध भाव-सृष्टि से है। प्रकृति के सौम्य और मृदुल, शान्त और मधुर, भीम और भयकर, उग्र और प्रखर रूपो के अनुसार कवि के मनोभाव जाग्रत होते है। यह ठीक है कि उसकी पुतली देखती है पर उसका रूप-चित्र कवि के मानस पर होने वाली सौम्य या उग्र, मधुर या कटु सवेदना के ही अनुरूप होगा।'[1] प्रकृति का केवल यही कार्य नहीं है कि वह अपने रूप-व्यापार से कवि का मानस-रञ्जन मात्र ही कर दे बल्कि वह अपने व्यक्तित्व की चेतना से उसे अभिभूत करती हुई भावना-लोक का निर्माण भी करती है तथा उसके हृदय पर प्रभाव भी डालती है। यही कारण है कि आज का कवि प्रकृति को सजीव, सप्राण रूप मे देखने लग गया है और उसमे मानवी व्यक्तित्व का आरोप भी करने लग गया है। तारों भरी निशा का जो चित्र 'प्रसाद' जी ने कामायनी के 'आशा' सर्ग मे खीचा है, वह निश्चित ही एक अल्हड, अज्ञात-यौवना नारी का चित्र है:

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पडा तेरा अंचल,
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिञ्चन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली।

---

१. हिन्दी कविता में युगान्तर (पृ० २९३)

इस प्रकार से हम देखते है कि प्रकृति काव्य मे उद्दीपन मात्र ही न रहकर (१) चेतनी-करण तथा (२) मानवीकरण की वस्तु भी हो गई है। प्रकृति को आलम्बन रूप मे चित्रित करनेवाले कवियों मे पं० श्रीधर-पाठक तथा रामनरेश त्रिपाठी प्रमुख हैं। त्रिपाठी जी ने अपनी 'पथिक' नामक रचना मे प्रकृति को मानवी आलम्बन का बड़ा ही रम्य रूप दिया है—

'प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में विचरूँ यही चाहता मन है॥

हिन्दी कविता मे स्वच्छन्दतावादी विचारधारा का जो एक रूप छायावादी काव्यधारा के नाम मे अभिहित किया जाता है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये तो प्रकृति ने पग-पग पर सहायता की है। छायावाद से यदि प्रकृति को अलग कर लिया जाय तो वह पङ्गु हो जाय। आधुनिक युग मे अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से यहाँ के कवियो पर प्रकृति के स्वतन्त्र चित्रण का प्रभाव तो पड़ा ही, साथ ही वैदिक तथा सस्कृत साहित्य के अध्ययन से भी उस ओर कवियो का ध्यान आकर्षित हुआ और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप प्रकृति रूढिमुक्त हुई। दूसरी बात यह भी है कि इस युग के कुछ कवियों का कोमल और कल्पना-शील हृदय इस लोक के व्यवहार से सन्तुष्ट नही हो सका, उनकी असाधारण मानसिक स्थिति के कारण उन्हे अपने हृदय की बात समझनेवाला कोई हाड़-मास का जीव नहीं मिला।

कवियो का प्रकृति के प्रति आकर्षण उनकी प्रेम-भावना का बहुमुखी विकास है जिसके अन्दर सिमट कर प्रकृति अपने आप आ गई है। आधुनिक काव्यो मे प्रकृति का मानवीकरण जिस सफलता के साथ किया जा रहा है वह किसी भी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु है। मानवीकरण की दिशा मे श्री सूर्यकान्त जी त्रिपाठी 'निराला' ने सन् १९१६ मे जो अपनी 'जुही की कली' नामक कविता मुक्त छन्द मे लिखी वह एक दीप-स्तम्भ बन गई है। कवि की इस सृष्टि मे 'जुही की कली' एक साधारण कली न रहकर ऐसी मानवीय नायिका बन गई है जिसका प्रेमी मलयानिल भी शरीरधारी नायक की भाँति उसके पास आता है। दोनों की क्रीड़ा मे अत्यन्त लौकिक सजीवता है—

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल कोमल-तनु-तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्रांक में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते है मलयानिल !
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुज लता-पुञ्जों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ ।
सोती थी,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल,
डाल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल
इस पर भी जागी नहीं,
चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिए,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपोल गोल;
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्र मुख हँसी-खिली,
खेल रंग, प्यारे संग ।

प्रकृति के इस क्रिया-कलाप मे दो प्रेमियो की विह्वल प्रेम-क्रीडा व्यजित हुई है। प्रकृति की मनोमय-मोहक गाथा हिन्दी के जिन कवियो ने पढी है उनमे सुमित्रानन्दन पन्त का स्थान प्रमुख है। पन्त ने प्रकृति के भीतर जो नारी-सौन्दर्य देखा है वह पार्थिव नारी, जो कि प्रेयसी है, के आकर्षण और सम्मोहन को भी जीत सका है। कवि नारी के आकर्षण से आहत अवश्य है किन्तु प्रकृति के आकर्षण से विह्वल होकर वह सहसा कह उठता है—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?

महादेवी वर्मा के लिये तो प्रकृति शृंगार की ही वस्तु है। प्रकृति प्रियतम की ओर सकेत करनेवाली उनकी अभिन्न सहचरी है, उनकी आत्मा की छाया है, रहस्य ब्रह्म की छाया है तथा उनके जीवन का अपरिहार्य अश है। अपने असीम की ओर बढती महादेवी प्रकृति के कण-कण से परिचित होती हुई आगे बढी है और उसका क्रन्दन पहचान कर ही आश्वस्त हो पाई है। प्रसाद, निराला, पन्त तथा महादेवी, ये चार कवि प्रकृति के चित्राकन के लिए प्रसिद्ध है, प्रकृति इनकी काव्यकला मे विशेष रूप से सप्राण है। 'प्रसाद' प्रकृति के रूपों द्वारा प्रेम रहस्य के सकेत करते है। निराला दार्शनिक तत्वो की व्यजना करते है, पन्त प्रकृति को प्राणमयी देवी मानकर कल्पना करते है और महादेवी की तो वह सहचरी ही है। इनके अतिरिक्त आधुनिकतम कवियो की कविताओं मे पग-पग पर प्रकति उनकी सहायता करती जान पडती है।



प्रथम उत्थान

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा के प्रथमोत्थान का आरम्भ **पंडित श्रीधर-पाठक** की रचनाओ से मानना चाहिए। **पं० रामनरेश त्रिपाठी** की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएँ भी इसी श्रेणी मे रखी जा सकती है। आगे चलकर इस विचारधारा को जब गीति काव्य की भूमि मिली तब इसमे अद्भुत विकास हुआ। इस विकसित काव्यधारा के अन्तर्गत ही छायावाद के प्रमुख स्तम्भ जयशकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन-पन्त, महादेवी वर्मा और इनसे प्रभावित काव्यधारा के कवियो की रचनाएँ आती है। इस गीतिकाव्य के साथ महादेवी जी तथा डॉ० रामकुमार वर्मा के नाम इस प्रकार लगे हुए है कि भिन्नता के होते हुए भी इन्हे अलग नही किया जा सकता। काव्य की जिस प्रवृत्ति को लोगों ने रहस्य-वाद के नाम से पुकारना आरम्भ कर दिया था उसके उन्नायकों मे यही दो कवि प्रमुख है, जिससे इस सन्दर्भ मे इन दोनो का उल्लेख आवश्यक है। इस प्रथमोत्थान मे कुछ ऐसे भी कवियो के दर्शन हुए जिनमे स्वच्छन्दतावादी काव्य की विशेषताएँ स्वस्थ रूप मे विद्यमान थी, पर वे प्रबन्धात्मकता की ओर झुके रहने के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवाह के किनारे-किनारे ही चलते रहे और तृतीय उत्थान काल मे आकर पुनः अपनी रोमानी भावनाओ के साथ प्रकट हो गए, जिनमे गुरुभक्त सिह 'भक्त' का नाम प्रमुख है।

जयशंकर प्रसाद

स्वच्छन्दवादी काव्य-धारा की जिस शैली को हम 'छायावाद' का नाम दे बैठे है उसके उन्नायको मे 'प्रसाद' जी का स्थान सर्वोपरि है। प्रसाद जी की रचनाओ का आरम्भ काल हिन्दी साहित्य का वह काल था जिस पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का सम्पूर्ण प्रभाव व्याप्त था। तत्कालीन साहित्यकारो पर द्विवेदीजी का इतना आतक छाया हुआ था कि उनकी लेखनी प्रायः स्वच्छन्दता पूर्वक कल्पना-ससार मे विचरण करने से घबराती थी और वह एक सीमित क्षेत्र के अन्दर ही बचा-बचाकर डग भर रही थी। द्विवेदीजी की ओर से कविता को अधिक प्रोत्साहन भी नहीं मिला क्योकि उन्होने अपना अधिक से अधिक समय गद्य-परिष्कार मे ही लगाया। ऐसी स्थिति मे एक ऐसे कवि का साहित्यिक मूल्याकन करना, जो कि स्वतन्त्र रूप से अपनी नवीन शैली के साथ कल्पना ससार मे ही विचरण कर जीवन-ज्योति रूपी मोतियो की खोज कल्पना-सागर मे ही करना चाहता है, न तो सम्भव है और न लोग साधारणतः उसे समझने का प्रयत्न ही करना चाहेगे। यही कारण है कि आरम्भ मे उनकी कविताओ के सम्बन्ध मे विद्वानो ने जो मत प्रकट किए वे रचनाओ की आत्मा को छू नहीं पाए। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल जी जैसे व्यक्ति ने भी तत्कालीन वातावरण से प्रभावित होकर यह कह डाला कि 'इनकी रहस्यवादी रचनाओ को देखकर चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिये रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यो कहे कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही है।'[1]

'शुक्लजी' द्वारा दिया गया उपर्युक्त मत कभी भी 'प्रसादजी' की शैली तथा काव्य की व्याख्या नहीं हो सकती क्योकि ऐसा लगता है कि पडितजी ने कवि की स्वतन्त्र भावनाओ तथा विचारो का सम्यक् मनन किये बिना ही उपर्युक्त निर्णय दे डाला है। प्रसादजी ऐसे मस्त और समाज की सकीर्ण विचार-धाराओ के व्यंग की कुछ भी परवाह न करने वाले स्पष्टभाषी थे जिन्होंने अपने जीवन की अनुभूतियो को ही अपनी कविता तथा काव्य का आधार बनाया, अपने विचारो को व्यक्त करने के लिये रहस्यवाद का परदा लेते, तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इस प्रकार

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६८२।

बच-बचकर चलने की भावना रखनेवाला कवि जैसा कि आचार्य 'शुक्ल' ने समझा है कभी ऐसा नहीं कह सकता, जैसा कि प्रसादजी ने 'निवेदन' किया है—

> 'डरो नही जो तुमको मेरा उपालम्भ सुनना होगा।
> केवल एक तुम्हारा चुम्बन इस मुख को चुप कर देगा ॥

केवल एक चुम्बन पर सारी झझटो को टाल देनेवाला कवि रहस्यवाद का भी पर्दा ले सकता है कुछ समझने की ही बात नही, सोचने की भी बात है। प्रसादजी की जिन रचनाओ को देखकर रहस्यवादी कविताओ का भ्रम होता है वे रहस्यवादी कविताएँ नही बल्कि धरातल पर रहनेवाले मास-पिण्डो से युक्त मानव-सम्बन्धी धरातल के लिए ही लिखी गई आन्तरिक अनुभूतियाँ है जिनम चिन्तन की गहनता के कारण निखार अधिक है।

पथिक के पहले डग से ही उसकी मजिल का अनुमान लग जाता है। कवि की व्यापक दृष्टि का नवजात अकुर उसकी आरम्भिक रचनाएँ ही होती है। यदि हम 'प्रसाद जी' की आरम्भिक रचनाओ को देखें तो हमारी कठिनाई बहुत कुछ दूर हो सकती है क्योकि उसके आधार पर हम कवि की विकास रेखा का अनुमान लगा सकते है—

> 'सरासर भूल करते है उन्हें जो प्यार करते है,
> बुराई कर रहे है और अस्वीकार करते है।
> उन्हें अवकाश ही रहता कहाँ है मुझसे मिलने का,
> किसी से पूछ लेते है यहीं उपकार करते है।
> जो ऊँचे चढ़ के चलते हैं वो नोचे देखते हरदम,
> प्रफुल्लित वृक्ष ही यह भूमि कुसुमागार करते है।
> न इतना फूलिए तरुवर सुफल कोरी कली लेकर,
> बिना मकरंद के मधुकर नहीं गुंजार करते है।
> 'प्रसाद' उसको न भूलो तुम तुम्हारा जो कि प्रेमी है,
> न सज्जन छोड़ते उसको जिसे 'स्वीकार करते है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि आरम्भ मे ही एक स्वाभिमानी प्रेमी की भाँति अपनी रचनाओ मे प्रकट हो जाता है। आरम्भ से ही किसी भी वस्तु को देखने का प्रसाद जी का अपना अलग दृष्टिकोण रहा है जिसमे किसी भी प्रकार की साहित्यिक सीमाएँ, चाहे वे शैलीगत रही हों अथवा विषयगत, उनके स्वतन्त्र विचारो को बाँध नही पाई है। महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी द्वारा प्रोत्साहित काव्य की इतिवृत्तात्मक काव्य-शैली

का उन्होने अपनी रचनाओ मे पूर्ण बहिष्कार किया तथा अपनी वैयक्तिकता एवं व्यक्तित्व को रचनाओ मे साक्षी रखकर भावाभिव्यक्ति की, जो तत्कालीन काव्य की वर्णनात्मक शैली से अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई।

'प्रसादजी' ने काव्य की जिस शैली को प्राथमिकता प्रदान की उसके लिये यद्यपि तत्कालीन भाव-भूमि उपयुक्त नही थी, उस समय हमारे बीच राष्ट्रीयता की एक ऐसी धारा प्रवाहित हः रही थी जिससे साहित्य को चिरस्थायी बनाने की प्रवृत्ति लोगो मे कम हो चली थी और नागरिको के सोए हुए राष्ट्रीय भावो को जगाने के लिए साहित्य-सर्जन की ओर कवियों की अधिक रुचि थी, किन्तु उन राष्ट्रीय भावनाओ से ओतप्रोत कविताओ मे बात सीधे-सीधे कह दी जाती थी जिससे उनमे साहित्यिकता का अभाव रहता था। इस काव्यधारा के अग्रणी बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्रीय वाणी का जो सिंहनाद किया, सर्वप्रथम उसमे भी हमे कोई साहित्यिक निधि नही प्राप्त होती, यद्यपि उनकी 'भारत भारती' भारतीयों के गले की हार बन गई थी। उसमे आदर्श के साथ करुणा से परिपूर्ण राष्ट्रीयता का सन्देश था। स्वतन्त्रता-सग्राम की भयकरता इस सीमा तक पहुँच गई थी कि उसको दबाने के लिये अग्रेज प्रभुओ ने अपनी कोई कला शेष नहीं रखी और एक ऐसी भी स्थिति आ गई थी कि सीधे-सीधे राष्ट्रीयता का नाम लेना दुष्कर था। किन्तु युग की वह अमर धारा कला की ओट लेकर अभिधा के स्थान पर व्यजना के रूप मे प्रवाहित होती ही रही। इस प्रकार की रचनाओ के सूत्रधार थे प० माखनलाल जी चतुर्वेदी जैसा कि उनके 'फूल की चाह' नामक कविता से प्रकट है, जिसमे वे एक कामना करते है—

'मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक,
मातृ भूमिपर शीश चढाने जिस पथ जावे वीर अनेक।'

इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओ मे कलात्मकता भी अधिक थी और उनका प्रभाव भी अधिक स्थायी था। इस राष्ट्रीयता का प्रभाव 'प्रसाद' ने अपनी रचनाओं मे अन्य प्रकार से ग्रहण किया। जहाँ तक कविताओ का प्रश्न है वे पूर्णरूपेण खुलकर राष्ट्रीय कवि के रूप मे नही आ सके है क्योकि उनका विचार था कि युग-जागरण का सबसे अधिक कार्य नाटकों के माध्यम से किया जा सकता है। देश की जागरूक जनता उपदेश और व्याख्यान नहीं चाहती बल्कि वह ऐसा नायक अथवा नेता चाहती है जिसके आदर्श को सामने रखकर वह पीछे-पीछे जय-युद्ध के लिये चल

क्रोचे ने सवेदन को मानसी अभिव्यंजना पर लाकर छोड दिया था, अज्ञेय का प्रयोगवाद, कुछ और आगे बढ़कर उसे पर-सम्प्रेषण के धरातल पर खड़ा कर देता है; पर प्रयोगवाद इस दृष्टि से 'अभिव्यजनावाद' से आगे नहीं था कि वह अभिव्यजना को कवि-मानस से आगे लाकर प्रमाता के सम्प्रेष्य-स्तर पर अधिष्ठित कर देता है। अभिव्यजना, मानसी अथवा भौतिक या भाषिक, दोनो का ही लक्ष्य था। अभिव्यजनावाद मे अमूर्त संवेदन मानस-मूर्त होकर ही पूर्ण, सार्थक और साध्य बन जाता है, प्रयोग-वाद मे कवि के अन्तर्मन का अपूत सत्य भौतिक-मापक अभिव्यजना मे मूर्त होकर कृतकृत्यता प्राप्त कर लेता है। प्रयोगवाद के लिए 'अपनी कह पाना' अधिक महत्त्वपूर्ण और तोषकारी है, दूसरों द्वारा उसका समझ पाना उतना चिन्तनीय नहीं है। प्रयोगवादी कवि कहकर तुष्ट हुआ और अपने सम्प्रेष्य को तद्वत् कहकर जैसा कि उसने अनुभव किया था, और अधिक तुष्ट होता था। प्रयोगवादी के लिए सम्प्रेषण की समस्या इसलिए जटिल थी कि वह उसे जटिलता मे ही प्राप्त करता था और कदाचित् वह समझता था कि जब यह मेरे ही लिए इतनी जटिल है तो पाठक के लिए कितनी जटिल होगी। जटिलता को वह अपनी अनुभूति का अनिवार्य और नियतिमूलक विशेषण मान चुका था। फिर जटिलता का सुलझाव उसके लिए या तो अपने साथ बे-ईमान होना था या अनुभूति के सत्य को विकृत या कृत्रिम बनाना था।

'नया कवि' अनुभूति और संवेदन की जटिलता को तो स्वीकार कर सकता था, पर उसे सवेदन-मात्र का परम विशेषण नहीं मानता था। उसके लिए जटिलता अनुभूति मे नहीं, वरन् परिवेश की अन्तर्बाह्य परिस्थितियों में है जिससे सत्य को पकड़ना और उद्घाटित करना पड़ता है। अज्ञेय और प्रयोगवाद का 'भोगा–झेला' उनके निजी व्यक्ति का भोगा-झेला था और व्यक्ति द्वारा उसका भोगा-झेला जाना ही महत्तम सार्थकता थी। 'नये-कवि' के भोगे-झेले सत्य का अर्थ था कि स्वय कवि भी, असख्य मानवों की भाँति, सहभागी बनकर उसे झेल रहा है, यह उसकी नितान्त निजी भुक्ति नहीं, वरन् असख्य लघुमानवो की भी भुक्ति है। यह सहभागिता 'नयी कविता' की वह आस्था है जो उसे अज्ञेय के घोर व्यक्तिवाद और वैयक्तिक रोमान एव नव रहस्यवाद (अज्ञेय की परवर्ती प्रवृत्ति) से विलगकर, एक नए यथार्थवाद से जोड़ देती है। यही कारण है कि अज्ञेय व्यक्तिवादी, अन्तर्मुखी और रोमानी रहे है, जबकि 'नया कवि' उनकी तुलना में सहवादी, समाजवादी, बहिश्चेता और यथार्थवादी रहा है। प्रयोगवाद व्यक्ति-स्वातंत्र्य

को आत्म-भोग और अन्तर्भोग के लिए चाहता है और 'नया कवि' व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को सह-जीवन और समाज के नए व्यवस्थापन के लिए आवश्यक समझता है। अज्ञेय-परक प्रयोगवाद का लक्ष्य व्यक्ति है, जब कि 'नई कविता' के कवि का लक्ष्य सामान्य और अधिसंख्यक लघुमानव है। प्रयोगवाद मे पाठक को कवि की आन्तरिक तृप्ति-अतृप्ति की डकार का प्रसाद मिलता है, जब कि 'नई कविता' मे उन नाना लघु-मानवों की पीडा की झकार मिलती है जिसे कवि अन्यों के साथ झेल भोग रहा है। प्रयोगवाद छायावाद की प्रतिक्रिया से जन्मा पर 'नयी कविता' प्रयोगवाद के गर्भ से जन्मी और उसके असतुलनों और अतिरेकों से मुक्त होने का प्रयास उसे शक्ति देता है।

कुछ विद्वान् प्रयोगवाद को प्रगतिवाद की प्रतिक्रिया न मानकर सीधे छायावाद की ही पूर्ण प्रतिक्रिया मानते हैं।[1] उनके अनुसार, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और व्यक्तिगत रोमानी कविता (बच्चन, भगवतीचरण, अचल, नरेन्द्र शर्मा आदि) तीनों छायावाद की प्रतिक्रिया मे एक साथ आईं, पर प्रयोगवाद मे वह प्रतिक्रिया पूर्ण रूप मे व्यक्त हुई। ऐसा वे शायद इस ऐतिहासिक संयोग के कारण मानते होंगे कि प्रयोगवाद मे आरम्भत: प्रगतिवादी कवि भी 'सप्तकायित' हुए थे पर वे संयोग-घटिति से आगे न जाकर इस सत्य को भुला देते है कि प्रयोगवाद मे यदि प्रगतिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया न होती तो आगे चलकर यह गठ-बंधन टूट न जाता और प्रगतिवाद की सामष्टिक समरूपता और एकान्त सामान्यता के विरुद्ध, प्रयोगवाद मे वैयक्तिकता का इतना आग्रह प्रधान न हुआ होता। छायावाद मे रीतिकाल के साथ ही, द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया थी; उसी प्रकार प्रयोगवाद मे भी, छायावाद के साथ प्रगतिवाद के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया अन्तर्निहित थी। छायावाद की तथा-कथित अतिशय भावुकता, काल्पनिक आदर्शवाद और अतीन्द्रियता के विरुद्ध प्रयोगवाद मे जो तथोक्त प्रतिक्रिया हुई, उसमें स्वय उसकी अति-वैयक्तिकता ने ही, अतिशय अन्तर्मुखीनता, सूक्ष्मतर मानसिकता और व्यक्तिवाद एव अमूर्तन के अतिरेक के रूप मे एक नयी भावुकता, काल्पनिकता और अतिशय ऐन्द्रिकता का वरण कर लिया। प्रतिक्रिया स्वस्थ साहित्य को जन्म देने मे

---

१. डा० शम्भुनाथ सिह, 'प्रयोगवाद और नयी कविता', पृ० ३८

असमर्थ होती है और उसमें वास्तविक एवं वांछित रचनात्मकता का भी अभाव होता है। पुराने को तोड़ने के आवेश में नव-रचना का लक्ष्य विस्मृत हो जाता है। इसीलिए प्रयोगवाद में गद्यात्मकता, वैचारिकता और अभिधात्मक उपदेश का प्राधान्य हो गया। अज्ञेय के अराजक क्रांतिवाद के प्रभाव ने उन्हें प्रतिमा-भंजक और विद्रोही बना दिया। प्रयोगवाद ने घेरा तोड़ा, पर उसकी उपलब्धियाँ उतनी महान् नहीं, जितना घेरा तोड़ने का ऐतिहासिक कार्य। राह का अन्वेषण कुछ अर्थों में 'राह का परिभ्रमण' भी बनकर रह गया। प्रयोग ही कविता का निकष और विद्रोह ही उसका उपजीव्य बन गया। अनुभूति ही महान् बन गयी, महान् अनुभूति का प्रश्न गौण हो गया। प्रयोग की सोद्देश्यता भी खटाई में पड़ती रही। परम्परा-खण्डन सत्य का सम-स्थानीय, विचार रागात्मकता का पर्याय और नावीन्य ही सफल प्रयोग का समानार्थी समझा जाने लगा। काव्य में प्रयोग नूतन युग-बोध का प्रकाशक बनकर ही सार्थक हो सकता है। परम्परा-मात्र को स्थूल और निरर्थक अनुकरण कहकर रूढ़ि का पद दे दिया गया और उसके उस पक्ष को भुला दिया गया जहाँ वह दृष्टि को माँजने-सवारने का साधन बनती है। परम्परावादी होने और परम्परा की साधना में अन्तर होता है, एक में पूर्व-संस्कृति रूढ़ और पुनरावृत्त होती है जबकि दूसरे में वह जीवन-विकास और चेतना की परिष्कारक बनती है। परम्परा का आधुनिकीकरण और उसमें वर्तमान को ढूँढकर उसका नए सिरे से निर्माण, प्रयोगवादी नहीं कर सके। नये मूल्यों के अन्वेषण की दृष्टि से वे निराशा, घुटन, अनास्था आदि का यथार्थ तो दे सके, पर जीवनाधायक मूल्यों की ओर वे न जा सके। व्यक्ति का निर्बन्ध स्वातंत्र्य और अन्तर्मुखी भोग के साथ अनास्था ही मूल्यवत् उभरकर सामने आई। नैतिकता को वे आवरण तो कह गए, पर कोई समतुल्य नया मान न दे सके। उनके जीवन-मूल्य नकारात्मक और निषेध-परक ही बने रह गए। मुक्तिबोध जैसे कवि अकेलेपन की पीड़ा की अभिव्यक्ति को ही कविता का लक्ष्य और काव्य-गत मूल्य संकेतित कर सके। गिरिजाकुमार नर्म-कोमल-रोमान के रेशम-जाल में ही कविता की सार्थकता बता सके। डॉ० रामविलास शर्मा, माचवे और भारत भूषण मार्क्सवाद के सिद्धान्तों को ही मानव-मूल्य घोषित करते रहे। मुक्तिबोध भय और प्रेत-शंका की ग्रंथि से सदैव अभिभूत रहे। नेमिचन्द्र जैन भी 'प्रतीक' के माध्यम से भय, आशंका, हार और अविश्वास की वैयक्तिक भावना को ही सघन करते रहे।

'नई कविता' प्रयोगवाद की इस अनास्था, भयशीलता और दृष्टि-हीनता को धुरी-हीनता कहकर अपने भीतर और बाहर कुछ धुरियों का अस्तित्व मानती है। यह धुरी है मानव की आत्मा मे अस्तित्व के प्रति आस्था, मानवता के अन्ततः विजयिनी होने का विश्वास। 'नई कविता' की यह आस्था मानव की नियति और लघु-मानव के अस्तित्त्व में निहित है। वह व्यवस्था के प्रति आस्थावान् नही, नई व्यवस्था के सन्धान और पुरानी व्यवस्था के मूल्य-हीन अंधेपन को खोलकर उसे 'अंधा-युग' घोषित करने मे है। प्रयोगवाद की भाँति 'नयी कविता' मूल्याघ नहीं, मूल्यों की अंधता के प्रति असन्तुष्ट और आक्रोशशील है। प्रयोगवाद भारतभूषण अग्रवाल के शब्दों मे छायावाद के प्रति अनास्थाशील, पर नए मूल्यों की खोज मे आस्थाशील भले ही रहा हो[1] पर प्रगतिवादी प्रयोगिकों को मार्क्स-वादी दर्शन के बौद्धिक मूल्य भले ही मिले हों, शुद्ध प्रयोगवादियों को भ्रम, सन्देह, शकन, हार, निराशा और अनास्था ही मिले। 'नए कवियों' ने मानवीयता मे उसकी पूर्ण स्पष्ट न सही, अर्ध-स्पष्ट झाँकी अवश्य पाई। अपनी 'ठडा लोहा' रचना में धर्मवीर-भारती अपनी दुखती रगों पर ठंडे लोहे का अनुभव सघनता से करते हैं, पर यह ठडापन केवल उनका नहीं, समूचे मध्यवर्ग का है जिसकी क्रांति-भावना मर चुकी या मरणोन्मुख है। सन् १९५० के बाद की 'नई कविता' ने इस ठडे लोहे के कवच को उतार कर सक्रियता का लक्षण प्रकट करना आरभ कर दिया। 'इत्यलम्' मे अज्ञेय हारकर भी भविष्य के प्रति आस्थावान् दीखते हैं।[2] कभी प्रिया का प्रेम आस्था का विषय बन गया है।[3] 'नई कविया' में ओढ़ी हुई आरोपित बौद्धिकता कम हुई है और उसे रचनाकारों ने अनुभूत बनाने का प्रयास किया है। सहजात प्रवृत्तियों के उद्दाम उद्वेलन का छद्म भावुक रूप भी घटा है। प्रयोगवादी कवि प्रकृति पर अपनी कुंठा उड़ेलता रहा, जिसमें जीवन-दर्शन का अभाव और व्यक्ति-मोह की प्रधानता थी। 'नई कविता' ने प्रयोगवाद के युगीन एव अनिवार्य तत्त्वों को लेकर उनका विकास किया और सामंजस्य का प्रसार किया। जिसमे प्रतिक्रिया से अधिक संश्लिष्टता और समंजन की प्रवृत्तियों की स्पष्ट प्रेरणा निहित थी। उसमे कारी प्रति-क्रिया के तत्व प्रेरक नहीं थे। वह मानव को बाह्य आरोपणों और निषेधों से मुक्त करने की चाह से उन्मिष्ट रही। वह आत्म-जन्य विवेक और अन्तर्ज्ञान

१. 'नये पत्ते' (पत्रिका), मार्च, १९५३।
२. 'इत्यलम्', अज्ञेय, पृ० २१७।
३. 'हरी घास पर क्षणभर', अज्ञेय, पृ० १४, ५४।

(इनट्युशन) को प्रश्रय देती है। वह विषय को अवचेतन मन के अनुभूत बिम्बों के रूप मे व्यक्त करती है।

प्रयोगवाद विद्रोहीपन में विश्वास करता रहा, 'नई कविता' आधुनिकता के प्रति जागरूक रही है। आधुनिकता नवीन परिवेश और सन्दर्भ में नए एवं उपयुक्त मूल्यों पर आधृत होती है। वह विज्ञान की विविध शाखाओं से प्राप्त सत्यों से मूल्य-निर्माण करने की आकांक्षिणी रही है, जबकि प्रयोगवाद मानस के अन्तरीय सोपानों और स्तरों में संचरण को ही मूल्य मानता रहा। वह (नई कविता) आधुनिक परिवेश से जुड़ना और उनके साथ विधेयात्मक (पॉजिटिव) सम्बन्ध की समर्थक है। उसमें बौद्धिकता के आग्रह की अपेक्षा, जीवन के समकालीन रूपों के प्रति नए राग-बोध का उद्बोधन-प्रकाशन होता है। आधुनिक परिवेश और विज्ञानोपलब्ध ज्ञान को साधन बनाकर वह अपनी अभिव्यंजना-पद्धति का भी नवीनीकरण करती है। उसमें आधुनिक जीवन की स्वीकृति का स्वर है, भय, पलायन या गोपन का नहीं। वह स्थानीय मानव तक सीमित न रहकर विश्व-मानव से आत्मीयता और पहचान बढ़ाने का अनुमोदन करती है। उसने मानवीय ऐक्य, अन्तर्राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय स्वाधीनता, विश्व-सहयोग को वांछनीय और विनाशकारी युद्ध-शीलता को निषिद्ध माना है। वैज्ञानिक उन्नति का सत्पथ और स्वस्थ प्रयोग वह वर्जनीय नहीं मानती, उसका लाभ उठाना चाहती है। मानव-शोषण, अन्याय और वंचना का उसने विरोध किया है। सार्त्र आदि के अस्तित्ववादी दर्शन का उपयोग उसने समकालीन विवशताओं, छलनाओं, असन्तुष्टियों एवं आत्मिक भूख को अभिव्यक्त करने में किया है। वह व्यक्ति और समाज का सन्तुलन चाहती है जो सामान्य मावन-इकाई का संकेतक बन जाता है। वह सीधे वस्तु सम्पर्क से उत्पन्न मौलिक संवेदनों और अनुभूतियों (भोगी-झेली) को काव्य की सामग्री का श्रेष्ठ अंश मानती है जिसे वह 'अनुभूति की प्रामाणिकता' मानती है। अनुभूति के गहरे से गहरे स्तरों को खोलने में वह विश्वास करती है। संश्लिष्ट लम्बे बिम्बों की अपेक्षा वह 'खंडित बिम्बों' और प्रतीकों को अधिक अपनाती है, क्योंकि उसके बिम्ब प्रतीक अर्ध-चेतन मन से आते और चेतना के कल्पनात्मक प्रवाह-क्रम से ग्रहण किए जाते हैं। यह एक प्रकार से अवचेतन मन के धरातल से उठे दिवा-स्वप्नों और स्वप्न-प्रतीकों के समकक्ष होते हैं, जिसमें तर्कात्मक क्रम न होकर एक ऊपरी असम्बद्धता होती है जो स्वयं अपने में एक आंतर-संगति और क्रम-सम्बन्ध को धारण

किए होती है। इस असम्बद्ध दिखाई पड़नेवाले बिम्ब-विधानमे एक भीतरी सम्बन्ध होने से इसे 'मुक्त आसंग' (फ्री असोसिएशन) भी कहते हैं। इनका मूल उद्देश्य तद्वत् बिम्ब न जगाकर और ऊपरी अर्थ-बोध से ऊपर या नीचे जाकर, पाठक की उस संवेदना (इन्द्रिय-बोध) को जगाता है जो उसके समान या सहबद्ध प्रकार के अनेकानेक बिम्बों की सृष्टि कर उन्हें पाठक के चेतन धरातल पर प्रस्फुरित करना होता है। आवश्यक नहीं, इस प्रकार जगे संवेदन कवि तुल्य या कविवत् ही हों। वे कवि से भिन्न भी होते हैं और सहृदय को कवि के शब्दार्थ से प्राप्त प्रत्यक्ष-बोध से अधिक गहरे किए अपने ही बिम्बों का संवेदन-रस प्रदान करते है। काव्य-रस या अनुभूति-उन्मेषण एक अद्भुत और विलक्षण स्वात्मानन्द या स्वानुभव होता है। ये बिम्ब अभिधात्मक या लाक्षणिक न होकर प्रतीकात्मक होते हैं जो प्रमाता में उसीके अन्तर्बिम्बों को जगाकर परिषिक्त करते हैं। विभिन्न पाठकों मे उनकी प्रतिक्रिया और उद्भूतियाँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, अतः 'नई कविता', 'अनुभूति का सम्प्रेषण' न कर, 'अनुभूति के संवेदन' में विश्वास करती है। इसका बिम्ब-विधान इसीलिए असचेत और प्रयास-हीन, फलतः सहज और मुक्त होता है। 'नई कविता' मे शमशेरबहादुर, कुँवर नारायण, विजयदेव नारायण साही और केदारनाथ सिंह 'मुक्त-आसग' के बिम्ब-विधान के लिए बहुचर्चित हैं। इनके बिम्ब प्रायः आसंगों से मुक्त, सहज और स्वप्न-सदृश आनन्द देते हैं। केदारनाथ सिंह के 'आत्म-चित्र' के बिम्ब पूर्व-चेतन (प्रि-कान्शसनेस) द्वारा अनुचित्रित हुए हैं। 'ग्राम' कविता केदारनाथ सिंह के मुक्त-आसंग बिम्ब-विधान का दूसरा उदाहरण हो सकती है। कुँवर नारायण की सध्या-सम्बन्धी प्रसिद्ध रचना 'रोज की तरह' और अजित कुमार की 'फैन्टेसी' अन्य उदाहरण हैं। 'नयी कविता' ने जिजीविषा के साथ मरण-कामना का भी चित्रण किया है; उसमें 'काम' वृत्ति के भी प्रतीक बहुतायत से आए हैं। फिर भी 'नई कविता' में विद्रोह के स्वर मन्द नहीं हुए; हाँ, उनमे औदात्त्य के तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं। प्यार, रूप और आकर्षण से भी उसे गुरेज नहीं रहा है, पर यह प्यार आदर्शवादी, वायवीय और आध्यात्मिक न होकर, मानवीय, ऐन्द्रिक और यथार्थ-सम्पृक्त रहा है। दबे काम-भाव को उदात्त रूप में भी प्रस्तुत किया गया है जो मध्ययुगीन आदर्शवाद, छायावादी कल्पनावाद और प्रगति-प्रयोगवादी कुण्ठित वैयक्तिकता या समाजीकरण की सामान्यता से अवश्य ही भिन्न कोटि का रहा है।



छायावादोत्तर मानवतावादी गीत-धारा

लौकिकसत्ता और उसके संचालक मानव को छायावादी काव्य-चेतना की लोकतान्त्रिक पृष्ठभूमि मे स्वीकृति तो पहले ही मिल चुकी थी, पर मानवीय और मानवीयता के सहज जीवन मूल्यों का जैसा सहज विकास-प्रकाश होना चाहिए था वह छायावादोत्तर मानवतावादी गीत-धारा मे ही अधिक स्पष्टता के साथ उद्भासित हुआ। भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, हरिवंशराय 'बच्चन' शिवमंगल सिंह 'सुमन' और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' में छायावाद की यह मानवमुखी प्रवृत्ति एक निश्चित मोड़ लेती दिखलाई पड़ती है। फिर भी भगवतीचरण वर्मा और 'बच्चन' में 'सामी हालावाद' और 'मधु-दर्शन' एवं नरेन्द्र शर्मा और 'अंचल' में वह स्थूल मासलता के आग्रहों से ढकी रही है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' प्रगतिवादी प्रभाव के निकट रहे और प्रगतिवाद के समर्थक समीक्षक उन्हें प्रगतिशील कवियों मे गिनते रहे हैं किन्तु उनके भीतर मानवतावादी और मानवीय रागों के स्रोत जागरूक रहे हैं। अतएव उनमें वादग्रस्तता के कारण उत्पन्न राजनीति प्रभावी नहीं हो सकी है। स्यात् यही कारण रहा है कि मुहजोर प्रगतिवादी आलोचक उनकी कभी-कभी उपेक्षा भी करते दिखलाई पड़ते हैं। छायावादोत्तर युग में यह मानववाद लगभग उन सभी धाराओं में जो छायावाद के मूल-बोध-भावना से सम्बद्ध और उसके देश-कालोचित अग्रतर विकास के रूप मे आई हों, अथवा उसकी तथा-कथित या अज्ञात: प्रतिक्रिया में अवतरित हुई हों, किसी न किसी रूप में प्रभावी रहा है। इस मानववादी स्वर को यदि सिद्धान्ततः नहीं तो तत्कालीन

सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों में गहराई से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है, अन्यथा इसे छायावाद का ह्रासग्रस्त रूप या सामाजिक-यथार्थ से पलायन ही समझा जाता रहेगा और इस धारा के साथ समुचित न्याय हो पाना यदि असम्भव न होगा तो दुष्कर अवश्य हो जायगा। दुष्कर इस अर्थ में कि यह मानवतावादी काव्य-धारा जो मुख्यत गीत-प्रगीत प्रधान रही है (यद्यपि उसमे प्रबन्ध भी लिखे गए हैं) अनेक दृष्टियों और कारणों से विरोधपक्ष मे रखी जाती रही। इधर छायावाद-काव्य पर अपनी समर्थ लेखनी माँजकर निकले समीक्षक भी, नव-लेखन की समीक्षा और उसकी प्रतियोगिता में आधुनिकतम कहलाने की कामना के वशीभूत, तत्व-चिन्तन की अपेक्षा समय-प्रशासन मे ही अधिक सुविधा देखने लगे हैं। प्रस्तुत लेखक ने यही जोखिम उठाकर इस ग्रंथ के प्रथम और द्वितीय संस्करण को हाथ मे लिया था। इसके सामने नव्यतम के समीक्षण और मूल्यांक का प्रश्न उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना अन्य अधिक सुधी समीक्षकों के समक्ष, किन्तु स्वच्छन्द-काव्य-धारा के मूल्याकन-रेखाकन के साथ, उसने यह आवश्यक समझा है कि वह प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के साथ ही, उसके सामानान्तर सहज रूप मे बहती उस तृतीय काव्य-धारा का मूल्यांकन-प्रयास करे जो उपेक्षित-सी रही है और जिसे सामान्यत 'छायावादोत्तरगीत-धारा' और अपने विचार से 'छायावादोत्तर मानववादी काव्य' (गीत-प्रगीत-प्रधान) धारा के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। एतदर्थ मानववादिता की मूल चेतना और उसके परिसर्ग-परिवेश का एक सामान्य सर्वेक्षण आवश्यक हो जाता है।

मानववादी चेतना और उसके सन्दर्भ

छायावादी काव्य में, युग-परिस्थितियों के पदार्थों के संघर्ष की चेतना के साथ, ससार और जीवन की स्वीकृति का स्वर अधिकाधिक उभरता गया है। भारतीय अद्वैतवाद अथवा परमात्मा और आत्मा के ऐक्य एवं प्रत्येक जीवात्मा मे परमात्मा के श्रेष्ठ एवं पवित्र अश के स्वीकार के भारतीय तत्व-दर्शन ने इसको अपने ढंग से घोषित करने का भी पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। उसमें वायवीय आदर्शवाद के स्थान पर मानव के प्रकृत रूप और उसकी मानवीयता के समृद्ध आयासों को भी प्रचुर प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।[1] छायावाद के इस स्वर की मध्ययुगीन जीवन-दर्शनों से तुलना करने और

१, 'छायावाद के गौरव चिह्न', वही, पृ० ११

उसमें जीवन-जगत् एवं मानवीय अस्तित्व की गरिमा के प्रति समानता की भंगिमा को अधिकाधिक लक्षित करने में, यह पक्ष अथवा यह विशिष्ट अभिवृत्ति और भी स्पष्ट हो जाती है। छायावाद के अधिकाश आलोचकों ने इस अन्तर को अपने-अपने ढंग से संकेतित किया है। आचार्य 'वाजपेयी' ने इसे नूतन सास्कृतिक चेतना और नई दार्शनिकता की अभियोजना के नाम से इंगित किया है। डॉ० नगेन्द्र ने इसे नव जागरण और स्वच्छन्दता-के प्रोद्भास की संज्ञा से जताया है; किन्तु परवर्त्ती आलोचकों मे प्रो० क्षेम ने सन् १९५३-५४ के आसपास ही, अपने 'छायावाद की काव्य-साधना' एवं 'छायावाद के गौरव-चिह्न' नामक सुविस्तृत ग्रथाकार विवेचन में सर्व-प्रथम अवधारण के साथ, रेखाकित कर दिया है। उन्होने इसका सम्बन्ध छायावाद में उद्भासित आधुनिक प्रजातत्रीय प्रवृत्तियों से स्थापित किया है।[1] मानव की मानवीयता और मानव-अस्तित्व की सर्जकता पर अपने प्रचार से महात्मा गाधी और छाया-कवि प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी और रामकुमार वर्मा भी एक नूतन सास्कृतिक बोध के रूप मे उजागर करते रहे हैं। छायावादी, उत्तर छायावादी एवं छायावादोत्तर युग मे, अपनी काव्य-साधना को विकसित करते रहनेवाले श्री सुमित्रानन्दन पन्त, रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र शर्मा एवं केदारनाथ मिश्र प्रभात और मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि कवि अपने परवर्त्ती काव्यों में इस नव-सास्कृतिक एवं मानव-मूलक विचार-मूल्यों को आनुभूतिक स्वर प्रदान करने के प्रयासी रहे हैं।

स्पष्टत जीवन-जगत् को मध्ययुगीन दृष्टि मे निस्सार, नगण्य, माया अथवा मिथ्या स्वप्न मानने वाली बद्धमूल धारणा छाया-युग में शिथिल हुई है और उसे एक ठोस सत्य के रूप मे स्वीकार करने का साहस प्रकाश्यमान हुआ है। छायावाद ने मानव की महत्ता और जीवन के मूल्य को स्वीकृति दी है। यही कारण है कि मानव-हृदय में सामान्यतः उठने वाली प्रवृत्तियों के विविध रूपों के रमणीय, वरणीय और वाछित चित्रों की नाना सर्जनाएँ हुई हैं। यही प्रवृत्ति, मानव को देव-अस्तित्व के समक्ष अपने मानवपन के स्वाभिमान के साथ गौरवान्वित कर जगन्मंच पर उपस्थापित करने में भी प्रतिफलित हुई है। 'कामायनी' में देव-सृष्टि की विलासिता के ध्वंस पर ही मानव-सृष्टि प्रतिष्ठित हुई है। 'श्रद्धा' और 'काम' सर्गों मे मानवीय अस्तित्व की वृहत्तर सभावनाओ का निरूपण-प्रतिरूपण हुआ है। 'पन्त' ने स्पष्ट घोषणा की कि 'ऐ मानव यदि तू

---

१. 'छायावाद की काव्य-साधना', वही, पृ० १८३, १८७

मानव बना रह सके तो त्रिभुवन मे उसे कोई कमी न रहेगी।'[1] प्रसाद, निराला, महादेवी, राम कुमार वर्मा, नरेन्द्र, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह, बच्चन आदि ने मानव-स्पृहाओं एवं प्रेम-रति-भावना के भावोच्छल गीत गाए हैं।

यह 'मानव-वाद' आदर्श और पराक्रम के आयाम पर 'मानवतावाद' के रूप मे प्रस्फुटित हुआ है जहाँ मानव की उच्चतम सभावनाओं, कर्मठताओं और जगन्नियत्रण की सफलताओं के सकेत चित्र अधिक प्रमुख हो जाते हैं अथवा दूसरे शब्दों मे देव-शक्तियों का समस्त वर्चस्व मानव के महिमा-मंडित रूप में ही प्रधानत: उतारा जाता है। मानव के अस्तित्व की सहजताओं और उसकी स्वभाव-गत ईहाओं-इच्छाओं को मानवीयता और मानव के सहज धर्म के रूप मे स्वीकार कर जब उसे अपने को अपना ही आदर्श मान लिया जाता है तब यह भावना 'मानववाद' की परिधि में आवेष्टित रहती है। 'मानव-वाद' में मानव-समूह की सामूहिकता और उसके सम्मिलित प्रयास की अपेक्षा मानव के व्यष्टि रूप और उसकी कामना-शीलता को नकार से स्वीकार में परिणत किया जाता है। पूर्व अथवा मध्य युग ने जिन कामनाओं को त्याज्य वासना मानकर उन्हे गर्हित और निम्नोन्मुख घोषित कर दिया था, मानव-वाद उन्हे दुर्बलता के स्थान पर मानव का सहज और अनिवार्य स्वभाव मानकर उसकी शक्ति घोषित करता है। पिछली नकारात्मक निषेधात्मकताएँ खोखली और मूल्यहीन हो जाती हैं। पिछली जीवन-दृष्टियों की तुलना में यह जीवन-दृष्टि, अपरिग्रह और त्याज्यता का नव परिभाषण और जीवन-मरण का नव रेखाकन करती है।

'मानव-वाद' मे, पिछले युगों का भाग्य-वाद, विधि-विश्वास, नियति-वाद और सर्वस्व की दैवाधीनता के सिद्धान्त अमान्य से हो जाते हैं। अप्रत्यक्ष शक्तियों के समक्ष मानव की कृपा जीविता का विश्वास टूट जाता है। कुछ विद्वान् मानववाद के उस पक्ष को नास्तिकता और अति-भौतिक-वादिता का अनिवार्य परिणाम मानते हैं जहाँ मानवावाद मानव को अपना भाग्य-विधाता और जीवन-शिल्पी घोषित कर देता है। समस्त संभावक क्षमताओं को मानव-अस्तित्व-व्यक्तित्व में निहित करने की दृष्टि, उन्हें निरीश्वरवाद और अराजकता भी लग सकती है, और मानववाद को मुक्त भोगवाद का पर्याय और अनुशासनहीनता का स्वैरी दर्शन भी कह सकते हैं,

---

१. 'मानव' शीर्षक कविता, पन्त 'पल्लविनी'

पर छायावाद की मानववादी दृष्टि से इस प्रकार का कोई संकट आता नहीं प्रतीत होता। छायावादी कवियों की आध्यात्मिकता और रहस्य-भावना ने इस मानववाद को संयत, अनुशासित और मर्यादित करने में पूरा योगदान किया है। इसके द्वारा शताब्दियों से नकारात्मक दर्शन के प्रभाव से मानव- आत्मा पर जमी निष्क्रियता और जड़ता को धोने और उसे जीवन-जगत् में नूतन कर्मोष्मता से भरने एवं गतिशील बनाने के साधन के रूप में नवीन जीवन दृष्टि देने का उपक्रम ही किया गया है। महादेवी वर्मा ने जहाँ मानव को पीड़ा पालने को उसका सामर्थ्य कहकर देव-लोक को चुनौती दी है, वह उच्छृंखला का मानव रूप नहीं वरन् कर्मठता, सहिष्णुता और अपनी कटु-मधुर उपलब्धियों को स-साहस स्वीकार करने का विशिष्ट तेवर ही भंगिमायित हुआ है। 'कामायनी' के मनु का चरित्रांकन भी इसका बहुत कुछ प्रमाण है कि उच्छृंखला और दायित्वहीनता नहीं, वरन् जीवन और कर्म के परिणाम स्वरूप उत्पन्न नियत फलों की स्वीकृति और मूल्यांकन की रचनात्मक क्षमता ही, मानव को ऊर्ध्वमुखी बना सकती है। उद्दण्डता विशृंखलता की जननी होती है।

मानववाद का मूल मन्त्र जीवन-जगत् के कर्मात्मक स्वीकार और अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं की सम्भूतियों के अधिकाधिक अंगीकरण और प्रकाशन से सम्बद्ध है। इस मानववादी स्वर को उसकी सही ऐतिहासिकता और तत्कालीन भारतीय पारिवेशिकता में परखने की आवश्यकता है। पाश्चात्य जगत् में मानववाद का उद्भावन भले ही, भौतिकता के भोग की अधिकाधिक विवर्द्धमान पिपासा और अधिकाधिक दायित्व-हीनता की काल्पनिक सुखाशा में हुआ हो, पर भारतीय काव्य छायावाद मे उत्थित यह मानव-वाद, मानव को भाग्याधीनता के जड़ बन्धन से मुक्त करने और उसकी सक्रियता और सार्थकता को उद्बोधित करने के परिसर में ही गृहीत हुआ है। अतिशय मनोदमन, कामना-निरोध और विराग-निवृत्ति जीवन को खोखली और चतुरों को शोषक जाल फैलाने में ही सहायक होते आए हैं। इस कृत्रिम आत्म-हीनता, निरीह अकर्मण्यता और भीरु कायरता की फाँक को हटाने की ओर न केवल बालगंगाधर तिलक और महात्मा गाधी जैसे राजनीति-पूज्य जन ही प्रयासशील रहे हैं, वरन् स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द और महर्षि अरविन्द भी सचेष्ट रहे हैं और अपनी अध्यात्म साधना के भीतर जीवन-जगत् के प्रति एक सार्थक और क्रियात्मक प्रेरणा का नव-सांस्कृतिक उन्मेष जगाते रहे हैं।

यह मानववाद, मानवीय दुर्बलता के दार्शनिकीकरण से आगे बढ़कर मानवीय रचनात्मकता, साहसिकता एवं जीवन-जगत् के प्रति एक प्रयोजन-पूर्ण अभियोजन का परिस्फुरक भी रहा है। मानवीय इच्छा-मय अस्तित्व, उसकी अन्त: क्षमताओं और रचना-शीलता को जगाने तथा इस लोक को स्वीकार कर उसे आनन्दमय, रसपूर्ण और स्वस्थ प्रावृत्तिकता के सहारे अर्थ-पूर्ण बनाने का यह अभिक्रम मात्र भोगवाद कहकर नहीं टाला जा सकता। एक सन्तुलित व्यक्तित्व और सार्थक मानवीयता के लिए मानवतावाद में पर्याप्त अवकाश है। पाश्चात्य जगत् में यह एक प्रतिक्रिया मात्र भी हो सकता था, पर तत्कालीन भारतीय परिवेश मे शतियों से अनुर्वर और निष्क्रिय बने दास भारत के लिए यह एक आवश्यक युग मंत्र था। शासन-प्रशासन, समाज-व्यवस्था और मानव मानव के बीच परिवर्त्तव्य समाज-सम्बन्धों तथा घृष्ट मूल्यों की जडता मे सने भारतीय जन-समाज के सन्दर्भ मे, मानववाद एक अनिवार्यता बनकर आया था। एक स्वतन्त्र देश मे मानववाद की लहर एक प्रचलन (फैशन) या अस्वस्थ स्वच्छन्दता की माँग के रूप मे आ सकती है, पर एक विदेशी-शासन-संत्रस्त देश मे, जहाँ मानव भेड़, बकरी बनाए जा रहे हों और भारत-माता एक निरीह मेष-माता की तरह केवल तप्त आँसू बहाने के लिए विवश हो,[1] वहाँ मानव मे मृत्युञ्जय को जगाना और विश्व भर को मानव के पद-रज-भार से भी लघु बताना, एक विशेष अर्थ रखता है। 'पन्त' ने मानव को 'नख-शिख-शोभन', 'सबसे सुन्दरतम' और 'निखिल सृष्टि मे चिर निरुपम' कहा तो निराला ने मानव आत्मा के उस कालातीत व्योमकेश-रूप को उभारा जो विराट् का प्रतीक था। प्रसाद ने मानवता को 'विजयिनी' बनने का महा स्वप्न देखा और महादेवी वर्मा ने मानव की लघुता और देवदृष्टि मे उसकी तथाकथित हीनता के भीतर से मानव की सर्वक्षम क्षमता और साहसिक सहिष्णुता को उभार कर एक नई चुनौती का प्रक्षेप किया। मानव हृदय की प्रेम-प्रीति 'उल्लास-पीड़ा, संयोग-वियोग-भावना, नर-नारी के साहचर्य और रसपूर्ण सहयोजन तथा जीवन के वरण और उसके स्वस्थ उपयोजन का यह स्वीकार पिछली मध्ययुगीन जीवन-दृष्टि से जहाँ अपने असन्तोष और विद्रोह का साहसिक प्रकाशन था, वहीं आधुनिक विश्व के नूतन विकासों के नए सन्दर्भों मे भारतीय संस्कृति और मानस के नूतन अभियोजन और परम्परा के सार्थक नवीनीकरण का भी संकेतक थी। फलत. नूतन सामाजिक सन्दर्भों में अपे-

---

१. 'जागो फिर एक बार' कविता, दूसरा खण्ड, निराला।

क्षित नई मानसिकता, तदनुकूल मूल्य-विधान और नव्य मानवीय सर्जकता का आरोहण हुआ।

छायावाद के गर्भ से फूटा व्यापक मानवतावाद का यह उत्स सम्पूर्ण हिन्दी कविता का समग्र प्रवाह भले ही न बन सका हो, पर उससे प्रेरित और आगे युग की मनोभूमि मे अपने प्रसार करने के प्रयास मे अनुरत, उसका एक मधुर, कोमल, सजल, तरल और करुण स्रोत अवश्य ही आगे बढ़ता गया है; यद्यपि समालोचकों और सम्मानित युग-धर्मी पत्रिकाओं द्वारा उसकी आपराधिक उपेक्षा हुई है जबकि सामान्य साहित्य प्रेमी जन समाज और ग्रन्थि-हीन सहृदयों द्वारा वह निरन्तर समादृत होता आ रहा है। इस स्रोत के भी दो उपस्रोत हैं—(१) मानव-मानवतावादी गीत विधा, (२) मानव-मानवतावादी प्रबन्ध विधा। छायावादी काव्य अपने आरम्भ में गीतात्मक, प्रकीर्ण और मुक्तकात्मक ही रहा। नव-चेतना के अभिक्रमणकाल मे स्फुट अनुभूतियों, भावों और भाव-कल्पना-स्फुरित छोटे-छोटे बिम्बों से ही आरम्भ हुआ। छाया-कवि केवल अपने संलग्न पूर्ववर्त्ती साहित्य और जीवन-मूल्यों से ही नहीं ऊबा था; वह पिछली मध्यकालीन जीवन-धारा एवं काव्य के कुछ मूल्यों से भी असन्तुष्ट था। आरम्भ में उसने स्फुट वस्तुओं, वस्तु-स्थितियों, मन स्थितियों और प्रासंगिक मान्यताओं के विरोध मे फुटकल प्रगीत-गीत रचे। प्रकृति से मानव-सम्बन्धों की एक नई-ताजी अनुभूति-भंगिमा को उभारते हुए उसने प्रकृति और मानव के बीच एक उपेक्षित अर्थवत्ता को उजागर करना आरम्भ किया। उसे तत्कालीन सामन्त मूल्य और अभिजातिक वर्जनाएँ भी रुचिकर नहीं थीं। वह उन मानवीय सम्बन्ध-रूपों और आकार-प्रकारों से भी सन्तुष्ट नहीं था जो व्यक्ति पर निरे बाहर से आदिष्ट थे अथवा जिन्हे एक सामान्य संस्कार-जीवी व्यक्ति, बिना सोचे-समझे अपने पर आरोपित किए जीता रहता। वह अपने वैयक्तिक, सामाजिक और पारिवेशिक सम्बन्धों मे, अपने भीतर अथवा 'शुद्ध व्यक्ति' के भीतर की रुचि अरुचि और अस्तित्व-गत माँगों की भी प्रतिध्वनि चाहता था, जिसे सामन्ती संस्कृति अपनी भौतिक गरिमा के प्रताप मे अनसुनी कर देना चाहती थी। इस प्रकार छाया-कविता ने, अपने हृदय की रागात्मक अनुभूतियों, कल्पना-सवेगों, सौन्दर्यानुभूतियों और संवेदनों की मार्मिकता तो स्फुट कविताओं और फिर गीत-प्रगीतों मे ही उकेरना अधिक पसन्द किया। यह प्रकीर्णात्मकता उनके रागावेग और कल्पना-मनोरमता के स्फुरणों के लिए तत्वत: अधिक उपयुक्त भी थी।

यह प्रकीर्णात्मकता कुछ आगे चलकर 'प्रेम-पथिक', 'ग्रंथि' और 'आँसू' जैसी भाव कथाओ अथवा आनुभूतिक लघु प्रबन्धों मे भी साकार हुई है। धीरे-धीरे छायावाद के अधिकाश आधार स्तम्भ और प्रस्थापक-कवि भी यह अनुभव करने लगे कि जीवन-जगत् के प्रति अपनी नई रागात्मकता और नूतन मूल्य चेतना को अधिक विस्तृत और सुबद्ध रूप में अभिव्यक्त करने के लिए कुछ प्रबन्धात्मकता का भी आधार लिया जाय। ये कवि, वस्तु के बहिरंग की अपेक्षा उसकी भीतरी छवियों को कल्पना के माध्यम से सापेक्ष साकारता देकर इस प्रकार ऊपर लाना चाहते थे कि उन पर सामान्य परिचय की परम्परागत साधारणता की फाँक उतर जाय और उनके नूतन जीवन-बोधों और नवीन मूल्य चेतनाओं द्वारा उद्घाटित वह नई वस्तु पहचान पर ग्राह्य हो सके। वे साधारणताओं मे निहित-उपेक्षित असाधारणताओं को उत्कीर्ण करने लगे। इस प्रकार नए सौन्दर्य-बिम्बों और अनुभूति-चित्रों से जगमग उनके प्रकीर्ण प्रगीत-काव्य की धारा वेग से बह उठी।

छाया-कवियों की अपनी धारणाएँ, रुचियाँ, रागावेग, अनुभूति स्फूर्त्तियाँ और मूल्याकन सम्बन्धी अवधारणाएँ, निश्चित था कि इस चिन्तन भेद और नव-सास्कृतिक प्रस्थान भेद के कारण, परम्परा-पोषित सहृदयों और पाठकों को अपने पारम्परिक अभ्यासों से कुछ विलग या भिन्न प्रतीत होतीं। धीरे-धीरे उन्हे भी यह बोध होने लगा कि उनका नवीन चाहे जितना भी तात्विक और आधारभूत हो, उसे सम्प्रेष्य और परानुभूति का विषय भी बनना होगा। ये बोध चेतनाएँ नितान्त वैयक्तिक और उनकी निजी विशेषता या व्यक्ति-भेद बनकर न रह जाएँ और उन्हें उत्तरोत्तर जन-समूह की चेतना की भी स्वीकृति मिले। अत. उनकी दृष्टि भी प्रबन्धात्मकता की ओर गई। इसमें उन्हें कई सुविधाएँ भी संभाव्य थीं। जिसे कोई कवि की नितान्त विचित्रता या विलक्षणता कहकर टाल सकता था, वे जब प्रबन्धागत पात्रों और वस्तु स्थितियों के सन्दर्भ में उजागर होंगी तो वह कुछ अधिक संभावनाओं के साथ परकीय और अन्य संभव भी प्रतीत होने लगेंगी। इससे सुबोधता, लोक-प्रियता और लोक-विस्तार की संभावनाओं का पथ अपेक्षाकृत प्रशस्त होगा। काव्य मे सुबोधता आएगी और प्रबन्ध-शैली की सापेक्ष वस्तुवत्ता के कारण उसने अमूर्तों का सम्मूर्त्तन और अरूपता में सरूपता का फैलाव होगा। फलतः 'प्रेम-पथिक', 'ग्रंथि', 'आँसू' आदि भाव-कथाओं और अनुभूति-वृत्तों की परम्परा सन् १९३६ तक 'कामायनी' महाकाव्य की प्रबन्धात्मकता में परिणत होकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख

आई। समालोचकों का यह आरोप कि छायावादी काव्य-चेतना केवल मुक्तक काव्य के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, इसमें प्रबन्धों की गुंजाइश नहीं है, सहसा चकित होकर ठिठक गया। 'दिनकर', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', मोहनलाल महतो 'वियोगी' आदि कवि जो वर्णन, वृत्त, शील और कथा का आधार लेकर प्रबन्ध अथवा निबन्ध-कविताएँ (वस्तु-परक, वर्णनात्मक एव विचार-परक लम्बी कविताएँ, प्रबन्ध काव्य नहीं) लिखते आ रहे थे, उन्हे भी प्रबन्धों की प्रेरणा मिली। आगे चलकर 'आर्यावर्त्त' की ऐतिहासिकता, 'दिनकर' की सामाजिक यथार्थ चेतना और 'प्रभात' की नम-मूल्यात्मकता का विकास हुआ।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त मूलतः सौन्दर्यवादी कवि रहे हैं। सौन्दर्यानुभूति के लिए कल्पना साधन और उपकरण रूप में अनिवार्य ही होती है। सौन्दर्य का एक अनिवार्य पक्ष वस्तुवत्ता या वस्तु-परकता भी है, क्योंकि सौन्दर्य को चाहे द्रष्टानुभूति कहा जाय या सवेदना की प्रमाता-गत संवेदना, वह कहीं न कहीं अपने बाहर की वस्तुवत्ता से अवश्य ही जुड़ा होगा, अत पन्त को यदि मूलत: और अन्य छाया-कवियों की अपेक्षा अधिक वस्तुमुखी या बहिर्मुखी कवि कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। सौन्दर्यात्मक कल्पना से प्रेरित प्रगीतों और कविताओं के कुशल चित्रकार और सजग भाषा-शिल्पी 'पन्त' ने भी आगे चलकर स्फुटता का विकास करते हुए प्रबन्ध-लेखन का सहारा लिया। उनके रूपकों और कल्पना प्रधान वर्णनों की कविताओं ने उन्हें 'लोकायतन' जैसे प्रबन्ध-काव्य के लेखन की ओर प्रेरित किया। 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मि-रथी' और 'उर्वशी' जैसे प्रबन्ध युद्ध और शान्ति, जाति-पाँत से ऊपर उठे मानव के आन्तरिक श्रेष्ठत्व, साहसिकता, औदात्त्य और मानवीय प्रेम-सौन्दर्य-परक चेतनाओं के विविध आयामों की सन्तोलक काव्य-दृष्टि उनके प्रबन्धों से साकार होने लगी। 'पन्त' की कवि-चेतना ने प्रकृति, दर्शन, संस्कृति, गाधीवाद, प्रगतिवाद और आरविन्दिक भागवत जीवन तक सोपान-गमन किया, कभी प्रगतिवादियों से निन्दित, कभी प्रशसित और पुन· निन्दित होते रहे; उन पर नव रहस्यवादी, वायवीय और पुनरावर्तनवादी होने के आरोप आते रहे, पर छायावादी काव्य की मूल मानववर्त्ती चेतना ने कोई अवरोध नहीं माना। शिल्प-शैली की दृष्टि से नये प्रयोगों की ओर भी गए, पर मानव-धर्मिता और मानवीयता का तत्व उन्होंने नहीं छोड़ा। मानव-मन की 'डाली-डाली' और उनके अनेकविध सुमनों को

चुनने-परखने की उनकी 'गुंजन' की चेतना निरन्तर सस्पुष्ट होती गई, और उनकी ऊर्ध्व-चेतना, अन्तर्विकास, दिव्य जीवन और भूतात्ममिलन की स्वर्ण-दृष्टि मानव-चेतना के आयामों से अपने को विरत न कर सकी। 'लोकायतन' मे लोक चेतना के द्वार-बन्दनवारों की नव-नव सज्जा के अभियोजनों से उनके काव्यात्मक प्रयास सक्रम रहे। नरेन्द्र शर्मा ने भी स्फुट गीत प्रगीतों की सहज मानवीयता को 'द्रौपदी' जैसे प्रबन्धों में अभिव्यक्त किया है। भगवतीचरण वर्मा काव्य से उपन्यासों की ओर मुड़ गये और अपनी प्रबन्धात्मकता को तुष्टि दी। 'बच्चन' जी अपनी विशिष्ट और खुली रोमानी रागात्मकता के साथ गीतों मे ही परिसीम रहे। महादेवी वर्मा अपनी प्रतिभा की एकनिष्ठ काव्य-साधना को गीतों को ही समर्पित करती रही है। उनके रहस्यवाद मे मानवीयता की गौरवानुभूति आदि से अन्त तक गुंजरित रही है। छायावादी काव्य के बीच उदित यह मानववादी मानवीयता आज तक मुखर होती रही है, जिसमे मानव की गुरुता, अस्तित्वगत सार्थकता, मानवीय स्वाभिमान, मानवीय आकाक्षाओं के औचित्य, अधिकार-रक्षा, न्याय, बन्धुत्व, स्वाधीनता और समता के भाव बराबर उन्मिष्ट और प्रद्योतित होते आ रहे हैं। एक तो ये कवि अपेक्षतया समर्थ और प्रतिभावान रहे हैं, दूसरे इन्होंने सबल और प्रेरक प्रबन्धों का सहारा लिया है, फलतः ये लाख प्रयासों के बावजूद उपेक्षित और आच्छादित नहीं किए जा सके।

मानववादी गीत-प्रगति-धारा

छायावादोत्तर काल में (उत्तर-छायावाद-युग के पश्चात) मानववादी गीतों की एक सहजोत्फुल्ल धारा प्रवाहित होती आ रही है। ये गीत मानववादी इसलिए कहे जाएँगे कि इनका मूल विषय मानव की मानवीयता के सहज और प्रबल राग रहे हैं और यह धारा राजनीति, अर्थशास्त्र अथवा सम्प्रदाय के स्तर पर किसी भी दल से प्रतिबद्ध नहीं रही है। इसकी मूल प्रतिबद्धता मानव के सहज-तरल अस्तित्व, उसकी रूप-सौन्दर्य-चेतना, प्रेम-विरह, आकर्षण-विकर्षण, प्रकृति और मानव के भाव-कल्पना-मय सम्बन्ध, जीवन की उत्फुल्ल रसमयता, सरस पारिवारिकता, नर-नारी के उदात्त सम्बन्धों और मानव के मन-आत्मा के समृद्ध आकाक्षा स्वप्नों से रही है। छायावादी आलम्बन-गत कुहासा, द्वयर्थक रहस्यात्मकता, छद्म आध्यात्मिकता अथवा शुद्ध प्रकृति-विलास से आगे बढ़कर इन

गीतकारों ने मानव-अस्तित्व के सत्यम् और शिवम् को सुन्दरम् के रागात्मक धरातल पर उतार कर उसे अनुभूति की ऊष्मा का अन्तस्ताप प्रदान किया है। इनमे दर्शन का घटाटोप न होकर मानवात्मा की सहज-स्वीकारात्मक वृत्तियों का भावात्मक गायन हुआ है। छायावाद के प्रेम-सौन्दर्य मे, रहस्यवाद से कम, किन्तु फिर भी एक अश तक विराट्ता और कल्पनात्मकता का चमत्कार सम्मिलित रहा है। सीमा के साथ असीम, सान्त के साथ अनन्त और श्लिष्ट प्रतीकात्मकता का आग्रह-आवरण भी इनमे नहीं अपनाया गया है। मानव की सरसता, सजलता, कोमलता, उदारता, सुकुमारता, सौन्दर्यशीलता और तरलता को मुख्यता देने के कारण कुछ लोग इसे प्रेम-शृगार अथवा सौन्दर्य-प्रेम के गीतों की परम्परा भी कह देते है और प्रयोग, प्रगति, नएपन, अ-कविता एवं बीटल वर्ग के नवलेखक इसे 'मचीय कविता' कहकर भी अभिनिन्दित और कदर्थित करते रहे हैं, पर ये गीतकार जन-मानस को सर्वाधिक आकृष्ट करते रहे हैं और अपनी प्रतिभा के स्तर के अनुकूल इन्हे लोकप्रियता और मान्यता भी प्राप्त है। इनके बिम्बों और प्रतीको मे अमूर्त्तन की चेष्टाओ की अपेक्षा ठोसपन, मूर्त्तता और सवेदकता की दृष्टि प्रमुख दिखलाई पडती है। इन गीतकारों का प्रयास चौकाने, आतकित करने, उद्विग्न बनाने, व्यग्य-विद्रूप करने, अपने को अजनबी रूप मे प्रस्तुत करने, नग्न भाषा में वर्जनीय और अश्लील को खुली भाषा मे कहकर हतप्रभ करने या मन को तिक्त बनाने की ओर न होकर, भाषा-छन्द के सहज तरल लय-विधान के माध्यम से मानव-मन को आकृष्ट और विभोर करना रहा है। ये विसगति, सत्रास, व्यर्थता, अस्वीकृति, परम्परा-भजन, मूल्य-निषेध और गद्यात्मक बौद्धिकता की अपेक्षा सगति-सामजस्य, उत्फुल्लता, आशा, उल्लास, सार्थकता, रचनात्मक स्वीकृति, परम्परा-योजन और समूल्य बोधों के उद्-बोधन-सम्प्रेरण को अधिक महत्व देते रहे है।

मानवीयता, राष्ट्रीयता, अपरीति कुरीति-विरोध, रूढि-भंजन, विश्वात्मक भाव, समता, स्वतत्रता, बन्धुत्व, निर्जातीयता, धर्मान्धता-खण्डन और मानवीय एकता, प्रकृति के रमणीय परिवेश, सुखद भाव-परिवेश और उदात्त-उदार भावनाओं का उन्मेषण इनके गीतो की आस्था रही है। इनकी रचनाएँ स्फुट गीतात्मक, सगीत तत्व से पोषित और अन्तर्बाह्य लयात्मकता के समजन से परिसाधित होती हैं। छायावाद से विकसित प्रतीकात्मकता, नाद सौन्दर्य, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता से सबल विशेषण-व्यजना,

प्रकृति का मानवीकरण, प्रकृति की उद्दीपनकारी परिवेशणा, पूर्ण बिम्ब-विधान (खण्डित बिम्ब-विधान के प्रतिकूल) और परम्परा से प्राप्त भाषा-सस्कारों की पिछली शक्तियों और अभिव्यजनाओं की परिमार्जना—आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं जो इसे छायावादी काव्य की सहज अगली कडी का महत्व प्रदान करती हैं। छन्दों के तोडने, गद्यात्मकता, बौद्धिकता, वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्रों के अनगढ़ प्रतीकों के चयन मे इनका विश्वास नहीं रहा है। इन गीतकारों के समक्ष अभिव्यक्ति के सकट का प्रश्न भी उतना भयावह और अराजक नहीं रहा है जो प्रयोगवाद, नयी कविता और साठोत्तरी कविता के साथ रहा है। ये भाषा से अधिक कथ्य, भाव, अनुभूति, राग और सवेदना की तीव्रता को महत्व देते है। इन्हें राहो के अन्वेषी होने का इलहाम भी नहीं रहा। बाह्यारोपित वर्जनाएँ या आयातित मनोग्रंथिलता का इन्हे आकर्षण नहीं रहा। अनुभूतियों और बोधों को अधिकाधिक सम्प्रेष्य बनाने की ओर इनकी दृष्टि अवश्य रही है। यही कारण है कि जन-मानस और सामान्य सहृदय-वर्ग इन्हे ही कवि और इनको कविता को ही कविता मानकर सुनता सराहता आ रहा है। 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'दिनमान', 'प्रतीक', आदि सम्प्रदायबद्ध पत्रिकाएँ इन्हे भले भाव से न अपनाएँ और प्रकाशित न करें, पर 'आकाशवाणी', 'जन-समारोह', राष्ट्रीय पर्वोत्सव, सहृदय साहित्यिक समाज और सस्थान इनको समादृत करते तथा अपने स्तर पर सच्ची कविता का प्रतिनिधि मानते है। न इनके 'पॉव' 'नाव' के होते हैं, और न ये 'मछलीघर' या 'काठ की घंटियाँ' बजाते या 'बॉस' के 'पुल' का-सा ढॉचा रचते रहे है।

यदि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखा जाय तो यह मानववादी काव्यधारा छायावादोत्तर काल मे शुद्ध साहित्यिकता का एक प्रकार से अकेले प्रतिनिधित्व करती रही है। 'शुद्ध साहित्यिकता' अथवा 'शुद्ध काव्यात्मकता' से यहाँ हमारा अर्थ उस वैशिष्ट्य की प्रधानता और मुख्य-लक्ष्यता से है जो तत्वतः और मूलत साहित्यकार अथवा कवि का मूल धर्म होता है। यह वैशिष्ट्य है रचनाकार की वह भूमिका जो उसे ज्ञान-बोध की अन्य धारोपधाराओं से विलग और विशिष्ट बनाती है। कवि सर्जक शब्द और अर्थ के समुचित साहचर्य, एकनिष्ठ सहभाव और दोनों के अविभाज्य वैशिष्ट्य को सदा से महत्व देता आया है। आचार्य भरत से नन्दिकेश्वर तक रसात्मकता को काव्य का प्रमुख तत्व माना गया है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' के प्रस्थापक 'काव्यालकार'—कार भामह ने दोनों की 'सहितता' को पारिभाषिक

अर्थ में प्रयुक्त करते हुए अलंकार को भी आवश्यक माना। इस सहित-सौन्दर्य को उद्भट, रुद्रट और रुय्यक आदि अलकार से उद्भूत मानते रहे है और 'तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानम्' का सार निकालते रहे हैं। ध्वनि-वादी 'ध्वनि-तत्व' (अनभिहित 'अर्थ-सौन्दर्य'-तत्व) को 'काव्यस्यात्मा ध्वनि.' कहकर उद्घोषित करते रहे। वामनाचार्य के काव्य का यह सर्ववैशिष्ट्य 'रीति' (विशिष्टा पद-रचना), वक्रोक्तिकार कुन्तक ने वक्रोक्ति (वैदग्ध्यभंगी-भणिति) को काव्य-जीवित कहा; क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य', महिमभट्ट ने 'अनुमिति' और पंडितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयता' को काव्य का वैशिष्ट्य कहा। साहित्यिक सामजस्य से उद्भूत शब्द और अर्थ की 'सहितता', 'अलङ्कृति', 'रसात्मकता', ध्वनि-शीलता, औचित्य, भंगिमा-युक्त कथन, 'अग्निपुराण' की सगुण, दोष-रहित, अलंकृत एवं संक्षिप्त इष्टार्थता, राजशेखर की 'उक्ति-विशेषता' (उक्ति-विशेषं काव्यम्), आचार्य प. महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'बिम्बात्मकता', 'आनन्द', 'मनोविचारों की तीव्रता' और 'स्वाभाविकता' (सहजता) पर बल देना, आचार्य 'शुक्ल' का कविता को रस-दशा या 'हृदय-मुक्ति' या 'भाव-योग' घोषित करना, 'प्रसाद' द्वारा 'श्रेय-मयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा' को काव्य का व्यावर्त्तक गुण मानना, महादेवी का 'सामंजस्य-मयता', 'आयास-हीनता', 'भाव-क्षेत्र के सत्य की झाँकी' या पर-सम्प्रेष्य भावना-चित्रण' को कविता का विशेषक गुण मानना, 'पन्त' द्वारा उसे 'परिपूर्ण क्षणों की वाणी' या 'सौन्दर्य मय और मगल मय भावों का स्वच्छन्द तथा सुन्दर प्रकाशन' की सज्ञा देना और 'निराला' का कविता के लिए पूर्ण-चित्रता और भाव-मयता के गुणों की अनिवार्यता मे, तत्व-विशेष अथवा पक्ष-विशेष पर अलग-अलग भले ही अधिक बल दे दिया गया हो, पर सौन्दर्य, भाव, अनुभूति का सहजोद्रेक, भंगिमा, सूक्ष्म अर्थ-सौन्दर्य, रस, रमणीयता, चारुता आदि के नाम-भेद से जिस एक वैशिष्ट्य पर घूम-फिर कर अवधारण किया जाता रहा है, वह है आनुभूतिक सत्यता जिसे कवि अपने कथ्य को बिना रागात्मक स्तर पर ग्रहण किये पा ही नहीं सकता। सौन्दर्य और रमणीयता भी पर-सापेक्ष स्थितियाँ हैं जहाँ संवेदना, भावात्मक स्तर, आनुभूतिक आयाम अथवा रागात्मक बोध अनिवार्य होता है और उसमें श्रोता, पाठक या सहृदय तक कथ्य की प्रेषणीयता या किसी न किसी अंश मे 'साधारणी-करण' की आवश्यकता एवं उपयोगिता, हर दशा मे, अपेक्षित मानी जायगी। कोई कथन बौद्धिकता, वैज्ञानिकता या दार्शनिक ज्ञान की दृष्टि से चाहे जितना भी महत्वपूर्ण उपयोगी और वरिष्ठ क्यों न हो, काव्य की

दृष्टि से वह तभी श्रेष्ठ होगा जब सम्पूर्ण, कथ्य की ग्रहीति कवि और सहृदय द्वारा समान रूप से (यदि समान मात्रा या अंश मे नहीं तो कम से कम समान दिशा मे) रागात्मक, भावात्मक, रसात्मक, आनुभूतिक अथवा गम्भीर सवेदनात्मक स्तर पर हुई रहेगी। 'रस' को यदि सहृदयगत या प्रमातागत मानकर उसे कविता की निजी इकाई से बाहर की अथवा पाठक परिणति की स्थिति भी मान ले, तो भी यह मानना ही होगा कि यदि कविता की भाषाबद्ध काया में वह प्रत्यक्षतः न भी हो तो भी काव्य को अपने वैशिष्ट्य और अन्य व्यावर्त्तकता के लिए श्रोता, पाठक, प्रमाता या सहृदय तक पहुँचते पहुँचते ऐसी प्रभावक शक्ति को अक्षुण्ण तो रखना ही होगा। यह क्षमता लालित्य, रागात्मकता, अनुभूति-प्रेरित कल्पनात्मक सौन्दर्य-सृष्टि और बिम्बात्मक अनुभूति से ही उद्भाव्य है। उसे अमूर्त्तता से मूर्त्तता की चारुता तक पाठक को लाना ही होगा।

यदि कविता की कला मे मधुरता, सुन्दरता, सर्जनात्मकता, उपयुक्ततम चयन, प्रभाव-पूर्णता, पर-सम्वेद्यता और सामर्थ्य-शीलता की दृष्टि का प्राधान्य आवश्यक, अनिवार्य और व्यावर्तक है तो छायावादोत्तर काल की यह गीत-धारा अपने भीतर समस्त समकालीन इतर काव्य धारा से कविता' अथवा 'काव्य' का अधिक वैशिष्ट्य रखती रही है। औरो की अपेक्षा इस धारा के गीत प्रगीतकार कवि साधारणीकरण, सहृदय-सम्वाद और भाव-परिमार्जन एव उदात्तीकरण का अधिक ध्यान रखते रहे हैं। अपनी रुचि-अरुचि के विषय-भाव बोधो की वरीयता के कारण वे भी अपने समकालीनों की भाँति, भले ही न्यूनाधिक रूप से व्यक्तिवादियो की सामान्य श्रेणी मे स्थूलत. रख दिये जायँ, पर इस वर्ग के रचनाकारों ने अपनी अनुभूति और निजत्व को भी अधिक मे अधिक पर-सवेद्य और सहृदय-सम्प्रेष्य बनाने का औचित्य अनुभव करते रहे है। इस धारा से इतर लोग अपनी निजता और व्यक्तिता को अधिक से अधिक विलक्षण, सर्व-विलग और सामान्य से भिन्न रूप में उपस्थापित करने के विश्वासी रहे है। उन्होने नूतनता, अत्याधुनिकता, सर्व वैलक्षण्य, अनमेलता, अजनबीपन, विसगति, कुण्ठा, रोषाक्रोश, अस्वीकृति, सब प्रकार की व्यवस्था से निर्भेद विरोध, मूल्य मात्र की अस्वीकृति द्वारा अपनाने, अपने विश्वास मे लेने, आत्म-परिचय को सहृदय-सम्वेद्य बनाने तथा अपने प्रति अन्यों की सहानुभूति अर्जित करने की अपेक्षा, चौकाने, आघात देने, फटकारने, एकपक्षीय व्यंग्य विद्रूप करने एव अपनी असाधारणता, असामान्यता और वैचित्र्य को अधिक से अधिक गहरा करने का प्रयास किया

है। गीतकारो ने अपने और शेष समाज के बीच उस सेतु को निर्मित करने के दायित्व को कभी भी नगण्य नहीं समझा जिससे उन जैसा न भी अनुभव करने वाला व्यक्ति, उनकी विदग्ध वाणी से आकृष्ट होकर, उन तक आने की स्पृहा अनुभव करता है। गीत काव्य की यह सेतु-निर्माणकता इसे इतर कवियों की सेतु-भजकता से सर्वथा भिन्न खड़ा कर देती है। उनमे राग, अनुभूति और भाव का वह तत्व उन्हें ऐसी भाषा और सौन्दर्य-विधायिनी कल्पना की मूर्त्तता देता रहा है जो छायावाद का पिष्ट-पेषण न होकर उसकी भाषा-शक्तियो और रचनात्मकता का अग्रतर विकास कहा जायगा। इस धारा ने जहाँ छायावादी अमूर्त्तता और कुहर-जाल से आगे बढ़कर रमणीय एवं मानवीय मूर्तना का विस्तार किया है, वहीं छायावादी रहस्यात्मकता, द्वयर्थकता, छद्म दार्शनिकता और कृत्रिम गौरव-मडल का भी परित्याग किया। अपनी कथ्य-गरिमा और प्रतिभा-प्रभा मे वह छायावादी महा-स्तम्भों की तुलना का न भी कहा जाय, उसमे उतना विस्तार और अर्थ-गौरव का तत्व न भी माना जाय, पर इतना निस्सन्देह है कि उन्होंने मानवीय अनुभूतियों और मानव मूल्यों को अधिक स्पष्टता और सहजता के साथ ग्रहण किया है एव अपनी प्राजल भाषा, बिम्ब योजना एवं प्रतीक-प्रयोजना मे उसे सहृदय-हृदय तक प्रेषित-सम्बोधित करने मे पर्याप्त सफलता अर्जित की है।

इस मानववादी गीत-प्रगीत-धारा का विश्वास साधारणीकरण, आत्मीयता-विस्तार, रागोद्बोधन, कल्पना-प्रस्फुरण और भावानुरूप भाषा-चयन मे अटूट रहा। प्रगतिवादी कवि वर्ग-सघर्ष, प्रगति और साम्यवादी समाज रचना की घोषित प्रतिबद्धता के बावजूद, बौद्धिक हुकार, राजनीति-प्रचार और घृणा-प्रचार मे पुनरावृत्ति करता रह गया और अपने कथ्य को हृदय, भाव, राग, अनुभूति अथवा सवेदना के स्तर पर उतार कर कथ्य के 'कविता' होने की प्रथम और अनिवार्य शर्त को अधिकाशत पूरा नही कर सका। प्रयोगवादी अप्रयुक्त, अकाव्यात्मक और बौद्धिक तत्व को कविता बनाने के प्रयास मे राहे खोजता, 'सप्तक' बनाकर एक शिविर बनाता और परम्परा के विरोध मे नूतनता और खुरदरेपन का सौन्दर्य ही निखारने मे क्रमशः आस्थाएँ बदलता रहा। 'नयी कविता' विचारात्मकता और बौद्धिकता को नये प्रतीको के वैचित्र्य से व्यक्त कर 'चमत्कार की सृष्टि की समस्या' का निदान ही करता रहा।[1] फलत शब्द-चित्र, भाषा-क्रीडा, उक्ति-

---

१ 'क ख ग', अक्तूबर, १९६३, 'मलयज' 'त्रिशंकु', अज्ञेय, पृ० ४१ एव 'दूसरा सप्तक' की अज्ञेय की भूमिका सन्दर्भित।

विचित्रता, बुद्धि के खण्डित बिम्ब और वाग्बिम्ब के विधान ही कविता के आदर्श रूप मे प्रस्थापित हुए। अति-वैयक्तिकता और अधूरी, अपूर्ण एवं साकाक्ष पद-योजना, खण्डित वाक्याश, जान बूझकर असम्बद्ध किये गये वाक्यों के विन्यास, सायास दुरूहता, सर्वथा नव्य स्थापना एव कविता को आवश्यकता से अधिक वैज्ञानिक और गद्यात्मक बनाने के प्रयास ने उसमें दुर्बोधता की वृद्धि की। 'नयी कविता' सामान्य एव मूल्य-निष्ठ-पाठक सहृदयो के लिए अजनबी और आकर्षण की वस्तु बन गयी। अस्तित्ववाद के आग्रह-आयास ने कवि को सहृदय-समाज के लिये अपरिचित, अप्रकृतिस्थ और अजनबी बना दिया। 'नये कवि' ने श्रोता-पाठकों को 'चौकोर' (स्क्वायर) मान लिया और स्वयं नयी कविता बृहत्तर सहृदय-समाज के लिए चौकोर बन गयी। विषय-वस्तु के विस्तार के अत्याग्रह, गत्यात्मक-सौन्दर्य-दृष्टि तथा अति आधुनिकता के व्यामोह, घटमान एव निकटतम परिवेश की सकीर्णता 'स्वयं भोगे झेले सत्य और निजी अनुभूति के प्रति अत्यासक्ति के साथ, पुरा-प्रतीको से मनमाने अर्थ-स्फुटन और शिल्प के नाम पर मान्य शिल्प विधाओं मे अराजकता की अवस्था ने उसे शेष सृष्टि के रागों से सम्बद्ध होने मे बाधा उत्पन्न की। रागात्मकता का रोमान के के नाम पर बहिष्कार किया गया, साधारणीकरण-मात्र के प्रयास को कृत्रि-मता और अकाव्यात्मक घोषित कर देने के अतिरेक ने अवाछनीय व्यक्तिवाद को बढावा दिया, विरलतम बोध ही आदर्श कवि-बोध का पर्याय बन गया। शब्द-सकोचन और अति सामाजिकता ने अर्थ-ग्रहण मे जटिलता और ग्रन्थिलता उत्पन्न कर दी। भाषा मे आयातित और आरोपित लय के प्रयासों ने छन्दों के मानसिक एव सागीतिक प्रभाव की पूर्ण उपेक्षा कर दी। 'साठोत्तरी कविता' ने 'नयी कविता' का विरोध करते हुए भी, उसकी बौद्धिकता, गुह्य प्रतीकात्मकता, नग्न वासनात्मकता, सपाटता, परम्परा-विरोध, प्रतिमा-भजन, रोषाक्रोश, व्यग्य-विद्रूप, निषेधात्मकता और मूल्य-हीनता को इतना बढ़ावा दिया कि वह कविता के मूल तत्वों, शब्दार्थ के आन्तर चारुत्व और जीवन-प्रतिबद्धता से अधिकाधिक विरूप और विद्रोही हो उटी। निरथकता, मानवीय लघुता, विसगति, आघातकता और चिबिल्लेपन ने उसे कविता को 'अकविता' बनाने पर उतारू कर दिया।

इस बीच 'मानववादी गीत-प्रगीत-धारा' अपने अवमानित, उपेक्षित निन्दित और अविज्ञापित स्थिति मे भी निरन्तर (मन्द गति से ही सही) बहती रही है। उसका सन्बन्ध मानव और मानवीयता से जुड़ा रहा।

हार्दिकता और चित्त स्पर्शिता को वह अपना आधार बनाये रही। उसमें अतिरेकवाद की अपेक्षा, सन्तुलन और मध्यमार्ग के प्रति आकर्षण बना रहा। ये अनुभूतियों और भावों के गीत बने रहे हैं। गीत प्रगीत-कवि कविता को हृदय की व्यापी और रागात्मक सचार का माध्यम बनाये रहा। आज वाद रूप मे आधुनिकता, वैज्ञानिकता, यत्रवाद, विसगति, विघटन, आक्रोश, व्यर्थता और लघु मानव को अपना साम्प्रदायिक और शिविरात्मक आदर्श (मोटो) न मानने वाला सामान्य काव्यप्रेमी और सहज-तरल सहृदय-समाज इसी को कविता के नाम पर आस्वादित और यथा-सभव अपेक्षित या प्रशसित करता आ रहा है। गीतों की इसी आस्था ने 'नवगीत' को भी जन्म दिया है और आधुनिक परिवर्तित सन्दर्भों और निरीक्षणों को भी रागात्मक सस्पर्श देकर, भापालय के नये विधान मे प्रवृत्त रही है। समाज, प्रतिबद्धता, मानवीयता, सार्थकता, रस-बोध और कल्पना की सौन्दर्य-विधायिनी शक्ति और मूल्यवत्ता इसी धारा मे नाना प्रहारों को झेलती हुई अवशिष्ट है। गीत कविता की एक उपविधा है, कविता का समस्त समग्र रूप नहीं। अपनी सर्वोत्कृष्ट विशेषताओं के साथ, उसकी सीमाएँ भी है। वह जीवन की समस्त क्रियाशीलता, समग्र विस्तृति, समूची समस्या-मयता एव यावत् प्रश्न-शीलता को न अपने मे उस बिरादरी के साथ समेट सकती है और न जीवन के विराट् वैविध्य का पर्याय ही बन सकती है। वह जीवन की मार्मिकता और गम्भीरता को एक समय एक ही झाँकी दे सकती है। उसमे एकाधिक मनोमुद्राओं और परस्पर-विरोधी वृत्तियों का एकत्र एव सुविस्तृत समाहार सभव भी नहीं है और न अपेक्षित ही। गीत-इसी प्रकार प्रबन्ध का दायित्व नहीं ले सकते, जिस प्रकार प्रबन्ध गीत-प्रगीत की सीमित किन्तु अतल मर्म-स्पर्शिता की सर्वत्र सुन्दर इकाई बनने का दायित्व नहीं वहन कर सकता। वस्तुत: गीत-प्रगीत और प्रबन्ध की विधाएँ एक दूसरे की सीमाएँ है और दोनों के गुणो के अलग अलग सीमा-निधारक भी। गीत और प्रबन्ध जीवन की आवश्यकताओं और मानव-चेतना की अपेक्षाओं की दृष्टि से एक दूसरे के पूरक भी कहे जायँ तो कोई अत्युक्ति न होगी। प्रबन्ध मे विस्तार है तो गीत-प्रगीत मे घनत्व, प्रबन्ध यदि वैविध्य के समायोजक हैं तो गीत-प्रगीत एकत्व के नीरन्ध्र घन-रस के उद्दीपक और प्रकाशक। एक दृष्टि से छायावाद की भक्ति साधना, लय सधान बिम्ब-योजना, प्रतीक-विधान, नादार्थ-व्यजकता और मानव-केन्द्रिकता इस गीत-धारा मे सर्वाधिक सहजता के साथ विकसित हुई है। इसकी कल्पना में अधिक मानवीय सयम, भावुकता मे सहज सन्तुलन, मधुरता, कोमलता और

तरलता मे अधिक सुगमता और सहजता नहीं है। इस धारा का ऐतिहासिक महत्व इस दृष्टि से अनुपेक्षणीय और अविस्मरणीय है कि इसे पाश्चात्य अराजकता और अस्वस्थ अतिरेक ने सबसे कम प्रभावित किया है और इसमे भारतीय सस्कृति के जातीय बीज सर्वाधिक सुरक्षित रहे है। इसलिए आवश्यक है कि इस धारा के कुछ नक्षत्रों का अलग से विवेचन-समीक्षण किया जाय।

श्रीपाल सिंह 'क्षेम'

छायावादोत्तर मानववादी गीतकारों मे प्रो० क्षेम का नाम इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि सन् १९३९-४० के आसपास से ही वे निरन्तर गीतों की साधना मे रत रहे है और उनकी प्रतिभा और काव्य-शक्ति का सर्वोत्तम गीतों के माध्यम से ही अभिव्यक्त और प्रशमित हो ता आ रहा है। प्रयोग, प्रगति, नयी कविता और अकविता के आन्दोलनी झोंको और चौकाने वाले नारों से अनातकित और अडिग रहकर प्रो० क्षेम अविचल निष्ठा के साथ सरल गीतो की रचना मे तन्मय रहे हैं। डा० शम्भूनाथ सिंह जैसे गीतों के ध्वजवादी भी सन् १९४७-४८ के आसपास 'नयी कविता' के शिविर में प्रविष्ट होने के लिए, 'सप्तकों के आकर्षण से प्रभावग्रस्त हो गये। गीत-रचना से एक बार उनकी आस्था डिग-सी गयी और वे बौद्धिक, गद्यात्मक, लयभजक एवं जटिल प्रतीको की रचना मे खो-से गये। प० जानकी-वल्लभ शास्त्री के गीतो का प्रवाह भी पुनरावृत्ति-ग्रस्त, मन्द और हत-प्रभ सा हो उठा। हसकुमार तिवारी अन्य भारतीय भाषाओ के काव्यानुवाद के श्रम को स्वतत्र गीतरचना से अधिक महत्व देने लगे। प्रो० क्षेम के गीतकार पर ये दबाव और प्रचारातक प्रभावी नहीं हो सके। गीत-विधा और उसकी ताजी से ताजी अनुभूतिपरक सभावनाओं के बीच सन्तुलित रहकर वे अपने गीतकार की सर्जना को निरन्तर सवारते-निखारते गये। गीत-रचना मे व्यसन अथवा अभ्यास वश लगे रहना एक बात है, किन्तु उसकी सर्जकता मे आनुभूतिक और रागात्मक स्तर पर साधनाशील रहना एक दूसरी बात है, जो उन्हें उनके समकालीनों मे एक विशिष्ट स्थान का भागीदार बना देती है। इसीलिए इस धारा के (छायावादोत्तर मानव-परक गीत-धारा) के सर्वप्रथम कवि-गीतकार के रूप मे उनका नाम सर्वप्रथम लिया जाना ऐतिहासिक के साथ एक सांकेतिक महत्व भी रखता है।

गीत-रचना और उसकी आन्तर गीतिमा, वस्तुतः एक साधना और साहस की अपेक्षा रखती है, वह साहस जो विष को भी पीकर हँसे, पतझरों मे भी वसन्त की मस्ती मे झूमे और अपने अधकार को उतारने की अपेक्षा, सहृदयो को, अपने प्रकाश का रस-दान करने का विश्वासी हो—

पतझरों में भी बहारों के गीत गाये हैं,
अंधड़ों में भी किनारों के गीत गाये हैं।
गीत में अपने तिमिर मैंने उतारे न कभी,
रात साक्षी है, सितारों के गीत गाये है।

('क्षेम', राख और पाटल)

यही नहीं, प्रो० क्षेम गीतकार की क्षमता और दायित्व का एक व्यापक और बृहत्तर आयाम स्वीकार कर गीत-रचना यात्रा पर चले हैं। वे अपने आनुभूतिक दायित्व की निष्ठा मे 'गीत को छोडकर अगार उठाने' का सकल्प भी पालते रहते है—

'गर्जना छोड़कर गुंजार गुँजाया मैने,
दर्द को ऑसुओ को प्यार बनाया मैने।
आग जब सोने लगी देश के अलावो की,
गीत को छोड़कर अंगार उठाया मैने॥'

(राख और पाटल से)

गीतों के प्रति प्रो० क्षेम की यह आस्था आरम्भ से ही रही है। 'जीवन-तरी' उनका प्रकाशन-क्रम मे प्रथम गीत-संग्रह है, जिसकी अभिनन्दना और अभिवर्द्धना स्व० आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने भूमिका-लेखन के आशीर्वाद से किया है। यह गीत साधना 'नीलम ज्योति और संघर्ष' नामक द्वितीय प्रकाशित गीत-संग्रह मे, गीतों पर आघात देखकर तडप उठती है और मानव की समूची जीवन-परम्परा मे गीत का तात्विक सूत्र खोजने लगती है—

'न छीनो गीत ये मेरे, न छीनो गीत ये अपने।'

... ...

हमारे ही अकेले के नहीं, ये गीत सबके स्वर।'

इस प्रकार यह गीतास्था 'जीवन-तरी', 'नीलम ज्योति और संघर्ष' 'रूप तुम्हारा : प्रीति हमारी', 'राख और पाटल' एवं 'अन्तर्ज्वाला' के प्रकाशन-क्रमिक सकलनो मे उजागर होती गयी है। 'अन्तर्ज्वाला' गीतकार की आरम्भिक रचनाओ का सग्रह है जो जौनपुर के 'सेवा-प्रेस' द्वारा उनके जन्म-दिवस २ सितम्बर को प्रतिवर्ष मनायो जाने वाली 'क्षेम-यामिनी' के अवसर पर, 'सेवा-प्रेस', जौनपुर के पत्र पारिवार की ओर से 'समय' साप्ताहिक पत्र के 'अर्ध-शताब्दी' समारह की पूर्वपीठिका के रूप में प्रकाशित हुआ है। 'वस्तुत गीतकार की सभी रचनाएँ प्रकाशन सुविधा की कठिनाई के कारण दशकाधिक वर्षा के विलम्ब से सामने आयी है और प्रकाशन-धर्मी पीछे-पीछे के रचनाकार भी इसी कारण उनके साथ या कुछ प्रसगों मे उनसे पहले और अधिक चर्चित हाने का सौभाग्य पा बैठे है।

हिन्दी काव्य-मच और 'आकाश वाणी' के प्रो० क्षेम लोकप्रिय और सहृदयानुरजक कवि रहे है और सन् १९३९-४० से लेकर आज तक, इन ३६-३७ वर्षो के सम-विषम वर्ष-प्रवाह मे अभी भी वे ताजे और अनुभूति-पूर्ण गीतकार है।

आज भी वे 'मेरे ये गीत किसी उम्र के मुँहताज नही' और 'तरुण न भी, मेरे गीतो मे तो तरुणाई है' की अभिनव-विश्वासी चुनौतियो को देते चलते है। 'राख और पाटल' का पूर्वार्ध 'शोक गीतो' का हृदय-वेधी सकलन है। उत्तरार्ध (पाटल-अश) शृगार और रोमान की गम्भीर अनुभूतियों से सम्पृक्त तथा शिल्प-सज्जा की ताजगी से मन को छू लेने वाले सहज-विकसित गीतों का सग्रह है। 'पखुडियॉ' का अश में सुन्दर, मनोरम, सुशिल्पित और मार्मिक मुक्तको का सकलन है। 'राख' मृत्यु के शोकावसाद की सघनता, 'पाटल' रूप-सौदर्य के उल्लास के प्रतीक के रूप मे गृहीत हुआ है। 'पखुडिया' रगीय एव भाव-सुरभित मुक्तको की प्रतीकता को व्यक्त करती है। इस रचना मे भाव, कल्पना और शिल्प का विचित्र सामजस्य हुआ है। छायावादोत्तर गीतकारो मे, किसी मे भाव, किसी मे कल्पना और किसी मे शिल्प की प्रधानता है और किसी न किसी अन्य तत्व की सन्तुलित मात्रा का अभाव भी अनुभव होता है। कुछ गीतकार अपनी वैचारिकता मे असन्तुलित हो उठे है। प्रो० क्षेम के गीतों मे भाव, विचार, कल्पना और कला-शिल्प का अद्भुत और विरल सन्तुलन आश्चर्य-चकित कर देता है। उनके गीतो मे चमत्कृत कर देने वाले विशेषण-विशेषयों के अतिरिक्त विशिष्ट भगिमायुक्त क्रियाओं का भी

सुन्दर मणिकाचन-संयोग हुआ है। हिन्दी विभक्तियों के द्वारा सद्य-अर्थ-प्रदायक नव-शब्दों के निर्माण का उनका शिल्प-कौशल, अपने समकालीनों मे अद्वितीय है। एक-एक विशेषण और सबोधन में समूचे बध, अन्तरा और वाक्य-विधान को आपाद-मस्तक प्रकाशित-ध्वनित कर देने की विलक्षण क्षमता इन गीतों मे चार-चॉद लगा देती है। जब कि गीत मे एक तुकान्त क्रम का विधान चकितकारी बन जाता है। बीच-बीच मे आये अन्तरानुप्रास और आन्तर तुक-विधान भाव की गहराई को सघन और प्रच्छादक बना देते हैं।

जैसा ऊपर संकेत किया गया है, प्रो० क्षेम के गीतों मे एक सहज विकास हुआ है। गीतकार ने बाहर के दबाओं और प्रभावों का अपनी अन्त क्षमता से सामना किया है, वे उस पर अनियत्रित रूप मे हावी नहीं हो सके हैं। नये सामाजिक परिवर्तनों और सास्कृतिक राजनीतिक चापों से प्रेरणा भले ही ली गई हो, पर वह आरोपित कभी भी नहीं रही है। सन् १९४८–'५० के आसपास लिखे गये 'नीलम, ज्योति और सघर्ष' के 'सघर्ष' खण्ड मे कुछ गीद ऐसे भी हैं, जिन्हे 'नव-गीत' विधा का अग्रजन्मा कहा जा सकता है। 'चाह के चकोरे, मत रो कि रात काली है गोरी उजियाली का चन्दा अभी आयेगा'—जैसे गीतों मे जीवन के खुरदुरे यथार्थ को भी गीतायित करने का प्रयास किया गया है। उस समय के उन गीतों की भाषा भगिमा के खुरदुरेपन को देखकर, 'नवगीत' के आज के प्रमुख कवि डा० शम्भूनाथ सिंह जैसे लोग भी तब उसे गीत के उपयुक्त भाषा कहने में हिचकते थे, किन्तु आगे चलकर उसी दिशा-पथ पर नवगीतों का जन्म हुआ। 'नवगीत' के दोनों प्रमुख तत्व प्रो० क्षेम के तत्कालीन गीतो मे उभर कर प्रकट हो रहे थे। 'खुरदुरा यथार्थ' और 'लोक-स्पर्शात्मक कथ्य' जो आज नवगीतो को सामान्य गीतों से विलग करते दिखलाई पड रहे है, प्रो० क्षेम के 'नीलम ज्योति और सघर्ष' के गीतों मे सहजतया प्रतिफलित हुए हैं। न केवल 'मटियारे', 'निंदियारे' जैसे लोक-भाषा के आधार पर प्रस्फुटित शब्दरूप और नव-विशेषण, वरन् लोक-जीवन की सरसता और आम जिन्दगी की निष्ठापूर्ण प्रतिबद्धता भी उनमे स्पष्टतः प्रतिच्छायित है। प्राय. लोगो ने सहज-सामान्य और परम्परा मे विकसित गीत रूप को झटके और प्रतिक्रिया की तीव्रता मे तोडकर नव-गीतों को अपनाया है, वरन् कुछ लोगों ने तो रोमानीपन के नाम पर प्रेम-सौन्दर्य और माधुर्यमयी अनुभूतियों का प्रतिशोध-पूर्वक तिरस्कार भी किया है। ऐसी दशा मे उनके गीतकार के व्यक्तित्व की

विकास-यात्रा मे स्पष्टतः एक अजोड़ अन्तराल भी आ गया है। प्रो० क्षेम के गीतो और तथाकथित नव-गीतो मे ऐसा कोई साहसिक झटका या अन्तराल नहीं आया है। 'धर्मयुग' मे प्रकाशित उनके 'महानगर-बोध' और वर्तमान टूटन की गम्भीर अनुभूतियों की सवेदक पक्तियाँ प्रमाणास्वरूप ली जा सकती है—

(१) 'घबराई सुबह और बौराई शाम,
    एक पत्र मेरा भी ले जाना डाकिये, छूट गई पुरवा के नाम।'
(२) 'रोष-भरी आँधियाँ बहे जहाँ, पाँखुरी तुम्हें दुलार लूँ कहाँ।'
(३) 'खीच गया कोई चादर पैताने से, फिसल गयी फिर नींद आज
    सिरहाने से।'
(४) 'दृष्टि कहीं झुरमुट में बहक गयी, एक कली चंपा की महँक गयी।

प्रो० क्षेम के इन नव-गीतों मे आयातित आधुनिकता और फैशनी यंत्र-ग्रस्तता (अप्रकाशित 'एक पत्र, पुरुवा के नाम' सग्रह से) का प्रदर्शन न होकर, वह मानवीय तत्व सदैव वर्तमान रहा है जो यथार्थ को नकारता नहीं, किन्तु उनसे टूट जाने की नियति को न स्वीकार कर, जीवन और परिवेश को जीवन्तता से अपनाने का स्वाभिमानी चेतन सघर्ष और साह-सिकता की भरपूर शक्ति निहित है गीतकार को ग्राम-जीवन की गहरी अनुभूति है, नगरीयता का उसे प्रत्यक्ष झेला अनुभव भी है, अतएव इन दोनों पक्षो मे से उसे किसी को भी उधार नहीं लेना पड़ा है। सारी रचनायें सबल आत्म-सघर्ष और जीवन्त व्यक्तित्व की अन्त क्षमता से ओत प्रोत है। यदि साहित्य और काव्य एक जीवन्त और विकसित व्यक्तित्व की चेतनात्मक प्रतिक्रिया और मानव-साहस एव मानवीयता के योग-क्षेम की सास्कृतिक प्रक्रिया है तो प्रो० क्षेम का काव्य साहित्य इस दृष्टि से समूचे छायावादोत्तर गीत-विकास के इतिहास मे एक बेजोड उपलब्धि है, जहाँ न यथार्थ की अस्वीकृति है और न आत्म-विस्मारक यात्रिकता का व्यामोह। ये गीत मानव-वादिता और मानवीयता की निष्ठा से भरी सप्राण एवं सही स्वच्छन्दतः उपलब्धि है।

शम्भूनाथ सिंह

डा० शम्भूनाथ सिंह में रूप एव प्रेम-सुख के लिए 'बच्चन' की-सी मरण-कामी दुर्दान्त प्यास की ज्वालाओं का अतुष्ट हाहाकार, निराशा का

कुहाधकार और भोग की एकान्त लालसा की चटकार नहीं मिलेगी। 'बच्चन' ने छायावादी अतिवायवीयता एव आकाशीय पलायन से विद्रोह तो किया, पर उनके विद्रोह मे जवानी की उन्मत्त निरंकुशता और असफलताओं के साथ भयावह नैराश्य की भ्रान्त पुकार भी चीखती सुनाई पड़ती है। 'बच्चन' का विद्रोह जर्डीभूत रूढि-चट्टानो पर सर पटकती हुई भोगतृषित जवानी का विद्रोह है, इसीलिए उसमे धूम-धुम्र की मार्ग-रोधी कुज्झटिका भी स्पष्ट है। डा० शम्भूनाथ सिंह मे भी रूप की लालसा, सुख-भोग की तृषा एव प्रेम की पुकार है, पर यह तृषा और पुकार कल्पनाओं के रमणीय चित्रो, प्रकृति के मोहक रूपों एव आसक्ति अनासक्ति के बीच एक जीवन-वाही प्रवृत्ति की प्रेरणाओ से सपोषित होकर जहाँ एक ओर पाठको को छायावाद के अस्पष्ट अनुभूतिलोक से उतार कर जानी-पहचानी भाव-भूमि पर ला खडा कर देती है, वहीं अत्यन्त सुपरिचित जीवन-सम्पर्कों एव समाज-सम्बन्धों को भी भाव-कल्पना की आन्तरिक फुहारों से रगीन एव रस-मय बना देती है। 'रूप-रश्मि' के कवि ने 'छायालोक' मे आकर छायावाद की 'छाया' मे छिपे 'आलोक' को प्रसारित एव प्रसाधित किया है। इस गीत-सग्रह मे 'पास' और 'दूर' तथा 'आकाश' और 'धरती' दोनों ही जीवनछोरों को अपने कल्पना-पाश एव अनुभूति-आभोग मे सन्तुलित किया गया है। 'प्राण तुम दूर भी, प्राण तुम पास भी' प्रतीक वाले गीत मे नारी के माध्यम से जीवन के इन्हीं दो छोरो का समालिंगन किया गया है। 'समय की शिला' प्रतीक वाला गीत कवि की तत्कालीन मनोभूमि का पूर्ण प्रतिनिधि गीत माना जाना चाहिए।

डा० शम्भूनाथ सिंह के गीतों की विशेषताओं मे कल्पना की रंगीन सचित्रता, अनुभूति-ऐन्द्रियता एवं भाषा का सहज तत्समता प्रमुख है। श्री सिंह मे कल्पना का एक सरस एवं चित्रात्मक प्रवाह विद्यमान है। यह कल्पना गीतों मे भाव एव अनुभूति की ऊष्मता से विरहित होकर सक्रिय नहीं हुई है, उसे भावों एव अनुभूतियों का समर्थन प्राप्त होता है। यह कल्पना छोटे-बडे रगीन चित्रों मे प्रस्फुरित होती चलती है और प्रकृति के रूप-ससार मे जाकर वहाँ से मधु-मक्षिका की भाँति सुन्दर-सुन्दर दृश्यों, घटितियों एव रमणीय दशाओं का चयन कर गीतों मे उन्हे नगीनो-सा जडती रहती है। इन चित्रों मे रूप, रस, गन्ध, वर्ण एवं स्पर्श की तन्मात्राओं का रमणीय संगुम्फन होता है। नीचे की पक्ति मे दिन एवं रात को किस प्रकार कुछ चुनी दशाओं मे आकलित किया गया है—

'दिन थे प्रणयहास, निशि प्यार के पाश !'

—('छायालोक')

निम्न प्रकृति-चित्र कवि की सौन्दर्य-सर्जिनी कल्पना का सुन्दर उदाहरण है—

"गगन ने प्रणय-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चल चित्र थे हो न पाये,
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति छन मे।"

(समय की शिला, 'छायालोक')

डा० शम्भुनाथ जी के गीतों की दूसरी विशेषता है ऐन्द्रिय अनुभूति। उनकी चेतना मे ऐन्द्रियता की अनुभूति बड़ी सजग है। रूप, रस, गन्ध, घ्राण आदि से समन्वित इन्द्रियों से वे अपने चतुर्दिक् जगत् की अनुभूति रखते हैं। उनकी कल्पना उनकी ऐन्द्रिय अनुभूतियों के इसी भण्डार से उपादान लेकर गीतों मे उत्तेजक एवं प्रभावक चित्रों की सुन्दर योजना करती है। यह ऐन्द्रियता ही उनकी अभिव्यक्ति को इतनी चित्रात्मकता प्रदान कर सकी है। 'पुरवैया धीरे बहो' जैसे गीत उनकी ऐन्द्रिय चित्रात्मकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'मैं वह खण्डहर जिसके माथे पर अधियाली साँझ की उतर गयी' जैसी पक्तियाँ आँखों के सामने छाए निराशा-भार को खण्डहर पर उतरी सायं अधियाली का प्रभावक चित्र साकार अनुभूत-प्रत्यक्ष कर देता है। शम्भुनाथ सिंह मे दृष्टिचेतना एव गन्ध-चेतना से सम्बन्धित चित्र प्रधानतर है।

भाषा की सहज-सरस तत्समता इनके गीतों की तीसरी प्रमुख विशेषता है। उर्दू के शब्दों का आत्यन्तिक अभाव एवं भाव-सम्पृक्त तथा कल्पना-तरल पदावली का चयन इनके गीतकार को 'बच्चन' के अभिधा-प्रधान एवं चित्रविहीन भाव योजना से सर्वथा भिन्न स्थिति प्रदान कर देती है। 'बच्चन' की भाषा उर्दू के शब्दों का बाहुल्य रखती है। डाक्टर सिंह की भाषा चित्रात्मक, लाक्षणिक एवं रस-मसृण है। तत्समता के साथ क्लिष्टता का सर्वथा अभाव है। अप्रस्तुत विधानों एवं बिम्ब योजनाओं मे कवि नवीनताओं एव मौलिकताओं की वीथियों में गया है। उपमान घिसे-पिटे न होकर अनुभूति के मर्मोद्घाटन की दृष्टि से चुने गये हैं।

श्री शम्भुनाथ सिंह ने 'बच्चन' जी के काव्य में आए मानववादको अधिक स्वस्थ, प्रकृतिस्थ एव कलात्मक रूप मे ग्रहण किया है। बच्चन' को मानव एक ऐसा व्यक्ति है, जो भूखा है, प्यासा है, जिसे समाज से घोर असन्तोष है, क्योंकि समाज के वृद्धजनों को उसकी जवानी अखरती है, उसका स्पष्ट-वाद और सहजग्रहण चुभता है। शम्भूनाथ सिंह के मानव के सामने वैसी प्रतिरोधी दीवारें नहीं हैं अथवा वह उन दीवारों के प्रति उतने तीखे रूप मे प्रतिक्रियमाण नहीं हैं। इसी से श्री सिंह समाज पर व्यग्य नहीं कसते, वरन् अपने प्रीति-प्रवण-भाव को सुव्यवस्थित एव परस्पर सुनियोजित करने के प्रति अधिक सजग दिखलाई पड़ते हैं। 'बच्चन' का प्रणयी साधक, निराशावादी है, अत एक त्राण कुज के निरन्तर शोध मे सलग्न दिखलाई पड़ता है, पर शम्भुनाथ सिंह का प्रेमी प्राप्त को ही अधिक प्राप्य और सुन्दरतर बनाने को समुत्सुक है। कदाचित् इसीलिए उनका प्रेमी प्यास को मधुरतर बनाता और भूख को परिशोधित करता दिखलाई पड़ता है।

श्री शम्भूनाथ सिंह की गीतों मे अटूट आस्था है, किन्तु साथ ही वे गीतों को ही मात्र काव्य विधा मानने वालों मे नहीं हैं; वे चतुर्दश-पदियों एव मुक्त वृत्तो मे अन्य प्रकार की अगीतात्मक अनुभूतियों को बाँधने की उपयोगिता को स्वीकार करते है, जिसे उन्होंने साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान के फरवरी के एक अक मे मुक्त रूप से स्वीकार किया है। ये ध्वनियों और लयों के निरन्तर खोजी और सफल प्रयोक्ता है।

प्रकृति के मनोरम दृश्यों की ओर सहज आकर्षण का होना स्वच्छन्दतावादी कवियों का प्रधान गुण रहा है। शम्भुनाथ सिंह जी मुख्यत. प्रेम और रूप के रससिद्ध गायक रहे हैं, फिर भी प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति सहज आकर्षण जहाँ कहीं भी उनकी कविताओं मे स्पष्ट होकर उभडा है, वहीं हमें गीतों की बजती धुन मे प्रकृति को सजीव सुषमा झाँकती हुई दिखलाई पडती है। प्रिया की टेर और प्रकृति के सम्मोहन के बीच चित्रित कवि का अन्तर्द्वन्द्व द्रष्टव्य है—

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ?
किसका यह छाँह
और किसके ये गीत रे?
बरगद की छाँह

और चैता के गीत रे?
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ?
किसके ये काँटे है
किसके ये पात रे?
बैरी के काँटे है
केले के पात रे।
बिहर रहा हिया, तुम कहाँ?
टेर रही पिया, तुम कहाँ?

(टेर, माध्यम मैं)

काव्य-शिल्प को लेकर इधर जो नवीन प्रयोग किये गये हैं, शंभुनाथ सिंह जी भी उसकी चपेट मे आये है, पर उनका कवि मन की गहराइयों मे न जाने किस स्मृति चिंतन मे खोया रहता है कि उसके लिए प्रकृति के नयनाभिराम दृश्य 'अवान्तर' हैं। कवि ने अपने आस-पास प्रकृति के जिस सौन्दर्य को देखा है, उसके प्रति अपना पूर्ण आकर्षण व्यक्त करते हुए ऐसे वातावरण की सृष्टि की है जिसमे एक अद्भुत वेदना है, टीस है और कुतूहल है। कवि को जो कुछ कहना है, वह उसे नहीं कह पाता, पर प्रकृति के माध्यम से निर्मित वातावरण सब कुछ कह देता है। प्रकृति को आलम्बन रूप मे चित्रित करते हुए कवि ने जिस मानसिक जगत् की शक्तिमत्ता का परिचय एक ही स्थल पर पाठकों को कराया है, वह स्तुत्य है—

ये सभी अवान्तर है··· ··
चम्पे के वन में
ऊँचे भीटों वाला वह पद्म सर,
दुपहर मे झींगुर की तीखी आवाजें
जल पाँखी की डुबकियाँ
धूप में नहाती
जल परियों की क्रीड़ाएँ
और

अनासक्त द्रष्टा दो रीती-रीती आँखें,
ये सभी अवान्तर हैं।
घाटी की चोटी में
गुँथे हुए मेघों के फूल
जल के आवर्तों से घिरी
शिलाखण्डों की नौकाएँ,
पीछे से दबे पाँव आ
सहसा आँख मूँदती नटखट पुरवाई,
झरने के पूछे हुए प्रश्न
और
निरुत्तर अनाहत यायावर मन,
ये सभी अवान्तर है।
(अवान्तरता)

शम्भुनाथ सिंह की इस प्रकार की रचनाओं मे कलात्मकता के दर्शन तो होते ही हैं, साथ ही साथ साकेतिकता का जो सफल निर्वाह पाया जाता है, उससे एक ऐसे रोमानी वातावरण की सृष्टि हुई है कि जिससे अपने टूटते संस्कारों के साथ पाठक एक अजब ताजगी एवं उत्फुल्लता का अनुभव करने लग जाता है-

बीत गये मन वे दिन बीत गये!
रंगों के क्षण अनगिन बीत गए!
फूलों की हथकड़ियाँ टूट गइ,
कोसों पीछे बन की राहों पर—
चन्दन की गन्ध कहीं छूट गई!
वह बूझी अनबूझी बात गई,
वे गाये—अनगाए गीत गए!

× × ×

दीख रही है कोई राह नहीं,
इस उजड़ी बेगानी बस्ती में—
रहने की अब कोई चाह नहीं ?
पथ के पहिचाने पद हार गए।
पद के अनजाने पथ जीत गए।
(बीत गए मन !)

इस प्रकार शम्भुनाथ सिंह की कविताओं मे स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा मे हुए परिवर्तनों का क्रम भी देखा जा सकता है।

श्यामनन्दन किशोर

डा० श्यामनन्दन किशोर उत्तर बिहार के प्रसिद्ध गीतकार हैं। नेपाली, जानकीवल्लभ शास्त्री, आरसी प्रसाद सिंह और राजेन्द्र प्रसाद सिंह जैसे गीतकारों की परम्परा को डा० किशोर ने प्रसिद्धि के शिखर तक पहुँचाया है। 'जवानी और जमाना' शीर्षक कविता से डा० किशोर ने कवि सम्मेलनों में ख्याति अर्जित की। इसी कविता मे कवि के सघर्ष और अन्तर्विरोध मूर्त हुए थे। 'जमाना शिथिल नसों का खून, जवानी—ताकत है भरपूर' जैसी पक्तियों से स्पष्ट हो गया था कि कवि के द्वन्द्व समकालीन जीवनमूल्यों से जुडे हुए है। अपने गीतों के माध्यम से कवि ने समकालीनता और सम-सामयिकता के मिथ को तोड़ने का प्रयत्न किया था।

डा० किशोर मुख्यतः प्रेम और मानवीय भावनाओं के कवि हैं। अपनी सवेदना मे वे डा० रामकुमार वर्मा की गीत पद्धति से जुडे हुए हैं। वस्तुतः बहुत दूर तक डा० किशोर छायावादी ही है लेकिन अपनी मौलिक प्रतिभा, गीतात्मकता, भाषाविषयक सरलता और नयेपन के कारण ये छाया-वादोत्तर गीतकारों तक पहुँचते हैं। छायावादोत्तर गीतकारों में एक तरह का व्यक्तिवाद अतिरजना की सीमा तक पाया जाता है। डा० किशोर व्यक्तिवाद की अतिरजना से मुक्त होते हुए बृहत्तर मानवीय अनुभूतियों का सृजन कर लेते है। उनकी प्रवृत्ति निर्बन्ध से प्रबन्ध की ओर जाती है। इसीलिए वे उद्दाम यौवन की निर्बन्धता को संत सवेदना तक ले जाने मे सफल होते दिखाई पडते हैं। 'सूरज नया पुरानी धरती' में गीत और लय की अपनी पुरानी जमीन को उन्होंने नवोन्मेष की प्रतिभा और दृष्टि से बदल लिया हैं।

'शेफालिका', 'विभावरी', 'जवानी और जमाना', 'कमल, बन्दूक और सूरजमुखी' तथा 'ज्वारभाटा' में उनकी गीतात्मकता के अनेक आयाम निर्मित हुए है—

'जिन्दगी तो सफर है मगर रात का' से

१. सब किसीको विपद ढेर का ढेर है
अश्रु का मुस्कराना कि अन्धेर है
आज दुनिया की महफिल में जो सुन रहे,
जिन्दगी है गजल, दर्द तो शेर है।

२. वाद्य यंत्र न दृष्टि-पथ पर हों
मधुर झंकार लगती और भी
विरह में मधुवन सरीखे दीखते ज्यों
हैं क्षणिक सहवास वाले ठौर भी !

३. पत्थर जल पर तर जाता है
दंश सर्प का झड़ जाता है,
किन्तु डँसा जो गया अमृत से
उसके विष को कौन उतारे !
कैसे हाल लिखूँ अपना रे !

४. वह भी क्या कवि नहीं नचाती
शब्द-शब्द को, जिसकी तड़पन,
वह भी क्या छवि, जिस पर होता
नहीं मुग्ध नयनों का नर्तन !

-- तरुण जीवन की मोहानुभूतियाँ धीरे-धीरे इन संग्रहों की रचनाओं मे विशद क्षितिज प्राप्त करती चली गई हैं। यह विशदता कवि के निरन्तर पक्व होने के क्रम से बँधी है। वे धीरे-धीरे अपनी दुनिया से बड़ी दुनिया मे आते गये हैं। उनके सम्बोधनों की प्रिया अपनी से आगे बढ़कर सबकी होती चली गई है। वे बटोरने सहेजने की रागात्मकता को वितरित करने की महिमा देने में सफल होते गये है। इसी स्वर पर उनकी रचना

सार्थक और सोद्देश्य हो पायी है। उनके कवि व्यक्तित्व की सफलता का रहस्य भी यही है। उनकी काव्य-यात्रा मे वैयक्तिकता का सामाजिकता तक जो विकास हुआ है उसे उनके शब्दों मे ही लक्ष्य किया जा सकता है —

यह दूरी का राज कि लगता
मिलते धरती और गगन हैं
क्षितिज अधर पर लगता जैसे—
मिलते दो-दो प्राण मगन हैं

यह दुर्भाग्य जगत क्या समझे, अपना ही घर बना प्रवास
कौन समझता है दुनिया में कितना महँगा है उल्लास ॥

इस रचना मे विराट् क्षितिज को मिलन की भूमिका में उदात्तीकृत किया गया है। अपना घर प्रवास बनाकर ही महँगा उल्लास प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः यह एक प्रकार का संतानुभूति है।

डा० किशोर प्रतिभाशाली और भाग्यशाली कवि हैं। अपने जीवन में ही उन्होने अपनी रचना का मूल्य प्राप्त कर लिया है। उत्तर बिहार में पोद्दार रामावतार अरुण के बाद 'पद्मश्री' का राजसम्मान उन्हे ही मिला है। वे गीत से प्रबन्ध की ओर बढ़ने वाले कवि हैं। आजकल 'मारुतिनन्दन' महाकाव्य की रचना में सलग्न हैं। डा० किशोर आलोचक, वक्ता और पदस्थ अध्यापक तथा सम्प्रति बिहार विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।



न रुकने वाला प्रवाह

सुविधा की दृष्टि से मैंने शीर्षकों के अन्तर्गत हिन्दी काव्य की स्वच्छन्द धारा को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है, पर इसमे जो कभी न रुकने वाला प्रवाह देखने को मिला है उससे तो यह स्पष्ट होता है कि इसके विकास की सभावनाएँ अभी बनी हुई है। न जाने कितने कवि आज भी इसकी समृद्धि मे लगे हुए हैं जिनका उल्लेख स्थान एव समयाभाव के कारण प्रस्तुत पुस्तक मे नहीं किया जा सका।

छायावादोत्तर मानवतावादी गीत-धारा के साथ ही श्री जानकीवल्लभ शास्त्री और कुछ बाद हंसकुमार तिवारी की भी रचनाएँ सामने आईं। ये कवि भी गीतात्मक ही हैं, यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र प्रगीत और विषय-परक रचनाएँ ही की है। श्री गिरिजाकुमारमाथुर ने शुद्ध गीत और मुक्तक दोनों ही प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। प्रयोग एवं बौद्धिकता से मुक्त 'माथुर' जी के आरभिक गीतों की सबसे बडी विशेषता उनकी संगीतात्मकता है। विश्वनाथ लाल 'शैदा' के कवि मे प्रतिभा का अद्भुत समन्वय हुआ है। हिन्दी काव्य मे जिस 'हालावाद' का एक बार बडा शोर उठा था और उसके नाम पर नग्न स्थूलता का चित्रण चल पड़ा था, उस ओर भी 'शैदा जी' की दृष्टि गई थी, पर वे अपने स्वभाव एव दार्शनिक विचारों के कारण प्रवाह मे आकर भी प्रबन्ध काव्यों की रचना की ओर लौट गए।

गिरधर गोपाल, विजयदेव नारायण शाही, रमानाथ अवस्थी, वीरेन्द्र-मिश्र, धर्मवीरभारती, नीरज, अरुण और किशोर का उल्लेख इसी क्रम मे किया जाता है। नीरज के रोमानी गीतों ने इधर लोगों को अपनी ओर काफी आकर्षित किया है। समसामयिक गीतकारों मे 'नीरज' मे अपेक्षाकृत स्थूल ऐहिकता और नग्नता अधिक है, पर भावों मे इतनी स्पष्टता है कि श्रोता अथवा पाठक तत्काल कवि के अभिप्रेत भावों तक पहुँच जाता है। रूप और प्यार का गायक कवि भावों मे डूबता अवश्य है, पर भावी आशका की डोर उसे ऊपर से थामे रहती है—

रूप की इस काँपती लौ के तले
यह हमारा प्यार कितने दिन चलेगा ?

(बादर बरस गयो)

और वह अपनी रूप गर्विता प्रियतमा को सचेत करने लग जाता है—

मत करो प्रिय ! रूप का अभिमान
कब्र है धरती, कफन है आसमान।

(बादर बरस गयो)

जिन कविताओं मे उद्‌बोधन का स्वर प्रधान हो गया है 'नीरज' प्रगति की ओर आस्थावान दिखलाई पड़ने लग जाते हैं—

रुके न जब तक साँस, न पथ पर रुकना थके बटोही !

(बादर बरस गयो)

रूप और वशी के गायक रवीन्द्र 'भ्रमर' की सुरीली तान जड़-चेतन को आन्दोलित करती हुई 'सारे गाँव के जग जाने' का अन्देशा पैदा करती है। जब उनके गीतों मे 'हरि सिंगार के फूल' झरने लगते है तो केवल बयार के ही अग नहीं सिहरते बल्कि औरों के भी सिहरने लग जाते हैं। जब वे यह कहने लग जाते है—

हेरतीं कस्तूरी का फूल, हिरना-आँखें बड़ी-बड़ी।
चतुर्दिक व्याप रही मधुगंध, कसा मन छलनाओ के छंद,
दंश का कहीं न कुछ आभास, बस जहर चढ़ता घड़ी-घड़ी !

(रवीन्द्र भ्रमर के गीत)

तो केवल उससे समाज में व्याप्त विषमता का ही अर्थ नहीं लेना चाहिए बल्कि उसका अर्थ काव्य-विधा से भी है क्योंकि हम देखते हैं कि उनके गीतों का स्वर स्थिर भी नहीं हो पाया था कि वे प्रयोगों की चपेट में आ गये।

उदयशंकर श्रीवास्तव कविता को जिन्दगी के लिए आमन्त्रित करते हैं—

जिन्दगी,
बेहया, बेशर्म जिन्दगी !
घृणा की कालौंच में
लिपटी हुई, लूट कर फिर लूट से
चिपकी हुई, बौरायी जिन्दगी
कुत्सा की सहेली, पाप की पहेली,
बदसूरत, मैली जिन्दगी ! इधर आ—
ताड़-सा हाथ उठाये मैं एक उम्मीदवार·· ··· ·
आ !
मुझे जिये जा !!

माध्यम (वर्ष ५ : अंक २)

प्रबन्ध काव्य की क्षमता रखने वाले कवि भी स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के प्रभाव से अपने को बचा नहीं सके हैं। 'छत्रसाल' महाकाव्य के प्रणेता लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' इसी श्रेणी के कवि है। उनके 'शाद्वल' नामक कविता संग्रह मे स्वच्छन्दतावादी काव्य के सुन्दर उदाहरण भरे पडे है। 'प्रवासी' जी जब रूढिग्रस्त समाज से निराश होते है तो उस पर एक उपेक्षा भरी दृष्टि डालते हुए अपने निश्चय एवं आत्मविश्वास को ही व्यक्त करते हैं—

तुम चलो लीक से अपने,
मैं वन वन फिरूँ अकेला,
पागलपन का सौदा है,
पागलपन का है मेला !

(निवेदन)

'अमर अभिलाषा' शीर्षक में लिखी हुई कविता में 'प्रवासी-जी' ने जीवन की व्याख्या की है और 'अन्तर्वेदना' मे वे कविवर 'पंत' की रहस्यात्मकता का अनुगमन करते जान पड़ते हैं पर लौकिकता के भाव उनमे स्पष्ट हैं। इसी प्रकार 'समाधि की घास' से भी 'प्रवासी जी' के हृदय की कोई छिपी हुई विषम वेदना प्रकट होने के लिये मार्ग ढूँढ़ती जान पड़ती है।

स्वच्छन्दतावाद की दृष्टि से विचार करने पर कुछ ऐसे कवि भी उसकी सीमा मे आ जाते हैं जिन्हे हिन्दी की आलोचना परम्परा मे विभिन्न वादों की सीमा रेखा मे बाँध दिया गया है। गीतों का ढाँचा न होने पर भी 'अज्ञेय' जी की कुछ रचनाओं का भावताप और आतरिक संगीतात्मकता बड़ी सवेदनीय और गीतात्मक है। व्यक्तिवादिता और अप्रस्तुतों तथा प्रतीकों की नवीनता के आग्रह ने अवश्य ही 'अज्ञेय' जी की गीतात्मकता को एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने मे बाधा पहुँचाई है, फिर भी 'अज्ञेय'जी के समान परिष्कृत व्यक्ति-चेतना और वेदनापूर्ण सवेदनीयता आधुनिक युग के बहुत कम कवियो मे पाई जाती है। श्री केदारनाथ अग्रवाल की स्वच्छन्द गीतात्मकता प्रगतिवाद के अखाडे मे भी सूख नही सकी—

"माँझी न बजाओ वंशी।
मेरा मन डोलता॥"

जैसे गीत उनकी भावरनात सहज उन्मेषशीलता के पुष्ट प्रमाण हैं। त्रिलोचन शास्त्री, शमशेर बहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र व धर्मवीर-भारती प्रयोग और प्रगति के बिल्लो से न भडकने वाले आलोचकों को निकट जाने पर स्वच्छन्दतावाद से दूर न मिलेंगे।

'भारती' की आरम्भिक रचनाओं मे एक सुकोमल कल्पना और भाषा की उर्दू भरी मिठास मुख्य है। शमशेर बहादुर की रचनाओ मे भावों की प्रगाढ़ आन्तरिकता होती है। भवानीप्रसाद मिश्र मे अभिव्यक्ति की अनुपम सरलता है, यद्यपि तुकों का मोह कहीं-कहीं खटकता है। 'महामानव' के लेखक ठाकुर प्रसाद सिह 'अग्रदूत' एवं रामदरश मिश्र की रचनाओं मे लोक-गीतों के स्पर्श सरलता और भावुकता को बढ़ाने वाले हैं। श्री रूपनारायण-त्रिपाठी के 'धरती के स्वर', 'माटी की मुस्कान' मे तो बदले किन्तु कवि की सरल भावुकता गीतों मे मौलिक चिन्तन के साथ उतरी है। इनकी रचनाओं में अधिकतर जन-जीवन की आन्तरिक मनोव्यथा मुखरित हुई है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार इन्होंने परिपाटी के निर्वाह मे मौलिक मोड़

प्रस्तुत किया है। कवि को यदि विश्वास का सहारा मिल जाय तो वह असम्भव को सम्भव कर दिखाने का दम भर सकता है—

मैं नया मीत लाया तुम्हारे लिये
हाँ, नया गीत लाया तुम्हारे लिये।
साथियों चीर कर रात की कालिमा
मै सुबह जीत लाया तुम्हारे लिये।

—रूपनारायण त्रिपाठी (माटी की मुस्कान)

बिहार के केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', मोहनलाल महतो 'वियोगी' की आधुनिकतम रचनाएँ जहाँ स्वच्छन्दतावाद के द्वितीय उत्थान मे पली है वहाँ उन पर नवीन वातावरण की चेतना भी स्पष्टत प्रतिफलित हुई है।

श्री महेन्द्र शकर जो पहले 'अधीर बी० ए०' के नाम से लिखते थे एक सुलझे भावों के गीतकार है, जिनमे ताजगी और नवीनता एक साथ मिल जायगी। इनके गीतों मे बिम्बचित्रों की स्वस्थता और स्पष्टता, लोकगीतो की धुनों और भावभूमियों के सस्पर्श मिल जायँगे जिससे उनमे सरसता, लयात्मकता और भावसप्रेषणीयता का सुन्दर सयोग हुआ है।

जीवन की अनुभूतियों के आधार पर लिखे मुक्तकों मे मानवीय भावों को जो सहज अभिव्यक्ति महेन्द्र शकर जी ने दी है उससे उनकी सूक्ष्म दृष्टि एवं नि सकोच स्वच्छन्द अभिव्यक्ति का परिचय मिल जाता है जो कवि के यश को स्थिरता प्रदान करने के लिये पर्याप्त हैं :

देखा है मंजिल से राह शुरू होती है,
पहले संकोच से ही चाह शुरू होती है।
पार जाना है तो मँझधार आजमा लेना
दोस्त, किनारे से ही थाह शुरू होती है।

(महेन्द्र शंकर अधीर)

श्री चन्द्रदेव सिंह रोमानी धरातल के एक सक्षम कवि हैं। पिछले वर्षों में इनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं जिनमे 'स्नेह-सुरभि', 'साँसों के फूल' की भाषा छायावादी प्रभाव से मंडित तो है लेकिन इनकी भाव-भूमि सर्वथा यथार्थवादी है। इनकी कविताओं मे विरह-मिलन के मार्मिक प्रसंगों की अनुभूतियों का सहज चित्रण सुन्दर बन पड़ा है।

इस सन्दर्भ मे 'अनगाया सावन' उल्लेख्य है .

अनगाया बीत गया सावन इस वर्ष भी।
अनचाहे खिड़की से झाँकना पड़ा रह-रह
पानी के पन्नों पर नन्हा सा नाम एक
लिखना पड़ा रह-रह
बाँचना पड़ा रह-रह
उतरे बादल मेरे आँगन इस वर्ष भी।

× × ×

पलकों पर बिजली धर होठों पर इन्द्रधनुष
आँचल में बाँधे दो भरे-भरे से लोचन
और भी घिरे क्या कहीं ये घन, इस वर्ष भी ?

श्री दिवाकर 'उद्गार' के प्रकाशन के साथ सामने आये। उन्होंने दिग्भ्रात-भौतिकता के प्रारम्भिक ज्वारो की अनुभूति पाकर शुरू मे विद्रोह के स्वर मे गाया—

कठिन राह है किंतु विश्वास अपना,
बढ़े है चरण तो बढ़े ही रहेंगे।

इसके साथ ही विश्व-चेतना के प्रति सजग रहते हुए सदैव उन्होंने अपने को विश्व मे देखने का अभ्यास भी किया है। 'ससार हमारा है' रचना इस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है।

'अर्चना के गीत' नामक संग्रह मे कुछ ऐसी कविताएँ संग्रहीत है जिनमे कवि **शिवसहाय पाठक** की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ मुखरित हुई है। भावों का वेग जब बढ़ जाता है तब कवि को वाणी नहीं मिलती और जिज्ञासुओं को एक इशारे से बतला देता है कि वे प्रकृति के गतिमान तत्वों से उसके मन की थाह लगा ले ·

मेरे मन की बात हर लहर से पूछो,
मेरे तन की बात किनारों से पूछो।
उनके उत्तर से भी सन्तोष न होता हो,
तो मेरे हिय की बात सितारों से पूछो।

इसी प्रकार 'बादलों के पार से·· ' तथा 'सर्जन-गीत' नामक कविताओं में कवि का विश्वास और उसकी मान्यताएँ मुखर हो उठी हैं।

चन्द्रबली राय 'नवल' के प्यार की राह अनोखी है, जिनमे ·

प्यार के पथ पर मूकवाणी रही
प्राण जलते रहे, दृग पिघलते गये।

× × ×

इसलिये शून्य पथ पर, जगत के चरण
लड़खड़ाते रहे, किन्तु चलते गये।

(प्राण-परिमल)

विद्याधर 'मंजु' की 'युगों तक तोड न पाऊँ' कविता मे भी स्वच्छन्दतावादी काव्य के तत्व मिलते हैं और भूलेश्वर 'पथी' के रोमानी गीतो के संग्रह 'विपंची' मे भी इस काव्य धारा का सफल निर्वाह हुआ है।

हिन्दी कविता का जो बहुमुखी विकास हुआ है, उससे कुछ लोगों को मूल्याकन मे कठिनाई हो सकती है क्योंकि एक ही कवि मे एकाधिक प्रवृत्तियों के दर्शन भी हो जाते हैं। डॉ० महेन्द्र भटनागर और डॉ० वचनदेव कुमार का नाम इस सन्दर्भ मे लिया जा सकता है। डॉ० वचनदेव कुमार के 'ईहामृग' और 'ओ अजन्मा सुनो' दोनों संग्रहों मे इस प्रवृत्ति के उदाहरण मिलते हैं।

श्याम सिंह शशि ने सामाजिक विसगतियों को कविता के माध्यम से अभिव्यंजित कर अनुभूत्यात्मक सचेतना का यथार्थ परिचय दिया है। उन्होंने कविता के माध्यम से जीवन की असगतियों को नंगा कर सुप्त जन-मानस को आकर्षित करना चाहा है। 'लहू का फूल' कविता-संग्रह मे सैन्य-जीवन की खासी सवेदना को शैल्पिक शब्दों मे ऐंठने का सफल प्रयास किया गया है। कवि ने जीवन मे पीडा और व्यथा के बहुत बड़े भाग को स्वीकार करने के साथ ही उसमे छिपे करोड़ों असहायों (जनता) की आग को भी पहचाना है। जहन पर तमाचा मारने वाले गहरे अनुभव को पकडने की कोशिश ही उनकी काव्य-साधना है। उन्होंने काव्य-संग्रह 'शिलानगर में' सामाजिक जीवन मे व्याप्त असन्तोष एवं दर्द को पहचानने का सशक्त परन्तु वैचारिक धरातल प्रदान किया है।

हर एक तरफ से हर किस्म के साँप ने इतना डसा है।
नाग काले का जहर भी अब असर करता नहीं है।।

यहाँ साँप परिस्थिति-वैविध्य का प्रतीक है। कवि ने नये प्रयोगों के माध्यम से बिखरे खयालों को स्वर प्रदान किया है। 'महानगर मे कठफोड़वा' आदि कविताएँ नये प्रयोग और मूल्य की धधकती कड़ियाँ हैं। 'शिलानगर' महानगर और वैज्ञानिक सभ्यता का प्रतीक है जिसके लिए बेरोजगारी, मिलावट, भ्रष्टाचार, गरीबी, दुःख आदि अनजाने तथ्य नहीं है। 'शिला-नगर' फिर भी पत्थर का पत्थर ही बना हुआ है किन्तु कवि की चेतना दर्द से बोझिल होने के बाद भी जाग्रत है—

मुझे अब भीड़ में खोया मामूली मनुज ही रहने दो।
मुझे कुछ और दिन जी लेने दो।

कवि ने 'होरी हँस पडा' कविता के माध्यम से आम आदमी को प्रतीकित किया है।

केदारनाथ कोमल—की वैयक्तिक सवेदना सामाजिक सवेदना की गरमाहट है। कवि ने 'चौराहे पर' कविता सग्रह मे व्यापक परिवेश को आत्मसात् करना चाहा है। जन-जीवन के प्रति अचूक निष्ठा कवि की कविता का फार्मूला है। कवि ने 'लोग' कविता मे परिवर्तित परिवेश के रगमच पर अभिनय करते व्यक्तियों को इस प्रकार मूर्तित किया है, यथा—

आँखों में आँसू को तरह अटके हुए लोग।
दुखों की आग में सुलगते हुए।
वक्त की भट्टी में, इस्पात की तरह पिघलते हुए लोग !

इन्होंने 'दीवारें' कविता के माध्यम से अवरुद्ध और ह्रासशील युग का नक्शा भी उतारा है। उनकी 'आस्था', 'बेनाम सा दर्द', और 'पत्थर की मूर्ति' कविता मे तीव्र संवेदना एवं कसमसाहट है। उनका 'कोहरे से निकलते हुए' नामक दूसरा कविता-सग्रह १९७५ में प्रकाशित हुआ है। इस कविता-सग्रह मे कवि ने यात्रिक स्थितियों मे हर किस्म के बदलते सदर्भों का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यथा 'प्यार' कविता का एक चित्र द्रष्टव्य है—

अब जमाने के साथ, प्यार भी बदल गया है।
और उसने साँप का रूप धारण कर लिया है।
इसलिए। प्यार से डर।'

महानगर की मशीनरी जिन्दगी के कारण समाज में जटिलता एवं विद्रूपता को बढ़ावा मिला है। विज्ञान की भाग दौड़ में मानव जीवन की शान्ति एवं सुव्यवस्था मे हलचल पैदा हुई है। कवि ने 'कोहरे' को वैज्ञानिक जीवन-विधान का प्रतीक माना है। कवि ने उपमानों के प्रयोग मे जिस मँजाव एवं तराश का अनुभव उपस्थित किया है, वह सशक्त बन पडा है। जैसे-'दही की टिकिया सा चाँद', महँगाई। निम्नवर्गीय क्लर्क की राशन के लिए—'रोती लुगाई', आदि उन्होंने 'सवालिया निशान' कविता के ऑकड़ों से विसंगतियों को जज्ब किया है। उन्होंने परिवेश के अधेरे के बीच आदमी को आदमी के रूप मे परखने की तमीज प्रदान की है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'चीजों को देखकर' नामक प्रथम कविता-संग्रह में बदलते सदर्भों मे मूल्यों को टटोलने का प्रयत्न किया है। उनका दूसरा कविता-सग्रह 'साथ चलते हुए' सन् १९७६ में प्रकाशित हुआ है, जिसमें कवि ने खौफनाक परिस्थितियों मे जीने वाले आदमी को उपस्थित किया है। कवि ने बंगला और वियतनाम जैसे उभरते जनतान्त्रिक देशों के व्याज से मानव मूल्यों को आत्मसात् करने का प्रयास किया है। कवि ने मानवीय पीड़ा को कविता मे उतारा है। उन्होंने जीवन की मार्मिकता को विद्रोही ताकतों के खिलाफ प्रस्तुत किया है। कवि ने 'लिखने का 'अर्थ' कविता में प्रेमचन्द, निराला, मुक्तिबोध, राजकमल, धूमिल को इंगित कर सामाजिक अन्याय को दबोचने का साहस प्रकट किया है। उनकी कल की लड़ाई के लिए कविता में शोषकों से जूझने . चुनौती दी गयी है यथा—

'''पीड़ा से मुक्ति के लिए, सहनी ही होगी पीड़ा
लड़ाई से मुक्ति के लिए

कवि का काव्य-मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मानवता का धधकता दृष्टिकोण है।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा अनेक भंगिमाओं में आगे बढ़ रही है।

